परिचय

१. तत्वार्थसूत्रकार उमास्वाति

जन्म-वंश और विद्या-वंश इस तरह वंश दो प्रकार का होता है[1]। जब किसी के जन्म के इतिहास पर विचार करना होता है तब उसके साथ रक्त (रुधिर) का सम्बन्ध रखने वाले उसके पिता, पितामह, प्रपितामह, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परम्परा का विचार करना पड़ता है; और जब किसी के विद्या—शास्त्र का इतिहास जानना होता है तब उस शास्त्र-रचयिता के साथ विद्या का सम्बन्ध रखने वाले गुरु, प्रगुरु तथा शिष्य, प्रशिष्य आदि गुरु-शिष्य-भाव-वाली परम्परा का विचार करना आवश्यक होता है।

'तत्त्वार्थ' भारतीय दार्शनिक विद्या की जैन-शाखा का एक शास्त्र है; अतः इसका इतिहास विद्या-वंश की परम्परा में आता है। तत्त्वार्थ में उसके कर्ता ने जिस विद्या का समावेश किया है उसे उन्होंने गुरु परम्परा से प्राप्त किया है और उसे विशेष उपयोगी बनाने के उद्देश्य से अपनी

---

१ ये दोनों वंश आर्य-परम्परा और आर्य-साहित्य में हजारों वर्षों से प्रसिद्ध हैं। 'जन्म-वंश' योनि-सम्बन्ध की प्रधानता के कारण गृहस्थाश्रम सापेक्ष है और 'विद्या-वंश' विद्या-सम्बन्ध की प्रधानता के कारण गुरुपरम्परा-सापेक्ष है। इन दोनों वंशों का उल्लेख पाणिनीय व्याकरणसूत्र में तो स्पष्ट ही है। यथा—"**विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ्**" ४. ३. ७७। इसलिए इन दो वंशों की स्पष्ट कल्पना पाणिनि से भी बहुत पुरानी है।

दृष्टि के अनुसार अमुक रूप में व्यवस्थित की हैं। उन्होंने उस विद्या का तत्त्वार्थ शास्त्र में जो स्वरूप व्यवस्थित किया वह बादमें ज्यों का त्यों नहीं रहा। इसके अभ्यासियों एवं टीकाकारों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार अपने अपने समय में प्रचलित विचारधाराओं में से कितना ही लेकर उस विद्या में सुधार, वृद्धि, पूर्ति और विकास किया है। अतएव प्रस्तुत परिचय में तत्त्वार्थ और इसके कर्त्ता के अतिरिक्त इसकी वंश-लता रूप से विस्तीर्ण टीकाओं तथा उन टीकाओं के कर्ताओं का भी परिचय कराना आवश्यक है।

तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र के प्रणेता जैनसमाज के सभी सम्प्रदायों में प्रारंभ से आज तक समान रूप से माने जाते हैं। दिगम्बर उन्हें अपनी शाखा में और श्वेताम्बर अपनी शाखा में मानते आये हैं। दिगम्बर परम्परा में ये 'उमास्वामी' और 'उमास्वाति' इन नामों से प्रसिद्ध हैं; जब कि श्वेताम्बर परम्परा में केवल 'उमास्वाति' नाम ही प्रसिद्ध है। इस समय दिगम्बर-परम्परा में कोई कोई तत्त्वार्थशास्त्र-प्रणेता उमास्वाति को कुन्दकुन्द के शिष्य रूप से समझते हैं[1] और श्वेताम्बरों में थोड़ी बहुत ऐसी मान्यता दिखलाई पड़ती है कि प्रज्ञापना सूत्र के कर्त्ता श्यामाचार्य के गुरु हारितगोत्रीय 'स्वाति' ही तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति हैं[2]। ये दोनों प्रकार की मान्यताएँ कोई प्रमाणभूत आधार न रखकर पीछे से प्रचलित हुई जान पड़ती हैं; क्योंकि दशवीं शताब्दी से पहले के किसी भी विश्वस्त दिगम्बर-ग्रंथ, पट्टावली या शिला-लेख आदि में ऐसा उल्लेख दिखाई नहीं देता कि जिसमें उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता

---

१ देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १४४ से आगे।

२ "आर्यमहागिरेस्तु शिष्यौ बहुल-बलिस्सहौ यमल-भ्रातरौ तत्र बलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः, तत्त्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव संभाव्यन्ते। तच्छिष्यः श्यामाचार्यः प्रज्ञापनाकृत् श्रीवीरात् षट्सप्तत्यधिकशतत्रये (३७६) स्वर्गभाक्।"—धर्मसागरीय पट्टावली।

कहा हो और उन्हीं उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य भी कहा हो[1]। इस आशय वाले जो उल्लेख दिगम्बर साहित्य में अब तक देखने में आये हैं वे सभी दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के पीछे के हैं और उनका कोई भी प्राचीन विश्वस्त आधार नजर नहीं आता। खास विचारने जैसी बात तो यह है कि पाँचवीं से नववीं शताब्दी तक होने वाले तत्त्वार्थसूत्र के प्रसिद्ध और महान् दिगम्बर व्याख्याकारों ने अपनी अपनी व्याख्या में कहीं भी स्पष्टरूप से तत्त्वार्थसूत्र को उमास्वाति का रचा हुआ नहीं कहा है और न इन उमास्वाति को दिगम्बर, श्वेताम्बर या तटस्थ रूप से उल्लिखित किया है[2]। जब कि श्वेताम्बर साहित्य में वि० आठवीं शताब्दी के ग्रंथों में तत्त्वार्थसूत्र के वाचक उमास्वाति-रचित होने के विश्वस्त उल्लेख मिलते हैं और इन ग्रंथकारों की दृष्टि में उमास्वाति

---

१ श्रवणबेलगोल के जिन जिन शिलालेखों में उमास्वाति को तत्त्वार्थ-रचयिता और कुन्दकुन्द का शिष्य कहा है वे सभी शिलालेख विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के बाद के हैं। देखो, माणिकचन्द ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित **'जैन शिलालेख संग्रह'** लेख नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५० और १०८।

नन्दिसंघ की **पट्टावली** भी बहुत ही अपूर्ण तथा ऐतिहासिक तथ्य-विहीन होने से उसके ऊपर आधार नहीं रक्खा जा सकता, ऐसा पं० जुगल-किशोर जी ने अपनी परीक्षा में सिद्ध किया है। देखो, **'स्वामी समन्तभद्र'** पृष्ठ १४४ से। इससे इस **पट्टावली** तथा ऐसी ही दूसरी पट्टावलियों में भी मिलने वाले उल्लेखों को दूसरे विश्वस्त प्रमाणों के आधार के बिना ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता।

"तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥"

यह तथा इसी आशय के अन्य गद्य-पद्यमय दिगम्बर अवतरण किसी भी विश्वस्त तथा प्राचीन आधार से रहित हैं, इससे इन्हें भी अन्तिम आधार के तौर पर नहीं रक्खा जा सकता।

२ विशेष स्पष्टीकरण के लिये देखो इसी **परिचय** के अन्त में **'परिशिष्ट'**।

श्वेताम्बर थे ऐसा मालूम होता है[1]; परन्तु १६-१७ वीं शताब्दी के धर्मसागर की तपागच्छ की 'पट्टावली' को यदि अलग कर दिया जाय तो किसी भी श्वेताम्बर ग्रंथ या पट्टावली आदि में ऐसा निर्देश तक नहीं पाया जाता कि तत्त्वार्थसूत्र-प्रणेता वाचक उमास्वाति श्यामाचार्य के गुरु थे।

वाचक उमास्वातिकी स्वयं की रची हुई, अपने कुल तथा गुरु-परम्परा को दर्शाने वाली, लेशमात्र संदेह से रहित तत्त्वार्थसूत्र की प्रशस्ति के आज तक विद्यमान होते हुए भी इतनी भ्रांति कैसे प्रचलित हुई होगी, यह एक आश्चर्यजनक समस्या है। परन्तु जब पूर्वकालीन साम्प्रदायिक व्यामोह और ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव की ओर ध्यान जाता है तब यह समस्या हल हो जाती है। वा० उमास्वाति के इतिहास-विषय में उनकी खुद की रची हुई छोटी-सी प्रशस्ति ही एक सच्चा साधन है। उनके नाम के साथ जोड़ी हुई दूसरी बहुत सी हकीक़तें[2] दोनों सम्प्रदायों की परम्परा में चली आती हैं, परन्तु अभी परीक्षणीय होने से उन सबको अक्षरशः ठीक नहीं माना जा सकता। उनकी वह संक्षिप्त प्रशस्ति और उसका सार इस प्रकार है:—

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥१॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥२॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्ध्यम् ॥३॥
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।
दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥४॥

---

१ देखो, प्रस्तुत परिचय पृ० १६ टिप्पण २।

२ जैसे कि दिगम्बरों में गृध्रपिच्छ आदि तथा श्वेताम्बरों में पांचसौ ग्रन्थों के रचयिता आदि।

इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

" जिनके दीक्षागुरु ग्यारह अंग के धारक 'घोषनन्दि' श्रमण थे और प्रगुरु–गुरु के गुरु–वाचकमुख्य 'शिवश्री' थे ; वाचना से अर्थात् विद्याग्रहण की दृष्टि से जिसके गुरु 'मूल' नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक 'मुण्डपाद' थे; जो गोत्र से 'कौभीषणि' थे; और जो 'स्वाति' पिता और 'वात्सी' माता के पुत्र थे; जिनका जन्म 'न्यग्रोधिका' में हुआ था और जो 'उच्चनागर[1]' शाखा के थे, उन उमास्वाति वाचक ने गुरु परम्परा से

---

१ 'उच्चैर्नागर' शाखाका प्राकृत 'उच्चानागर' नाम मिलता है। यह शाखा किसी ग्राम या शहर के नाम पर से प्रसिद्ध हुई होगी ऐसा तो स्पष्ट दीख पड़ता है। परन्तु यह ग्राम कौनसा नगर होगा यह निश्चित करना कठिन है। हिन्दुस्तान के अनेक भागों में नगर नाम के या जिनके अन्त में नगर नाम हो ऐसे नामों के अनेक शहर तथा ग्राम हैं। 'वडनगर' यह गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। वड का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा का अर्थ कदाचित् ऊँचा भी होता है। लेकिन वडनगर नाम भी पूर्व देश के उस अथवा उस जैसे नाम के शहर पर से गुजरात में लिया गया है, ऐसी भी विद्वानों की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखा का वडनगर के साथ ही सम्बन्ध है ऐसा जोर देकर नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय, जिस काल में उच्चनागर शाखा उत्पन्न हुई उस काल में वड-नगर था कि नहीं और था तो उसके साथ जैनों का सम्बन्ध कितना था यह भी विचारने की बात है। उच्चनागर शाखा के उद्भव समय का जैनाचार्यों का मुख्य विहार गंगा-यमुना की तरफ होने के प्रमाण मिलते हैं। इससे वडनगर के साथ उच्चनागर शाखा का सम्बन्ध होने की कल्पना सबल नहीं रहती। कनिंघम इस विषय में लिखता है कि " यह भौगोलिक नाम उत्तर-पश्चिम प्रान्त के

प्राप्त हुए श्रेष्ठ आर्हत–उपदेश को भली प्रकार धारण कर के तथा तुच्छ शास्त्रों द्वारा हतबुद्धि दुःखित लोक को देख कर के प्राणियों की अनुकंपा से प्रेरित होकर यह 'तत्त्वार्थाधिगम' नाम का स्पष्ट शास्त्र विहार करते हुए 'कुसुमपुर' नाम के महानगर में रचा है। जो इस तत्त्वार्थशास्त्र को जानेगा और उसके कथनानुसार आचरण करेगा वह अव्याबाधसुख नाम के परमार्थ मोक्ष को शीघ्र प्राप्त करेगा।"

इस प्रशस्ति में ऐतिहासिक हक़ीक़त को सूचित करने वाली मुख्य छः बातें हैं: १ दीक्षागुरु तथा दीक्षाप्रगुरु का नाम, और दीक्षागुरु की योग्यता २ विद्यागुरु तथा विद्याप्रगुरु का नाम, ३ गोत्र, पिता तथा माता का नाम, ४ जन्मस्थान का तथा ग्रंथरचनास्थान का नाम, ५ शाखा तथा पदवी की सूचना और ६ ग्रंथकर्त्ता तथा ग्रन्थ का नाम।

जिस प्रशस्ति का सार ऊपर दिया गया है और जो इस समय भाष्य के अन्त में उपलब्ध होती है वह प्रशस्ति उमास्वाति की खुद की रची हुई नहीं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। डा० हर्मन जैकोबी जैसे विचारक भी इस प्रशस्ति को उमास्वाति की ही मानते हैं और यह बात उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत किये हुए तत्त्वार्थ के जर्मन अनुवाद की भूमिका से जानी जा सकती है। इससे इसमें जिस हक़ीकत का उल्लेख है उसे ही यथार्थ मान कर उस पर से वा० उमास्वाति विषयक दिगम्बर-श्वेताम्बर-परम्परा में चली आई मान्यताओं का खुलासा करना यही इस समय राजमार्ग है।

आधुनिक बुलन्दशहर के अन्तर्गत 'उच्चनगर' नाम के किले के साथ मिलता हुआ है।"—देखो, **आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट**, वॉल्यूम १४, पृ० १४७।

नागरोत्पत्ति के निबन्ध में रा० रा० मानशंकर 'नागर' शब्द का सम्बन्ध दिखलाते हुए नगर नाम के अनेक ग्रामों का उल्लेख करते हैं। इसलिये यह भी विचार की सामग्री में आता है। देखो, **छठी गुजराती साहित्यपरिषद् की रिपोर्ट**।

ऊपर निर्दिष्ट छः बातों में से पहली और दूसरी बात कुन्दकुन्द के साथ दिगम्बरसम्मत उमास्वाति के सम्बन्ध को असत्य ठहराती है। कुन्दकुन्द के उपलब्ध अनेक नामों में से ऐसा एक भी नाम नहीं जो उमास्वाति-द्वारा दर्शाये हुए अपने विद्यागुरु तथा दीक्षागुरु के नामों में आता हो; इससे कुन्दकुन्द का उमास्वाति के साथ विद्या अथवा दीक्षा-विषय में गुरुशिष्य-भावात्मक सम्बन्ध था इस कल्पना को स्थान ही नहीं। इसी प्रकार उक्त प्रशस्ति में उमास्वाति के वाचक-परम्परा में होने का तथा "उच्चनागर शाखा में होने का स्पष्ट कथन है, जब कि कुन्दकुन्द के नन्दिसंघ[1] में होने की दिगम्बर मान्यता है; और उच्चनागर नाम की कोई शाखा दिगम्बर-सम्प्रदायमें हुई हो ऐसा आज भी जानने में नहीं आता। इससे दिगंम्बर-परम्परा में कुन्दकुन्द के शिष्यरूप से माने जाने वाले उमास्वाति यदि वास्तव में ऐतिहासिक व्यक्ति हों तो भी उन्होंने यह तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र रचा था यह मान्यता विश्वस्त आधार से रहित होने के कारण पीछे से[2] कल्पित की गई मालूम होती है।

उक्त बातों में से तीसरी बात श्यामाचार्य के साथ उमास्वाति के सम्बन्ध की श्वेताम्बर मान्यता को असत्य ठहराती है; क्योंकि वाचक उमास्वाति अपने को कौभीषणि कह कर अपना गोत्र 'कौभीषण' सूचित करते हैं; जब कि श्यामाचार्य के गुरुरूप से पट्टावली में दाखिल हुए 'स्वाति' को 'हारित' गोत्र[3] का कहा है, इसके सिवा तत्त्वार्थ के प्रणेता उमास्वाति को उक्त प्रशस्ति स्पष्टरूप से 'वाचक' बतलाती है; जब कि श्यामाचार्य या उनके गुरुरूप से निर्दिष्ट 'स्वाति' नाम के साथ वाचक

---

१ देखो, '**स्वामी समन्तभद्र**' पृ० १५८ से तथा प्रस्तुत **परिचय** का **परिशिष्ट**।

२ देखो प्रस्तुत **परिचय** पृ० ३ टिप्पणी नं० १ तथा प्रस्तुत **परिचय** का **परिशिष्ट**।

३ "**हारियगुत्तं साइं च वंदिमो हारियं च समाज्जं**" ॥२६॥

—नन्दिसूत्र की स्थविरावली पृ० ४९।

विशेषण पट्टावली में नजर नहीं आता। इस प्रकार उक्त प्रशस्ति एक तरफ़ दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में चली आई भ्रांत कल्पनाओं का निरसन करती है और दूसरी तरफ़ वह ग्रंथकर्ता का संक्षिप्त होते हुए भी सच्चा इतिहास प्रस्तुत करती है।

(क) वाचक उमास्वातिका समय

वाचक उमास्वाति के समय-सम्बन्ध में उक्त प्रशस्ति में कुछ भी निर्देश नहीं है, इसी तरह समय का ठीक निर्धारण कर देने वाला ऐसा दूसरा भी कोई साधन अभी तक प्राप्त नहीं हुआ; ऐसी स्थिति में इस सम्बन्ध में कुछ विचार करने के लिये यहाँ तीन बातों का उपयोग किया जाता है: १ शाखानिर्देश, २ प्राचीन से प्राचीन टीकाकारों का समय और ३ अन्य दार्शनिक ग्रंथों की तुलना।

१. प्रशस्ति में जिस 'उच्चैर्नागरशाखा' का निर्देश है वह शाखा कब निकली यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, तो भी कल्पसूत्र की स्थविरावली में 'उच्चानागरी' शाखा का उल्लेख है[1]; यह शाखा आर्य 'शान्तिश्रेणिक' से निकली है। आर्य शांतिश्रेणिक आर्य 'सुहस्ति' से चौथी पीढ़ी में आते हैं। आर्य सुहस्ति के शिष्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध और उनके शिष्य इंद्रदिन्न, इंद्रदिन्न के शिष्य दिन्न और दिन्न के शिष्य शांतिश्रेणिक हैं। यह शांतिश्रेणिक आर्य वज्र के गुरु आर्य सिंहगिरि के गुरुभाई थे; इससे वे आर्य वज्र की पहली पीढ़ी में आते हैं। आर्य सुहस्ति का स्वर्गवास-समय वीरात् २९१ और वज्र का स्वर्गवास-समय वीरात् ५८४ उल्लिखित मिलता है। अर्थात् सुहस्ति के स्वर्गवास-समय से वज्र के स्वर्गवास-समय तक २९३ वर्ष के भीतर पाँच पीढ़ियाँ उपलब्ध

---

१ "थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिएहिंतो माढरसगुत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चानागरी साहा निग्गया।"—मूल कल्पसूत्रस्थविरावलि पृ० ५५। आर्य शांतिश्रेणिक की पूर्व परम्परा जानने के लिये इससे आगे के कल्पसूत्र के पत्र देखो।

होती हैं। इस तरह सरसरी तौर पर एक एक पीढ़ी का काल साठ वर्ष का मान लेने पर सुहस्ति से चौथी पीढ़ी में होने वाले शांतिश्रेणिक का प्रारम्भ काल वीरात् ४७१ का आता है। इस समय के मध्य में या थोड़ा आगे पीछे शांतिश्रेणिक से उच्चनागरी शाखा निकली होगी। वाचक उमास्वाति, शांतिश्रेणिक की ही उच्चनागर शाखा में हुए हैं ऐसा मानकर और इस शाखा के निकलने का जो समय अनुमान किया गया है उसे स्वीकार करके यदि आगे चला जाय तो भी यह कहना कठिन है कि वा० उमास्वाति इस शाखा के निकलने बाद कब हुए हैं! क्योंकि अपने दीक्षागुरु और विद्यागुरु के जो नाम प्रशस्ति में उन्होंने दिये हैं उनमें से एक भी कल्पसूत्र की स्थविरावलि में या उस प्रकार की किसी दूसरी पट्टावली में नहीं पाया जाता। इससे उमास्वाति के समय-संबंध में स्थविरावलि के आधार पर यदि कुछ कहना हो तो अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीरात् ४७१ अर्थात् विक्रम संवत् के प्रारम्भ के लगभग किसी समय हुए हैं, उससे पहले नहीं; इससे अधिक परिचय अभी अन्धकार में है।

२. इस अंधकार में एक अस्पष्ट प्रकाश डालने वाली एक किरण तत्त्वार्थसूत्र के प्राचीन-टीकाकार के समय-सम्बन्धी है; जो उमास्वाति के समय की अनिश्चित उत्तर सीमा को मर्यादित करती है। स्वोपज्ञ भाष्य को यदि अलग किया जाय तो तत्त्वार्थ सूत्र पर जो सीधी टीकाएँ इस समय उपलब्ध हैं उन सब में पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि' प्राचीन है। पूज्यपाद का समय विद्वानों ने विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी निर्धारित किया है; इससे सूत्रकार वा० उमास्वाति विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से पूर्व किसी समय हुए हैं, ऐसा कह सकते हैं।

ऊपर की विचारसरणी के अनुसार वा० उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय विक्रम की पहली शताब्दी और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय तीसरी-चौथी शताब्दी आता है। इन तीन-सौ चार-सौ वर्ष के अन्तराल में से उमास्वाति का निश्चित समय शोधने का काम बाकी रह जाता है।

३. समय-सम्बन्धी इस सम्भावना में और भावी शोध में उपयोगी होने वाली ऐसी कुछ विशेष बातें भी हैं जो उनके तत्त्वार्थ सूत्र और भाष्य के साथ दूसरे दर्शनों तथा जैन आगम की तुलना में से फलित होती हैं, उन्हें भी यहाँ पर दिया जाता है। यद्यपि ऐसा नहीं है कि ये बातें सीधे तौर पर समय का ठीक निर्णय करने के लिये इस समय सहायक हो सकें, फिर भी यदि दूसरे सबल प्रमाण मिल जायँ तो इन बातों का क़ीमती उपयोग होने में तो कुछ भी शंका नहीं है। इस समय तो ये बातें भी हमें उमास्वाति के उपर्युक्त अनुमानित समय की तरफ़ ही ले जाती हैं।

(क) जैन-आगम 'उत्तराध्ययन' कणाद के सूत्रों से पहले का होना चाहिए ऐसी सम्भावना परंपरा दृष्टि से और दूसरी दृष्टि से भी होती है। कणाद के सूत्र बहुत करके ईसवी सन् से पूर्व की पहली शताब्दी के माने जाते हैं। जैन आगमों के आधार पर रचे हुए तत्त्वार्थसूत्रों में तीन सूत्र ऐसे हैं कि जिनमें उत्तराध्ययन की छाया के अतिरिक्त कणाद के सूत्रों का सादृश्य दिखलाई देता है। इन तीन सूत्रों में पहला द्रव्य का, दूसरा गुण का, और तीसरा काल का लक्षणविषयक है।

उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन की ६ ठी गाथा में द्रव्य का लक्षण **"गुणाणमासओ दव्वं" —गुणानामाश्रयो द्रव्यम्**। अर्थात्, जो गुणों का आश्रय वह द्रव्य, इतना ही है। कणाद द्रव्य के लक्षण में गुण के अतिरिक्त क्रिया और समवायिकारणता को दाखिल करके कहता है कि **"क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्"** —१. १. १५। अर्थात्, जो क्रिया वाला, गण वाला तथा समवायिकारण हो वह द्रव्य है। वा० उमास्वाति उत्तराध्ययन-कथित गुणपद को क़ायम रख कर कणाद-सूत्रों में दिखाई देने वाले 'क्रिया' शब्द की जगह जैन-परम्परा-प्रसिद्ध 'पर्याप्त' शब्द रखकर द्रव्य का लक्षण बाँधते हैं कि **'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'** ५.३७। अर्थात्, जो गुण तथा पर्याय वाला हो वह द्रव्य है।[1]

---

१. द्रव्य लक्षण के विषय में विशेष जानने के लिये देखो— प्रमाण-मीमांसा भाषाटिप्पण पृ. ५४। न्यायावतार वार्तिक वृत्ति प्रस्तावना पृ. २५, १०४, ११९

उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन की ६ ठी गाथा में गुण का लक्षण "एगदव्वस्सिओ गुणा"—एकद्रव्याश्रिता गुणाः। अर्थात् जो एक द्रव्य के आश्रित हों वे गुण, इतना ही है। कणाद के गुणलक्षण में विशेष वृद्धि देखी जाती है। वह कहता है कि "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग-विभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्"–१.१.१६। अर्थात्, द्रव्य के आश्रित, निर्गुण और संयोग-विभाग में अनपेक्ष जो कारण नहीं होता वह गुण है। उमास्वाति के गुणलक्षण में उत्तराध्ययन के गुणलक्षण के अतिरिक्त कणाद के गुणलक्षण में से एक 'निर्गुण' अंश है। वे कहते हैं कि "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः"—५. ४०। अर्थात्, जो द्रव्य के आश्रित और निर्गुण हों वे गुण हैं।

उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन की १० वीं गाथा में काल का लक्षण "वत्तणालक्खणो कालो"—वर्तनालक्षणः कालः। अर्थात्, वर्तना यह काल का स्वरूप, इतना ही है। कणाद के काललक्षण में 'वर्तना' पद तो नहीं है परंतु दूसरे शब्दों के साथ 'अपर' शब्द दिखलाई पड़ता है "अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि"— २. २. ६। उमास्वाति-कृत काललक्षण में 'वर्तना' पद के अतिरिक्त जो दूसरे पद दिखलाई पड़ते हैं उनमें 'परत्व' और 'अपरत्व' ये दो शब्द भी हैं; जैसा कि "वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य"– ५. २२।

ऊपर दिये हुए द्रव्य, गुण तथा काल के लक्षणवाले तत्त्वार्थ के तीन सूत्रों के लिये उत्तराध्ययन के सिवाय किसी प्राचीन श्वेताम्बर जैन आगम अर्थात् अंग का उत्तराध्ययन जितना ही शाब्दिक आधार हो ऐसा अभी तक देखने में नहीं आया; परंतु विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी के माने जानेवाले 'कुन्दकुन्द' के प्राकृत वचनों के साथ तत्त्वार्थ के संस्कृत सूत्रों का कहीं तो पूर्ण सादृश्य है और कहीं बहुत ही कम। श्वेताम्बर सूत्रपाठ में द्रव्य के लक्षणवाले दो ही सूत्र हैं "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"–५. २९.। "गुणपर्यायवद् द्रव्यम्"–५. ३७.। इन दोनों के अतिरिक्त द्रव्य के लक्षणविषय में एक तीसरा सूत्र दिगंबर सूत्रपाठ में है—"सद् द्रव्यलक्षणम्"–५. २९। ये तीनों दिगंबर सूत्रपाठगत

सूत्र कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय की निम्न प्राकृत गाथा में पूर्णरूप से विद्यमान हैं :

" दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥

इसके सिवाय, कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थों के साथ तत्त्वार्थसूत्र का जो शाब्दिक तथा वस्तुगत महत्त्व का सादृश्य है वह आकस्मिक तो है ही नहीं ।

(ख) उपलब्ध योगसूत्र के रचयिता पतंजलि माने जाते हैं, व्याकरण-महाभाष्य के कर्ता पतंजलि ही योगसूत्रकार हैं या दूसरे कोई पतंजलि, इस विषय में अभी कोई निश्चय नहीं । यदि महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतंजलि एक हों तो योगसूत्र विक्रम के पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी का है ऐसा कहा जा सकता है । योगसूत्र का 'व्यासभाष्य' कब का है यह भी निश्चित नहीं, फिर भी उसे विक्रम की तीसरी शताब्दी से प्राचीन मानने का कोई कारण नहीं है ।

योगसूत्र और उसके भाष्य के साथ तत्त्वार्थ के सूत्रों और उनके भाष्य का शाब्दिक तथा आर्थिक सादृश्य बहुत है[1] और वह आकर्षक भी है; तो भी इन दोनों में से किसी एक के ऊपर दूसरे का असर है यह भली प्रकार कहना शक्य नहीं; क्योंकि तत्त्वार्थ के सूत्रों और भाष्य को योगदर्शन से प्राचीन जैन आगमग्रन्थों की विरासत मिली हुई है, उसी प्रकार योगसूत्र और उसके भाष्य को पुरातन सांख्य, योग तथा बौद्ध आदि परम्पराओं की विरासत मिली है । ऐसा होते हुए भी तत्त्वार्थ के भाष्य में एक स्थल ऐसा है जो जैन अंगग्रंथों में इस समय तक उपलब्ध नहीं और योगसूत्र के भाष्य में उपलब्ध है ।

पहले निर्मित हुई आयु कम भी हो सकती है अर्थात् बीच में टूट भी सकती है और नहीं भी, ऐसी चर्चा जैन अंग-ग्रंथों में है । परन्तु

---

१ इसके सविस्तर के लिये देखो मेरा लिखा हुआ हिन्दी योगदर्शन, प्रस्तावना पृष्ठ ५२ से ।

इस चर्चा में आयु के टूट सकने के पक्ष की उपपत्ति करने के लिये भीगे कपड़े तथा सूखी घास का उदाहरण अंगग्रन्थों में नहीं, तत्त्वार्थ के भाष्य में इसी चर्चा के प्रसंग पर ये दोनों उदाहरण दिये गये हैं जो कि योगसूत्र के भाष्य में भी हैं। इन उदाहरणों में खूबी यह है कि दोनों भाष्यों का शाब्दिक सादृश्य भी बहुत ज्यादा है। साथ ही, यहाँ एक विशेषता यह है कि योगसूत्र के भाष्य में जिसका अस्तित्व नहीं ऐसा गणित-विषयक एक तीसरा उदाहरण तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य में पाया जाता है। दोनों भाष्यों का पाठ क्रमशः इस प्रकार है :—

"×शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। × अपवर्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोपभोगः उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम्। × संहतशुष्कतृणराशिदहनवत्। यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशुदाहो भवति। तद्वत्। यथा वा संख्यानाचार्यः करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च संख्येयस्यार्थ स्याभावो भवति तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदुःखार्तः कर्मप्रत्ययमनाभोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति। किं चान्यत्। यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्रं शोषमुपयाति न च संहते तस्मिन् प्रभूतस्नेहागमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोषः तद्वद् यथोक्तनिमित्तापवर्तनैः कर्मणः क्षिप्रं फलोपभोगो भवति। न च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमाफल्यानि।"— तत्त्वार्थ-भाष्य २. ५२।

"आयुर्विपाकं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथार्द्रं वस्त्रं वितानितं ह्रसीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा वाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण

दहेत् तथा निरुपक्रमम्। तदेकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च।"—योग-भाष्य ३. २२।

(ग) अक्षपाद का 'न्यायदर्शन' ईस्वी सन् के आरम्भ के लगभग का रचा हुआ माना जाता है। उसका 'वात्स्यायनभाष्य' दूसरी-तीसरी शताब्दी के भाष्यकाल की प्राथमिक कृतियों में से एक कृति है। इस कृति के कुछ शब्द और विषय तत्त्वार्थभाष्य में पाये जाते हैं। न्यायदर्शन (१.१.३) –मान्य प्रमाणचतुष्कवाद का निर्देश तत्त्वार्थ अ० १ सू० ६ और ३५ के भाष्य में पाया जाता है [१]। तत्त्वार्थ १. १२ के भाष्य में अर्थापत्ति, संभव और अभाव आदि प्रमाणों के भेद का निरसन न्यायदर्शन (२. १. १.) आदि के जैसा ही है। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष के लक्षण में "**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्**" (१. १. ४) ये शब्द हैं। तत्त्वार्थ १. १२ के भाष्य में अर्थापत्ति आदि जुदे माने जाने वाले प्रमाणों को मति और श्रुत ज्ञान में समावेश करते हुए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। यथा :—
"**सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्।**

इसी तरह पतंजलि-महाभाष्य [२] और न्यायदर्शन (१.१.१५) आदि में पर्याय शब्द की जगह 'अनर्थान्तर' शब्द के प्रयोग की जो पद्धति है वह तत्त्वार्थ सूत्र (१.१३) में भी पाई जाती है।

(घ) बौद्ध-दर्शन की शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि शाखाओं के खास मंतव्यों का अथवा विशिष्ट शब्दों का जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धि में उल्लेख है उस प्रकार तत्त्वार्थभाष्य में नहीं है तो भी बौद्धदर्शन के थोड़े से सामान्य मन्तव्य तंत्रान्तर के मन्तव्यों के रूप में दो-एक स्थल पर आते

---

१ "**प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि**"। न्यायदर्शन १. १. ३। "**चतुर्विधमित्येके नयवादान्तरेण**"—तत्त्वार्थभाष्य १. ६. और "**यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनैः प्रमाणैरेकोऽर्थः प्रमीयते**"—तत्त्वार्थभाष्य। १. ३५।

२. देखो, १,१.५६;२.३.१. और ५. १. ५९ का महाभाष्य।

हैं। वे मंतव्य पाली पिटक के ऊपर से लिये गये हैं या महायान के संस्कृत पिटकों से लिये गये हैं अथवा किसी दूसरे ही तद्विषयक ग्रन्थ के ऊपर से लिये गये हैं—यह विचारणीय है। उनमें पहला उल्लेख जैनमत के अनुसार नरकभूमियों की संख्या बतलाते हुए बौद्ध सम्मत संख्या का खंडन करने के लिये आ गया है। वह इस प्रकार है:—
"अपि च तन्त्रान्तरीया असंख्येषु लोकधातुष्वसंख्येयाः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिताः"—तत्त्वार्थभाष्य-३. १।

दूसरा उल्लेख, जैनमत के अनुसार पुद्गल का लक्षण बतलाते हुए, बौद्ध-सम्मत पुद्गल शब्द के अर्थ का निराकरण करते हुए आया है। यथा—पुद्गला इति च तंत्रान्तरीया[1] जीवान् परिभाषन्ते—अ० ५ सू० २३ का उत्थानभाष्य।

(ख) उमास्वाति की योग्यता

उमास्वाति के पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में लिखने की शक्ति को यदि विकसित किया न होता और उस भाषा में लिखने का प्रघात शुरू न किया होता तो उमास्वाति इतनी प्रसन्न संस्कृत शैली में प्राकृत परिभाषा में रूढ़ साम्प्रदायिक विचारों को इतनी सफलता-पूर्वक गूंथ सकते कि नहीं यह एक सवाल हो है; तो भी उपलब्ध समग्र जैन वाङ्मय का इतिहास तो ऐसा ही कहता है कि जैनाचार्यों में उमास्वाति ही प्रथम संस्कृत लेखक हैं। उनके ग्रन्थों की प्रसन्न, संक्षिप्त और शुद्ध शैली संस्कृत भाषा के ऊपर उनके प्रभुत्व की साक्षी देती है।

---

१. यद्यपि जैन आगम (भगवती श. ८. उ. ३ और श. २० उ. २) में पुद्गल शब्द जीव अर्थ में भी प्रयुक्त देखा जाता है किन्तु जैन-दर्शन की परिभाषा तो मात्र जड़ परमाणु और तन्निर्मित स्कंध में ही प्रसिद्ध है। जब कि बौद्ध-दर्शन की परिभाषा एक मात्र जीव अर्थ में ही प्रसिद्ध है। इसी भेद को लक्ष्य में रखकर वाचक ने यहाँ तन्त्रान्तरीय शब्द का प्रयोग किया है।

जैन आगम में प्रसिद्ध ज्ञान, ज्ञेय, आचार, भूगोल, खगोल आदि से सम्बन्ध रखने वाली बातों का जो संक्षेप में संग्रह उन्होंने तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र में किया है वह उनके 'वाचक' वंश में होने की और वाचक-पदकी यथार्थताकी साक्षी देता है। उनके तत्त्वार्थ की प्रारंभिक कारिकाएँ और दूसरी पद्यकृतियाँ सूचित करती हैं कि वे गद्य की तरह पद्य के भी प्रांजल लेखक थे। उनके सभाष्य सूत्रों का बारीक अवलोकन जैन-आगम-संबंधी उनके सर्वग्राही अभ्यास के अतिरिक्त वैशेषिक, न्याय, योग और बौद्ध आदि दार्शनिक साहित्य संबंधी उनके अभ्यास की प्रतीति कराता है। तत्त्वार्थ-भाष्य (१. ५; २. १५) में उद्धृत व्याकरण के सूत्र उनके पाणिनीय-व्याकरण-विषयक अभ्यास की साक्षी देते हैं।

यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आपकी पाँच सौ ग्रन्थों के कर्ता होने की प्रसिध्दि है और इस समय आपकी कृतिरूप से कुछ ग्रन्थ प्रसिद्ध भी हैं; तो भी इस विषय में आज संतोष-जनक कुछ भी कहने का साधन नहीं है। ऐसी स्थिति में भी 'प्रशमरति'[२] की भाषा और विचारसरणी तथा

---

१ जम्बूद्वीपसमासप्रकरण, पूजाप्रकरण, श्रावकप्रज्ञप्ति, क्षेत्रविचार, प्रशमरति। सिद्धसेन अपनी वृत्ति में (पृ० ७८, पं० २) उनके 'शौचप्रकरण' नामक ग्रंथ का उल्लेख करते हैं, जो इस समय उपलब्ध नहीं।

२ वृत्तिकार सिद्धसेन—'प्रशमरति' को भाष्यकार की ही कृतिरूप से सूचित करते हैं। यथा—"**यतः प्रशमरतौ (का० २०८) अनेनैवोक्तम्--परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः।**" "**वाचकेन त्वेतदेव बलसंज्ञया प्रशमरतौ** (का० ८०) उपात्तम्"—५. ६ तथा ९. ६ की भाष्यवृत्ति।

तथा सिद्धसेन भाष्यकार तथा सूत्रकार को एक तो समझते ही हैं। यथा—
"**स्वकृतसूत्रसंनिवेशमाश्रित्योक्तम्।**"—९. २२. पृ० २५३।

"**इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोऽध्यायः।**"—तत्त्वार्थभाष्य के सातवें अध्याय की टीका की पुष्पिका। ऐसे अन्य उल्लेखों के लिये आगे देखो, **परंपरा** वाले प्रकरण में।

सिद्धसेन आदि के उल्लेख यह सब उसकी उमास्वाति कर्तृकता निश्चित रूपसे बतलाते हैं।

उमास्वाति अपने को 'वाचक' कहते हैं, इसका अर्थ 'पूर्ववित्'[1] कर के पहले से ही श्वेताम्बराचार्य उमास्वाति को 'पूर्ववित्' रूप से पहचानते आए हैं। दिगम्बर परम्परा में भी उनको 'श्रुतकेवलिदेशीय' कहा है।[2]

इनका तत्वार्थग्रंथ इनके ग्यारह अंग विषयक श्रुतज्ञान की तो प्रतीति

प्रशमरतिप्रकरण की १२० वीं कारिका 'आचार्य आह' कह कर निशीथचूर्णि में उद्धृत की गई है। इस चूर्णि के प्रणेता जिनदास महत्तर का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है जो उन्होंने अपनी नन्दिसूत्र की चूर्णि में बतलाया है; इस परसे ऐसा कह सकते हैं कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है। इससे और ऊपर बतलाए हुए कारणों से यह कृति वाचक की हो तो इसमें कोई इनकार नहीं।

१ पूर्वों के चौदह होने का समवायांग आदि आगमों में वर्णन है। वे दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग के पांचवाँ भाग थे ऐसा भी उल्लेख है। पूर्वश्रुत अर्थात् भगवान महावीर द्वारा सबसे पहले दिया हुआ उपदेश ऐसी प्रचलित परम्परा-गत मान्यता है। पश्चिमी विद्वानों की इस विषय में ऐसी कल्पना है कि भ० पार्श्वनाथ की परम्परा का जो पूर्वकालीन श्रुत भ० महावीर को अथवा उनके शिष्यों को मिला वह पूर्वश्रुत है। यह श्रुत क्रमशः भ० महावीर के उपदिष्ट श्रुत में ही मिल गया और उसी का एक भाग-रूप से गिना गया। जो भ० महावीर की द्वादशांगी के धारक थे वे इस पूर्वश्रुत को जानते ही थे। कंठ रखने के प्रघात और दूसरे कारणों से क्रमशः पूर्वश्रुत नष्ट हो गया और आज सिर्फ 'पूर्वगतगाथा' रूप में नाम मात्र से शेष रहा उल्लिखित मिलता है। और 'पूर्व' के आधार से बने कुछ ग्रन्थ मिलते हैं।

२ नगर ताल्लुके के एक दिगम्बर शिलालेख नं० ४६ में इन्हें 'श्रुत-केवलिदेशीय' लिखा है। यथा—

"तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥"

करा ही रहा है इससे इनकी इतनी योग्यता के विषय में तो कोई संदेह नहीं है। इन्होंने अपने को विरासत में मिले हुए आर्हत श्रुत के सभी पदार्थोंका संग्रह[1] तत्त्वार्थ में किया है; एक भी महत्त्व की दीखने वाली बात को इन्होंने बिना कथन किये छोड़ा नहीं, जीसे आचार्य हेमचन्द्र संग्रहकार के रूप में उमास्वाति का स्थान सर्वोत्कृष्ट आँकते हैं[2]। इसी योग्यता के कारण उनके तत्त्वार्थ की व्याख्या करने के लिये सभी श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्य प्रेरित हुए हैं।

(ग) उमास्वाति की परम्परा

दिगम्बर वाचक उमास्वाति को अपनी परम्परा का मान कर उनकी कृतिरूप से मात्र तत्त्वार्थ-सूत्र को ही स्वीकार करते हैं, जब कि श्वेताम्बर उन्हें अपनी परम्परा का मानते हैं और उनकी कृतिरूप से तत्त्वार्थ-सूत्र के अतिरिक्त भाष्य को भी स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उमास्वाति दिगम्बर परम्परा में हुए हैं या श्वेताम्बर परम्परा में अथवा दोनों से भिन्न किसी अलग ही परम्परा में हुए हैं? इस प्रश्न का उत्तर भाष्य के कर्तृत्व के निर्णय से मिल जाता है। भाष्य स्वयं उमास्वाति की कृति है यह बात नीचे लिखे प्रमाणों से निर्विवाद सिद्ध है।[3]

१. भाष्य की उपलब्ध टीकाओं में सबसे प्राचीन टीका सिद्धसेन की है। उसमें स्वोपज्ञतासूचक उल्लेख ये हैं—

"प्रतिज्ञातं चानेन "ज्ञानं वक्ष्यामः" इति। अतस्तदनुरोधेनैकवचनं चकार आचार्यः।" प्रथम भाग पृ० ६९

"शास्तीति च ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकार-भाष्यकाराकारेणैव माह......" पृ० ७२

---

१ तत्त्वार्थ में वर्णित विषयों का मूल जानने के लिये देखो उ० आत्मारामजी संपादित तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय।

२ "उपोमास्वातिं संग्रहीतारः"—सिद्धहेम २. २. ३९।

३. देखो 'भारतीय विद्या' के सिंघी स्मारक अंक में श्री प्रेमीजी का लेख पृ० १२८। उसमें उन्होंने भाष्य को स्वोपज्ञ सिद्ध किया है।

"सूत्रकाराद्विभक्तोपि हि भाष्यकारो" पृ० २०५

"इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्र-भाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां......" द्वितीय भाग पृ० १२०

२. भाष्यगत अंतिम कारिकाओं में से आठवीं कारिका को याकिनी सूनु हरिभद्राचार्यने शास्त्रवार्तासमुच्चय में उमास्वाति कर्तृक रूप से उद्धृत किया है।

३. भाष्य की प्रारंभिक अंगभूत कारिका के व्याख्यान में आ० देवगुप्त भी सूत्र और भाष्य को—एक कर्तृक सूचित करते हैं—देखो का० १, २।

४. प्रारम्भिक कारिकाओं[1] में और कुछ स्थानों पर भाष्य[2] में भी 'वक्ष्यामि, वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुष का निर्देश है और इस निर्देश में की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्र में कथन किया गया है।

५. शुरू से अन्त तक भाष्य को देख जाने पर एक बात मन में जंचती है कि किसी स्थल पर सूत्र का अर्थ करने में शब्दों की खींचातानी नहीं हुई, कहीं भी सूत्र का अर्थ करने में संदेह या विकल्प करने में नहीं आया, इसी प्रकार सूत्र की किसी दूसरी व्याख्या को मन में रख कर सूत्र का अर्थ नहीं किया गया और न कहीं सूत्र के पाठभेद का ही अवलम्बन लिया गया है।

यह वस्तु-स्थिति सूत्र और भाष्य के एककर्तृक होने की चिरकालीन मान्यता को सत्य ठहराती है। जहाँ मूल और टीका के कर्ता अलग होते हैं

---

१ "तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥२२॥
नर्ते च मोक्षमार्गाद् व्रतोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्।
तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥३१॥

२ "गुणान् लक्षणतो वक्ष्यामः"—५. ३७ का भाष्य, अगला सूत्र ५.४०।
"अनादिरादिमांश्च तं परस्ताद्वक्ष्यामः—५. २२ का भाष्य, अगला सूत्र ५.४२।

यहाँ तत्त्वज्ञान-विषयक प्रतिष्ठित तथा अनेक सम्प्रदायों में मान्य ग्रन्थों में ऊपर जैसी वस्तु-स्थिति नहीं होती। उदाहरण के तौर पर वैदिक दर्शन में प्रतिष्ठित 'ब्रम्हसूत्र' ग्रन्थ को लीजिये. यदि इसका कर्ता खुद ही व्याख्याकार होता तो इसके भाष्य में आज जो शब्दों की खींचातानी, अर्थ के विकल्प और अर्थ का संदेह तथा सूत्र का पाठभेद दिखलाई पड़ता है वह कदापि न होता। इसी तरह तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रणेता ने ही यदि 'सर्वार्थसिद्धि', 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' आदि कोई व्याख्या लिखी होती तो उनमें जो अर्थ की खींचातानी, शब्द की तोड़-मरोड़, अध्याहार, अर्थ का संदेह और पाठभेद[1] दिखाई देते हैं वे कभी न होते। यह वस्तु-स्थिति निश्चित रूप से एककर्तृक मूल तथा टीका वाले ग्रन्थों को देखने से समझी जा सकती है। इतनी चर्चा मूल तथा भाष्य का कर्ता एक होने की मान्यता की निश्चित भूमिका पर हमें लाकर छोड़ देती है।

मूल और भाष्य के कर्ता एक ही हैं, यह निश्चय इस प्रश्न के हल करने में बहु उपयोगी है कि वे किस परम्परा के थे? उमास्वाति दिगबंर परम्परा के नहीं थे ऐसा निश्चय करने के लिये नीचे की दलीलें काफी हैं:

१ प्रशस्ति में सूचित की हुई उच्चनागर शाखा या नागर शाखा के दिगम्बर सम्प्रदाय में होने का एक भी प्रमाण नहीं पाया जाता।

२ 'काल' किसी के मत से वास्तविक द्रव्य है ऐसा सूत्र (५. ३८) और उसके भाष्य का वर्णन दिगम्बर पक्ष (५. ३९) के विरुद्ध हैं। केवली में (९. ११) ग्यारह परीषह होने की सूत्र और भाष्यगत सीधी मान्यता एवं भाष्यगत वस्त्र पात्रादि का स्पष्ट उल्लेख भी दिगम्बर परम्परा के विरुद्ध है—९. ५, ९. ७, ९. २६। सिद्धों में लिंगद्वार और तीर्थद्वार का भाष्यगत वक्तव्य दिगम्बर परंपरा से उलटा है।

३ भाष्य में केवलज्ञान के पश्चात् केवली के दूसरा उपयोग मानने न मानने का जो मन्तव्य भेद (१. ३१) है वह दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं दिखाई देता।

---

१ उदाहरण के तौर पर देखो, सर्वार्थसिद्धि—"चरमदेहा इति वा पाठः"– २. ५३। "अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्यशेषः कल्पनीयः सोपस्कारत्वात् सूत्राणाम्"—९ ११।

उक्त दलीलें यद्यपि ऐसा साबित करती हैं कि वाचक उमास्वाति दिगम्बर परम्परा के नहीं थे, फिर भी यह देखना तो बाकी ही रह जाता है कि तब वे कौन सी परम्परा के थे ? नीचे की दलीलें उन्हें श्वेताम्बर परम्परा के होने की तरफ ले जाती हैं।

१ प्रशस्ति में उल्लिखित उच्चनागरी शाखा[1] श्वेताम्बर पट्टावली में पाई जाती है।

२ अमुक विषय-संबन्धी मतभेद या विरोध बतलाते हुए भी कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन श्वेताम्बर आचार्य नहीं पाये जाते जिन्होंने दिगम्बर आचार्यों की तरह भाष्य को अमान्य रक्खा हो।

३ जिसे उमास्वाति की कृति रूप से मानने में शंका का अवकाश नहीं जो पूर्वोक्त प्रकार से भाष्य विरोधी है, ऐसे प्रशमरति[2] ग्रन्थ में मुनि के वस्त्र-पात्र का व्यवस्थित निरूपण देखा जाता है, जिसे श्वेताम्बर परम्परा निर्विवादरूप से स्वीकार करती है।

४ उमास्वाति के वाचकवंश का उल्लेख और उसी वंश में होने वाले अन्य आचार्यों का वर्णन श्वेताम्बर पट्टावलियों, पन्नवणा और नन्दी की स्थविरावली में पाया जाता है।

ये दलीलें वा० उमास्वाति को श्वेताम्बर परंपरा का सिद्ध करती हैं, और अब तक के समस्त श्वेताम्बर आचार्य उन्हें अपनी ही परंपरा का पहले से मानते आये हैं। वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा में हुए और दिगम्बर में नहीं, ऐसा खुद मेरा भी मन्तव्य अधिक वाचन चिन्तन के बाद आज पर्यन्त स्थिर हुआ है। इस मन्तव्य को विशेष स्पष्ट समझाने के लिए दिगंबर-श्वेतांबर के भेद सम्बन्धी इतिहास के कुछ प्रश्नों पर प्रकाश डालना जरूरी है। पहला प्रश्न यह है कि इस समय जो दिगम्बर श्वेताम्बर के भेद या विरोध का विषय श्रुत तथा आचार देखा जाता है उसकी प्राचीन जड़ कहां तक पाई जाती है और वह प्राचीन जड़ मुख्यतया किस बात में रही ? दूसरा प्रश्न यह है कि उक्त दोनों फिरकों को समानरूप

---

१ देखो, प्रस्तुत परिचय पृ०५ तथा ८।

२ देखो, का० १३५ से।

से मान्य श्रुत था या नहीं, और था तो कबतक वह समान मान्यता का विषय रहा, और उसमें मतभेद कब से प्रविष्ट हुआ, तथा उस मतभेद के अन्तिम फलस्वरूप एक-दूसरे को परस्पर पूर्णरूपेण अमान्य श्रुतभेद का निर्माण कब हुआ ? तीसरा पर अन्तिम प्रश्न यह है कि उमास्वाति खुद किस परम्परा के आचार का पालन करते थे, और उन्होंने जिस श्रुत को आधार बनाकर तत्त्वार्थ की रचना की वह श्रुत उक्त दोनों फिरकों को पूर्णतया समानरूप से मान्य था या किसी एक फिरके को ही पूर्णरूपेण मान्य, और दूसरे को पूर्णरूपेण अमान्य ?

१ जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री अभी प्राप्त है उससे निर्विवाद रूप से इतना साफ जान पड़ता है कि भगवान् महावीर पार्श्वापत्य की[1] परम्परा में हुए थे और उन्होंने शिथिल या मध्यम त्याग-मार्ग में अपने उत्कट त्यागमार्गमय व्यक्तित्व के द्वारा नवीन जीवन डाला। शुरू में विरोध और उदासीनता रखनेवाले भी अनेक पार्श्वसन्तानिक साधु, श्रावक भगवान् महावीर के शासन में आ मिले[2]। भगवान् महावीर ने अपनी नायकत्वोचित उदार, पर तात्त्विक दृष्टि से अपने शासन में उन दोनों दलों का स्थान निश्चित किया[3] जो बिलकुल नग्नजीवी तथा उत्कट विहारी

---

१. आचारांगसूत्र सूत्र १७८।

२. कालासवेसियपुत्त (भगवती १. ९), केशी (उत्तराध्ययन अध्ययन २३), उदकपेढालपुत्त (सूत्रकृताङ्ग २.७), गांगेय (भगवती ९.३२) इत्यादि। विशेष के लिये देखो "उत्थान महावीरांक" पृ० ५८। कुछ पार्श्वापत्यों ने तो पंचमहाव्रत और प्रतिक्रमण के साथ नग्नत्व का भी स्वीकार किया ऐसा उल्लेख आज तक अंगों में सुरक्षित है। उदाहरणार्थ देखो भगवती १.९।

३. आचारांग में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के मुनियों का वर्णन है। अचेल मुनि के वर्णन के लिये प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन के १८३ सूत्र से आगे के सूत्र देखने चाहिए; और सचेल मुनि के वस्त्रविषयक आचार के लिये द्वितीय श्रुतस्कन्ध का ५ वाँ अध्ययन देखना चाहिए। और सचेल मुनि तथा अचेल मुनि ये दोनों मोह को कैसे जीतें इसके रोचक वर्णन के लिये देखो आचारांग १.८।

था, और जो बिलकुल नग्न नहीं ऐसा मध्यममार्गी भी था। उक्त दोनों दलों का बिलकुल नग्न रहने या न रहने के विषय में तथा थोड़े बहुत अन्य आचारों के विषय में भेद रहा[1], फिर भी वह भगवान के व्यक्तित्व के कारण विरोध का रूप धारण करने न पाया। उत्कट और मध्यम त्याग मार्ग के उस प्राचीन समन्वय में ही वर्त्तमान दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद की जड़ है।

उस प्राचीन समय में जैन परम्परा में दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे शब्द न थे फिर भी आचारभेद सूचक नग्न, अचेल (उत्त० २३. १३, २९) जिनकल्पिक, पाणिप्रतिग्रह (कल्पसूत्र ९. २८), पाणिपात्र आदि शब्द उत्कट त्यागवाले दल के लिए; तथा सचेल प्रतिग्रहधारी, (कल्पसूत्र ९. ३१) स्थविरकल्प (कल्पसूत्र० ९. ६३) आदि शब्द मध्यम-त्यागवाले दल के लिए पाए जाते हैं।

२ इन दो दलों का आचार सम्बन्धी भेद होते हुए भी भगवान् के शासन के मुख्य प्राण रूप श्रुत में कोई भेद न था, दोनों दल बारह अंग रूप से माने जाने वाले तत्कालीन श्रुत को समान भाव से मानते थे। आचारविषयक कुछ भेद और श्रुतविषयक पूर्ण अभेद की यह स्थिति तरतमभाव से भगवान् के बाद करीब डेढ़ सौ वर्ष तक रही। यह स्मरण रहे कि इस बीच में भी दोनों दल के अनेक योग्य आचार्यों ने उसी अंग श्रुत के आधार पर छोटे बड़े ग्रन्थ रचे थे जिनको सामान्य रूप से दोनों दल के अनुगामी तथा विशेष रूप से उस उस ग्रन्थ के रचयिता के शिष्यगण मानते थे और अपने अपने गुरु-प्रगुरु की कृति समझ कर उस पर विशेष भार देते थे। वे ही ग्रन्थ अंगबाह्य, अनंग या उपांग रूप से[2] व्यवहृत हुए। दोनों दलों की श्रुत के विषय में इतनी अधिक निष्ठा व वफादारी रही कि जिससे अंग और अंगबाह्यका प्रामाण्य समान रूप से मानने पर भी किसी ने अंग और अनंग श्रुत की

---

१. देखो उत्तराध्ययन अ० २३।

२. दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, आवश्यक सार्वभाषित आदि।

भेदक रेखा को गौण न किया जो कि दोनों दल के वर्तमान साहित्य में आज भी स्थिर है।

एक तरफ से अचेलत्व, सचेलत्वादि आचार का पूर्वकालीन मतभेद जो एक दूसरे की सहिष्णुता के तथा समन्वय के कारण दबा हुआ था, वह धीरे धीरे तीव्र होता गया। जिससे दूसरी तरफ से उसी आचार-विषयक मतभेद का समर्थन दोनों दलवाले मुख्यतया अंग-श्रुत के आधार पर करने लगे; और साथ ही साथ अपने अपने दल के द्वारा रचित विशेष अंगबाह्य श्रुत का भी उपयोग उसके समर्थन में करने लगे। इस तरह मुख्यतया आचार के भेद में से जो दलभेद स्थिर हुआ उसके कारण सारे शासन में अनेकविध गड़बड़ी पैदा हुई। जिसके फलस्वरूप पाटलिपुत्र की वाचना (वी० नि० १६० लगभग) हुई[1]। इस वाचना तक और इसके आगे भी ऐसा अभिन्न अंग श्रुत रहा जिसे दोनों दलवाले समान भाव से मानते थे पर कहते जाते थे कि उस मूलश्रुत का क्रमशः ह्रास होता जाता है। साथ ही वे अपने अपने अभिमत आचार के पोषक ग्रन्थों का भी निर्माण करते रहे। इसी आचारभेद पोषक श्रुत के द्वारा अन्ततः उस प्राचीन अभिन्न अंग श्रुत में मतभेद का जन्म हुआ, जो शुरू में अर्थ करने में था पर आगे जाकर पाठभेद की तथा प्रक्षेप आदि की कल्पना में परिणत हुआ। इस तरह अचारभेदजनक विचारभेद ने उस अभिन्न अंगश्रुतविषयक दोनों दलै की समान मान्यता में भी अन्तर पैदा किया। इससे एक दल तो यह मानने मनवाने लगा कि वह अभिन्न मूल अंगश्रुत बहुत अंशो में लुप्त ही हो गया है। जो बाकी है वह भी कृत्रिमता तथा नये प्रक्षेपों से खाली नहीं है, ऐसा कहकर भी वह दल उस मूल अंग-श्रुत को सर्वथा छोड़ नहीं बैठा। पर साथ ही साथ अपने आचार पोषक श्रुत का विशेष निर्माण करने लगा और उसके द्वारा अपने पक्ष का प्रचार भी करता रहा। दूसरे दल ने देखा कि पहला दल उस मूल अंगश्रुत में कृत्रिमता दाखिल हो जाने का आक्षेप भी करता है पर

---

१ परिशिष्टपर्व सर्ग ९. श्लोक ५५ से। वीरनिर्वाणसंवत् और जैनकाल-गणना पृ० ९४।

वह उसे सर्वथा छोड़ता भी नहीं और न उसको रक्षा में साथ ही देता है। यह देखकर, दूसरे दलने मथुरा में[1] एक सम्मेलन किया। उसमें मूल अंगश्रुत के साथ अपने मान्य अंग बाह्यश्रुत का पाठनिश्चय, वर्गीकरण और संक्षेप-विस्तार आदि किया गया; जो उस दल में भाग लेनेवाले सभी स्थविरों को प्राय: मान्य रहा। यद्यपि इस अंग और अनंग श्रुत का यह संस्करण नया था तथा उसमें अग और अनंग की भेदक रेखा होने पर भी अंग में अनंग का प्रवेश[2] तथा हवाला जो कि दोनों के समप्रामाण्य का सूचक है आ गया था तथा उसके वर्गीकरण तथा पाठस्थापन में भी फर्क हुआ था, फिर भी यह नया संस्करण उस मूल अंग श्रुत के अति निकट था, क्योंकि इसमें विरोधी दल के आचार की पोषक वे सभी बातें थीं जो मूल अंगश्रुत में थीं। इस माथुर-संस्करण के समय से तो मूल अंगश्रुत की समान मान्यता में दोनों दलों का बड़ा ही अन्तर पड़ गया। जिसने दोनों दलों के तीव्र श्रुतभेद की नींव डाली। अचेलत्व का समर्थक दल कहने लगा कि मूल अंगश्रुत सर्वथा लुप्त हो गया है। जो श्रुत सचेल दल के पास है, और जो हमारे पास है वह सब मूल अर्थात् गणधरकृत न होकर पिछले अपने अपने आचार्यों के द्वारा रचित व संकलित है। सचेल दलवाले कहते थे बेशक पिछले आचार्यों के द्वारा अनेकविध नया श्रुत रचा भी गया है, और उन्होंने नयी संकलना भी की है फिर भी मूल अंगश्रुत के भावों में कोई परिवर्त्तन या काट-छाँट नहीं की गई है। बारीकी से देखने तथा ऐतिहासिक कसौटी से कसने पर सचेल दल का वह कथन बहुत कुछ सत्य ही जान पड़ता है; क्योंकि सचेलत्व का पक्षपात और उसका समर्थन करते रहने पर भी उस दल ने अंगश्रुत में से अचेलत्व

---

१ वी० नि० ८२७ और ८४० के बीच। देखो वीरनिर्वाणसंवत् और जैनकालगणना पृ० १०४।

२ जैसे भगवती सूत्र में अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जीवाभिगमसूत्र और राजप्रश्नीय का उल्लेख है। देखो भगवती चतुर्थ खण्ड का परिशिष्ट।

समर्थक, अचेलत्व प्रतिपादक किसी भाग को उड़ा नहीं दिया[१]। जैसे अचेल दल कहता था कि मूल अंगश्रुत लुप्त हुआ वैसे ही उसके सामने सचेल दल यह कहता था कि जिनकल्प अर्थात् पाणिपात्र या अचेलत्व का जिनसम्मत अचार भी काल-भेद के कारण लुप्त ही हुआ है[२]। फिर भी हम देखते हैं कि सचेल दल के द्वारा संस्कृत, संगृहीत, और नव संकलित श्रुत में अचेलत्व के आधारभूत सब पाठ तथा तदनुकूल व्याख्याएँ मौजूद हैं। सचेल दल के द्वारा अवलम्बित अंगश्रुत के मूल अंगश्रुत से अतिनिकटतम होने का सबूत यह है कि वह उत्सर्ग—सामान्य-भूमिका वाला है; जिसमें अचेल-दल के सब अपवादों का या विशेष मार्गों का विधान पूर्णतया आज भी मौजूद है। जब कि अचेल दल द्वारा दल के सम्मत नग्नत्वाचारश्रुत औत्सर्गिक नहीं क्योंकि वह अचेलत्व मात्र का विधान करता है। सचेल दल का श्रुत अचेल तथा सचेल दोनों आचारों को मोक्ष अंग मानता है, वास्तविक अचेल-आचार की प्रधानता भी बतलाता है। उसका मतभेद उसकी सामयिकता मात्र में है जब कि अचेल दल का श्रुत सचेलत्व को मोक्ष का अंग ही नहीं मानता, उसे उसका प्रतिबन्धक तक मानता है[३]। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि सचेल दल का श्रुत अचेल दल के श्रुत की अपेक्षा उस मूल अंगश्रुत से अतिनिकट है।

मथुरा के बाद वलभी[४] में पुनः श्रुत-संस्कार हुआ जिसमें स्थविर या सचेल दल का रहा-सहा मतभेद भी नामशेष हो गया। पर इसके

---

१. देखो प्रस्तुत **परिचय** पृ० २२ की टिप्पणी नं० ३

२. **गण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।**
संजमतिय-केवलि-सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिण्णा॥ विशेषा० २५९३।

३. **सर्वार्थसिद्धि** में नग्नत्व को मोक्ष का मुख्य और अबाधित कारण माना है—पृ० २४८।

४. वी० नि० ८२७ और ८४० के बीच। देखो **वीर निर्वाणसंवत् और जैन कालगणना** पृ० ११०।

साथ ही उस दल के सामने अचेल दल का श्रुत विषयक विरोध उग्रतर बन गया। उस दल में से अमुक ने अब रहा सहा औदासीन्य छोड़ कर सचेल दल के श्रुत का सर्वथा बहिष्कार करने की ठानी।

३ वाचक उमास्वाति स्थविर या सचेल परम्परा के आचार वाले अवश्य रहे। अन्यथा उनके भाष्य और प्रशमरति ग्रन्थ में सचेल धर्मानुसारी प्रतिपादन कभी न होता; क्योंकि अचेल दलके किसी भी प्रवर मुनि की सचेल प्ररूपणा कभी सम्भव नहीं। अचेल दल के प्रधान मुनि कुन्दकुन्द ने भी एकमात्र अचेलत्व का[1] ही निर्देश किया है तब कुन्दकुन्द के अन्वय में होनेवाले किसी अचेल मुनि का सचेलत्व प्रतिपादन संगत नहीं। प्रशमरति की उमास्वाति-कर्तृकता भी विश्वास योग्य है। स्थविर दल की प्राचीन और विश्वस्त वंशावली में उमास्वाति की उच्चानागर शाखा तथा वाचक पद का पाया जाना भी उनके स्थविरपक्षीय होने का सूचक है। उमास्वाति विक्रम की तीसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी तक में किसी भी समय में क्यों न हुए हों पर उन्होंने तत्त्वार्थ की रचना के आधार-रूप जिस अंग-अनंग श्रुत का अवलम्बन किया था वह स्थविरपक्ष को मान्य था[2]। और अचेल दलवाले उसके विषय में या तो उदासीन थे या उसका त्याग ही कर बैठे थे। अगर उमास्वाति माथुरी वाचना के कुछ पूर्व हुए होंगे तब तो उनके द्वारा अवलम्बित अंग और अनंगश्रुत के विषय में अचेल पक्ष का प्रायः औदासीन्य था। अगर वे वालभी वाचना के आसपास हुए हों तब तो उनके अवलम्बित श्रुत के विषय में अचेल दल में से अमुक उदासीन ही नहीं बल्कि विरोधी भी बन गये थे।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य होगा कि जब उमास्वाति अवलम्बित श्रुत

---

१ प्रवचनसार अधि० ३।

२ वृत्तिकार सिद्धसेन द्वारा अवलंबित स्थविर पक्षीय श्रुत वालभी वाचना वाला रहा। जब कि उमास्वाति द्वारा अवलंबित स्थविर पक्षीय श्रुत वालभी वाचना के पहलेका है जो संभवतः माथुरी वाचनावाला होना चाहिए। अतएव कहीं कहीं सिद्धसेन को भाष्य में आगम विरोध दिखाई दिया जान पड़ता है।

अचेल दल में से अमुक को मान्य न था तब उस दल के अनुगामियों ने तत्त्वार्थ को इतना अधिक क्यों अपनाया ? इसका जवाब भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की तुलना में से तथा मूलसूत्र में से मिल जाता है। उमास्वाति जिस सचेलपक्षावलंबित श्रुत को धारण करते थे उसमें नग्नत्व का भी प्रतिपादन और आदर रहा ही जो सूत्रगत (९.९) नाग्न्य शब्द से सूचित होता है। उनके भाष्य में अंगबाह्य रूप से जिस श्रुत का निर्देश है वह सब सर्वार्थसिद्धि में नहीं आया; क्योंकि दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार आदि अचेल पक्ष के अनुकूल ही नहीं है। वह स्पष्टतया सचेल पक्ष का पोषक है; पर सर्वार्थसिद्धि में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन का नाम आता है, जो खास अचेल पक्ष के किसी आचार्य की कृतिरूप से निश्चित न होने पर भी अचेल पक्ष का स्पष्ट विरोधी नहीं।

उमास्वाति के मूलसूत्रों की आकर्षकता तथा भाष्य को छोड़ देने मात्र से उनके अपने पक्षानुकूल बनाने की योग्यता देखकर ही पूज्यपाद ने उन सूत्रों पर ऐसी व्याख्या लिखी जो केवल अचेल धर्म का ही प्रतिपादन करे और सचेल धर्म का स्पष्टतया निरास करे। इतना ही नहीं, बल्कि पूज्यपादस्वामी ने सचेलपक्षावलम्बित एकादश अंग तथा अंगबाह्य श्रुत, जो वालभी वाचना का वर्तमान रूप है उसका भी स्पष्टतया अप्रामाण्य सूचित कर दिया है। उन्होंने कहा है केवली को कवलाहारी मानना तथा मांस आदि के ग्रहण का बतलाना क्रमशः केवली अवर्णवाद तथा श्रुतावर्णवाद है[1]। वस्तुस्थिति यह जान पड़ती है कि पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि जो मुख्यरूप से स्पष्ट अचेलधर्म की प्रतिपादिका है, उसके बन जाने के बाद सचेलपक्षावलम्बित समग्र श्रुत का जैसा बहिष्कार, अमुक अचेल पक्ष ने किया वैसा

---

१ भगवती (शतक १५), आचाराङ्ग (शीलाङ्कटीकासहित पृ० ३३४, ३३५, ३४८, ३५२, ३६४,) प्रश्नव्याकरण (पृ० १४८, १५०) आदि में जो मांस संबन्धी पाठ आते हैं उनको लक्षमें रखकर सर्वार्थसिद्धिकारने कहा है कि आगम में ऐसी बातों का होना स्वीकार करना श्रुतावर्णवाद है। और भगवती (शतक १५) आदि में केवली के आहार का वर्णन है उसको लक्षमें रख कर कहा कि यह तो केवली का अवर्णवाद है।

दृढ़ व ऐकान्तिक बहिष्कार सर्वार्थसिद्धि की रचना के पूर्व न हुआ था। यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धि की रचना के बाद अचेल दल में सचेलपक्षीय श्रुत का प्रवेश नाममात्र का ही रहा जैसा कि उत्तरकालीन दिगम्बर विद्वानों की श्रुतप्रवृत्ति से देखा जाता है। इस स्थिति में अपवाद है[1]; जो नगण्य जैसा है। वस्तुतः पूज्यपाद के आसपास अचेल और सचेल पक्ष में इतनी खींचातानी और पक्षापक्षी बढ़ गई थी कि उसीके फलस्वरूप सर्वार्थसिद्धि के बन जाने तथा उसकी अति प्रतिष्ठा हो जाने पर अचेल पक्ष में से तत्त्वार्थ भाष्य का रहा-सहा भी स्थान हट ही गया। विचार करने से भी इस प्रश्न का अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला कि जैसे तैसे भी सचेलपक्ष ने अंगश्रुत को अभी तक किसी न किसी रूप में सम्हाल रखा, तब बुद्धि में, श्रुत-भक्ति में, और अप्रमाद में जो सचेल पक्ष से किसी तरह कम नहीं उस अचेल पक्ष ने अंग श्रुत को समूल नष्ट होने क्यों दिया? जब कि अचेल पक्ष के अग्रगामी कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, समन्तभद्र आदि का इतना श्रुत विस्तार अचेल पक्ष ने सम्हाल रखा तब कोई सबब न था कि वह आज तक भी अंगश्रुत के अमुक मूल भाग को सम्हाल न सकता। अंगश्रुत को छोड़ कर अंग बाह्य की ओर नजर डालें तब भी प्रश्न ही है कि पूज्यपाद के द्वारा निर्दिष्ट दशवैकालिक, उत्तराध्ययन जैसे छोटे से ग्रन्थ अचेल पक्षीय श्रुत में से लुप्त कैसे हुए? जब कि उनसे भी बड़े ग्रन्थ उस पक्ष में बराबर रहे। सब बातों पर विचार करने से मैं इसी निश्चित नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मूल अंगश्रुत का प्रवाह अनेक अवश्यम्भावी परिवर्तनों की चोटें सहन करता हुआ भी आज तक चला आया है जो अभी श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा सर्वथा माना जाता है और जिसे दिगम्बर फिरका बिलकुल नहीं मानता।

श्रुत के इस सिलसिले में एक प्रश्न की ओर ऐतिहासिक विद्वानों का ध्यान खींचना आवश्यक है। पूज्यपाद तथा अकलङ्क द्वारा दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन का निर्देश किया गया है। इतना

---

१ अकलङ्क और विद्यानन्द आदि सिद्धसेन के ग्रन्थों से परिचित रहे। देखो राजवार्तिक ८. १ १७। श्लोकवार्तिक पृ० ३।

नहीं नहीं बल्कि दशवैकालिक के ऊपर तो नग्नत्व के समर्थक अपराजित आचार्य ने टीका भी रची थी [१]। इन्होंने भगवती-आराधना पर भी टीका लिखी है। ऐसी दशा में सारी दिगम्बर परम्परा में से दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का प्रचार क्यों उठ गया? और जब हम देखते हैं कि मूलाचार, भगवती आराधना जैसे अनेक ग्रन्थ जो कि वस्त्र आदि उपधि का भी अपवाद रूप से मुनि के लिए निरूपण करते हैं और जिनमें आर्यिकाओं के मार्ग का भी निरूपण है और जो दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन की अपेक्षा मुनि-आचार का किसी तरह उत्कट प्रतिपादन नहीं करते; वे ग्रन्थ सारी दिगम्बर परम्परा में एक से मान्य हैं और जिन पर कई प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानों ने संस्कृत तथा भाषा (हिन्दी) में टीकाएँ भी लिखी हैं। तब तो हमारा उपर्युक्त प्रश्न और भी बलवान् बन जाता है। मूलाचार तथा भगवती आराधना जैसे ग्रन्थों को श्रुत में स्थान देने वाली दिगम्बर परम्परा दशवैकालिक और उत्तराध्ययन को क्यों नहीं मानती? अथवा यों कहिये कि दशवैकालिक आदि को छोड़ देने वाली दिगम्बर-परम्परा मूलाचार आदि को कैसे मान सकती है? इस असंगति सूचक प्रश्न का जवाब सरल भी है और कठिन भी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो सरल है और केवल पन्थ दृष्टि से सोचें तो कठिन है।

जो इतिहास नहीं जानते वे बहुधा यही सोचते हैं कि अचेल या दिगम्बर परम्परा एक मात्र नग्नत्व को ही मुनित्व का अंग मानती है या मान सकती है। नग्नत्व के अतिरिक्त थोड़े भी उपकरण धारण को दिगम्बरत्व के विचार में कोई स्थान ही नहीं। और जब से दिगम्बर परंपरा में तेरापन्थ की भावना ने ज़ोर पकड़ा और दूसरे दिगम्बर-अवान्तर पक्ष या तो नामशेष हो गये या तेरापन्थ के प्रभाव में दब गए; तब से तो पन्थदृष्टिवालों का उपर्युक्त विचार और भी पुष्ट हो गया कि मुनित्व का अंग तो एकमात्र नग्नत्व है थोड़ी भी उपधि उसका अंग हो नहीं सकती और नग्नत्व की असंभावना के कारण न स्त्री ही मुनि धर्म की अधिकारिणी

---

१ देखो, भगवती आराधना पृ० ११९६, और अनेकान्त वर्ष २ अंक १ पृ० ५७।

बन सकती है। ऐसी पन्थ दृष्टि वाले उपर्युक्त असंगति का सच्चा समाधान पा ही नहीं सकते। उनके लिए यही मार्ग रह जाता है कि या तो वे कह देवें कि वैसे उपधि प्रतिपादक सभी ग्रन्थ श्वेताम्बर हैं या श्वेताम्बर प्रभाववाले किन्हीं विद्वानों के बनाए हुए हैं या उनका तात्पर्य पूर्ण दिगंबर मुनित्व का प्रतिपादन करना नहीं है। ऐसा कह कर भी वे अनेक उलझनों से मुक्त तो हो ही नहीं सकते। अतएव उनके लिए प्रश्न का सच्चा जवाब कठिन है।

परन्तु जैन परम्परा के इतिहास के अनेक पहलुओं का अध्ययन तथा विचार करनेवाले के लिए वैसी कोई कठिनाई नहीं। जैनपरम्परा का इतिहास कहता है कि अचेल या दिगम्बर कहलानेवाले पक्ष में भी अनेक संघ या गच्छ ऐसे हुए हैं जो मुनिधर्म के अंगरूप से उपधिका आत्यन्तिक त्याग मानने न मानने के विषय में पूर्ण एकमत नहीं थे। कुछ संघ ऐसे भी थे जो नग्नत्व और पाणिपात्रत्व का पक्ष करते हुए भी व्यवहार में थोड़ी-बहुत उपधिका स्वीकार अवश्य करते थे। वे एक तरह से मृदु या मध्यममार्गी अचेलदल वाले थे। कोई संघ या कुछ संघ ऐसे भी थे जो मात्र नग्नत्व का पक्ष करते थे और व्यवहार में भी उसीका अनुसरण करते थे। वे ही तीव्र या उत्कृष्ट अचेलदल वाले थे। जान पड़ता है कि संघ या दल कोई भी हो पर पाणि-पात्रत्व सब का साधारण रूप था। इसीसे वे सब दिगम्बर ही समझे जाते थे। इसी मध्यम और उत्कट भावनावाले जुदे जुदे संघ या गच्छों के विद्वानों या मुनियों द्वारा रचे जानेवाले आचार ग्रन्थों में नग्नत्व और वस्त्र आदि का विरोधी निरूपण आ जाना स्वाभाविक है। इसके सिवाय यापनीय जैसे कुछ ऐसे भी संघ हुए जो न तो बिलकुल सचेल पक्ष के समझे गए और न बिलकुल अचेल पक्ष में ही स्थान पा सके। ऐसे संघ जब लुप्त हो गए तब उनके आचार्यों की कुछ कृतियाँ तो श्वेतांबर पक्ष के द्वारा ही मुख्यतया रक्षित हुई जो उस पक्ष के विशेष अनुकूल थीं और कुछ कृतियाँ दिगम्बर पक्ष में ही विशेषतया रह गईं और कालक्रम से दिगम्बर ही मानी जाने लगीं। इस तरह प्राचीन और मध्यकालीन तथा मध्यम और उत्कट भावनावाले अनेक दिगम्बर संघों के विद्वानों की कृतियों में

समुचितरूप से कहीं नग्नत्व का आत्यन्तिक प्रतिपादन और कहीं मर्यादित उपधिका प्रतिपादन दिखाई दे तो यह असंगत बात नहीं। इस समय जो दिगम्बर फिरके में नग्नत्व का आत्यन्तिक आग्रह रखने वाली तेरापन्थीय भावना प्रधानतया देखी जाती है वह पिछले २००-३०० वर्ष का परिणाम है। केवल इस वर्तमान भावना के आधार से पुराने सब दिगम्बरीय समझे जानेवाले साहित्य का खुलासा कभी संभव नहीं। दशवैकालिक आदि ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में इतनी अधिक प्रतिष्ठा को पाये हुए हैं कि जिनका त्याग आप ही आप दिगम्बर परम्परा में सिद्ध हो गया। संभव है अगर मूलाचार आदि ग्रन्थों को भी श्वेताम्बर परंपरा पूरे तौर से अपनाती तो वे दिगम्बर परम्परा में शायद ही अपना ऐसा स्थान गनाए रखते।

(घ) उमास्वाति की जाति और जन्म-स्थान

प्रशस्ति में स्पष्टरूप से जातिविषयक कोई कथन नहीं, फिर भी माता का गोत्रसूचक 'वात्सी' नाम इसमें मौजूद है और 'कौभीषणि' भी गोत्रसूचक विशेषण है। गोत्र का यह निर्देश उमास्वाति का ब्राम्हण जाति होने की सूचना करता है, ऐसा कहना गोत्र परम्परा को ठेठ से पकड़ रखनेवाली ब्राम्हण जाति के वंशानुक्रम के अभ्यासी को शायद ही सदोष मालूम पड़े। वाचक उमास्वाति के जन्म-स्थान रूप से प्रशस्ति 'न्यग्रोधिका' ग्राम का निर्देश करती है। यह न्यग्रोधिका स्थान कहाँ है, इसका इतिहास क्या है और इस समय उसकी क्या स्थिति है— यह सब अंधकार में है। इसकी शोध करना यह एक रस का विषय है। तत्त्वार्थ-सूत्र के रचना-स्थान रूप से प्रशस्ति में 'कुसुमपुर' का निर्देश है। यही कुसुमपुर इस समय बिहार का पटना है। प्रशस्ति में कहा गया है कि विहार करते-करते पटना में तत्त्वार्थ की रचना हुई। इस पर से नीचे की कल्पनाएँ स्फुरित होती हैं:

१—उमास्वाति के समय में और उसके कुछ आगे-पीछे मगध में जैन भिक्षुओं का खूब विहार होना चाहिए और उस तरफ जैन संघ का बल तथा आकर्षण भी होना चाहिए।

२—विशिष्ट शास्त्र के लेखक जैन भिक्षुक अपनी अनियत स्थानवास की परम्परा को बराबर कायम रख रहे थे और ऐसा करके उन्होंने अपने कुल को 'जंगम विद्यालय' बना लिया था।

३—विहार-स्थान पाटलीपुत्र (पटना) और मगधदेश से जन्म-स्थान न्यग्रोधिका सामान्य तौर पर बहुत दूर तो नहीं होगा।

तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार

तत्त्वार्थ के व्याख्याकार श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में हुए हैं; परन्तु इसमें भेद यह है कि श्वेताम्बर परम्परा में सभाष्य तत्त्वार्थ की व्याख्याओं का प्राधान्य है और दिगम्बर परम्परा में मूल सूत्रों की ही व्याख्याएँ हुई हैं। दोनों सम्प्रदायों के इन व्याख्याकारों में कितने ही ऐसे विशिष्ट विद्वान् हैं जिनका स्थान भारतीय दार्शनिकों में भी आ सकता है, इससे ऐसे कुछ विशिष्ट व्याख्याकारों का ही यहाँ संक्षेप में परिचय दिया जाता है।

(क) उमास्वाति

तत्त्वार्थ सूत्र पर भाष्य रूप से व्याख्या लिखने वाले स्वयं सूत्रकार उमास्वाति ही हैं, अतः इनके विषय में यहाँ अलग से लिखने की जरूरत नहीं है क्योंकि इनके विषय में पहले लिखा जा चुका है। सिद्धसेनगणि[1] की तरह आचार्य हरिभद्र[2] भी भाष्यकार और सूत्रकार को एक ही समझते हैं ऐसा उनकी भाष्य टीका का अवलोकन करने से स्पष्ट जान पड़ता है। हरिभद्र प्रशमरति[3] को भाष्यकार की ही रचना समझते हैं। ऐसी दशा में

---

१ देखो प्रस्तुत परिचय पृ० १६ टि० १ और पृ० २०।

२ "एतन्निबन्धनत्वात् संसारस्येति स्वाभिप्रायमभिधाय मतान्तरमुपन्यसन्नाह—एके त्वित्यादिना"—पृ० १४१।

३ "यथोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे" कहकर हरिभद्र भाष्यटीका में प्रशमरति की २१० वीं और २११ वीं कारिका उद्धृत करते हैं।

भाष्य को स्वोपज्ञ न मानने की आधुनिक कल्पनायें भ्रांत हैं। पूज्यपाद, अकलङ्क आदि किसी प्राचीन दिगम्बर टीकाकार ने ऐसी बात नहीं उठाई है जो भाष्य की स्वोपज्ञता के विरुद्ध हो।

(ख) गन्धहस्ती[1]

वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर व्याख्या या भाष्य के रचयिता के रूप से दो गंधहस्ती जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं। उनमें एक दिगम्बराचार्य और दूसरे श्वेताम्बराचार्य माने जाते हैं। गंधहस्ती विशेषण है। दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान् समन्तभद्र का यह विशेषण समझा जाता है और इससे ऐसा फलित होता है कि आप्तमीमांसा के रचयिता गंधहस्तिपदधारी स्वामी समन्तभद्र ने वा० उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र पर व्याख्या लिखी थी। श्वेताम्बर परम्परा में गंधहस्ती विशेषण वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर का होने की मान्यता इस समय प्रचलित है। इस मान्यता के अनुसार यह फलित होता है कि सन्मति के रचयिता और वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर ने वा० उमास्वाति के तत्त्वार्थ-सूत्र पर व्याख्या रची थी। ये दोनों मान्यतायें और उन पर से फलित उक्त मन्तव्य अप्रामाणिक होने से ग्राहय नहीं हैं। दिगम्बराचार्य समन्तभद्र की कृति के लिए गंधहस्ती विशेषण व्यवहृत मिलता है जो लघुसमन्तभद्र कृत अष्टसहस्री के टिप्पण में स्पष्टतया देखा जाता है। लघुसमन्तभद्र[2] १४वीं,

---

१ "शक्रस्तव" नाम से प्रसिद्ध "नमोत्थुणं" के प्राचीन स्तोत्र में "पुरिसवरगन्धहत्थीणं" कह कर श्रीतीर्थंकरको गंधहस्ती विशेषण दिया हुआ है। तथा दसवीं और ग्यारहवीं शक-शताब्दी के दिगम्बर शिलालेखों में एक वीर सैनिक को गन्धहस्ती का उपनाम दिया उपलब्ध होता है। और एक जैन मन्दिर का नाम भी 'सवति गंधवारण जिनालय' है। देखो डा० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित जैन **शिलालेख संग्रह** पृ० १२३ तथा १२९. चन्द्रगिरि पर्वत पर के शिलालेख।

२ देखो पं० जुगलकिशोर जी लिखित **स्वामी समन्तभद्र**—पृ० २१४–२२०।

१५वीं शताब्दी के आसपास कभी हुए समझे जाते हैं। उनके प्रस्तुत उल्लेख का समर्थन करने वाला एक भी सुनिश्चित प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है। अब तक के वाचन-चिन्तन से मैं इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कहीं भाष्य, कहीं महाभाष्य, कहीं तत्त्वार्थभाष्य कहीं गन्धहस्तिभाष्य जैसे अलग अलग बिखरे हुए अनेक उल्लेख दिगम्बर साहित्य में देखे जाते हैं और कहीं स्वामी समन्तभद्र के नाम का तत्त्वार्थ-महाभाष्य के साथ निर्देश भी है। यह सब देख कर पिछले अर्वाचीन लेखकों को यह भ्रान्ति-मूलक विश्वास हुआ कि स्वामी समन्तभद्र ने उमास्वाति के तत्वार्थ पर गन्ध-हस्ती नाम का महाभाष्य रचा था। इसी विश्वास ने उन्हें ऐसा लिखने को प्रेरित किया। वस्तुतः उनके सामने न तो ऐसा कोई प्राचीन आधार था और न कोई ऐसी कृति थी जो तत्त्वार्थ-सूत्र के ऊपर गन्धहस्ती-भाष्य नामक व्याख्या को समन्तभद्र-कर्तृक सिद्ध करते। भाष्य,महाभाष्य,गन्ध-हस्ती आदि जैसे बड़े बड़े शब्द तो थे ही; अतएव यह विचार आना स्वाभाविक है कि समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य के सिवाय ऐसी कृति कौन रचता? विशेष कर इस हालत में कि जब अकलङ्क आदि पिछले आचार्यों के द्वारा रची गई कोई कृति गन्धहस्ति-भाष्य नाम से निश्चित की न जा सकती हो। उमास्वाति के अतिप्रचलित तत्त्वार्थ पर स्वामी समन्तभद्र जैसे की छोटी-बड़ी कोई कृति हो तो उसके उल्लेख या किसी अवतरण का सर्वार्थसिद्धि, राज-वार्तिक आदि जैसी अति-शास्त्रीय टीकाओं में सर्वथा न पाया जाना कभी संभव नहीं। यह भी संभव नहीं है कि वैसी कोई कृति सर्वार्थसिद्धि आदि के समय तक लुप्त ही हो गई हो जब कि समन्तभद्र के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मौजूद हैं। जो हो, इस बारे में मुझे अब कोई सन्देह नहीं है कि तत्त्वार्थ के ऊपर समन्तभद्र कृत गन्धहस्ती नामक कोई भाष्य नहीं था।

श्रीयुत पं० जुगलकिशोरजी ने 'अनेकान्त (वर्ष १ पृ० २१६) में लिखा है कि 'धवला' में गन्धहस्ती भाष्य का उल्लेख आता है, पर हमें धवला की असल नकल की जाँच कहने वाले पं० हीरालालजी न्यायतीर्थ के द्वारा विश्वस्त रूप से मालूम हुआ है कि धवला में गन्धहस्ती भाष्य शब्द का कोई उल्लेख नहीं है।

वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर गन्धहस्ती हैं ऐसी श्वेताम्बर मान्यता सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजय जी के एक उल्लेख पर से प्रचलित हुई है। उपाध्याय यशोविजयजी ने अपने 'महावीरस्तव' में गन्धहस्ती के कथन रूप से सिद्धसेन दिवाकर के 'सन्मति' की एक गाथा उद्धृत की है। उस पर से आज कल ऐसा माना जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर ही गंधहस्ती हैं। परन्तु उ० यशोविजयजी का यह उल्लेख भ्रान्ति जन्य है। इसे सिद्ध करने वाले दो प्रमाण इस समय स्पष्ट हैं। एक तो यह कि उ० यशोविजयजी से पूर्व के किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थकार ने सिद्धसेन दिवाकर के साथ या उनकी निश्चित मानी जाने वाली कृतियों के साथ या उन कृतियों में से उद्धृत अवतरणों के साथ एक भी स्थल पर गंधहस्ती विशेषण का उपयोग नहीं किया है। सिद्धसेन दिवाकर की कृति के अवतरण के साथ गंधहस्ती विशेषण का व्यवहार करनेवाले केवल उक्त यशोविजयजी ही हैं। अतः उनका यह कथन किसी भी प्राचीन आधार से रहित है। इसके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकर के जीवन वृत्तान्तवाले जितने [२] प्राचीन या अर्वाचीन प्रबन्ध मिलते हैं उनमें कहीं भी गन्धहस्ती पद व्यवहृत दृष्टिगोचर नहीं होता; जब कि दिवाकर पद प्राचीन प्रबन्धों तक में और दूसरे आचार्यों के ग्रन्थों [३] में भी प्रयुक्त

---

१ "अनेनैवाऽभिप्रायेणाह गन्धहस्ती सम्मतौ—" न्यायखण्डखाद्य श्लोक० १६ पृ०१६ द्वि०।

२ भद्रेश्वरकृत कथावलीगत सिद्धसेन प्रबन्ध, अन्य लिखित सिद्धसेनप्रबन्ध, प्रभावकचरित्रगत वृद्धवादिप्रबन्धांतर्गत सिद्धसेन प्रबन्ध, प्रबन्धचिंतामणिगत विक्रम प्रबन्ध और चतुर्विंशतिप्रबन्ध।

सिद्धसेन के जीवन प्रबन्धों में जैसे दिवाकर उपनाम आता है और उसका समर्थन मिलता है वैसे गंधहस्ती के विषय में कुछ भी नहीं है। यदि गन्धहस्ती पद का इतना प्राचीन प्रयोग मिलता है तो यह प्रश्न होता ही है कि प्राचीन ग्रंथकारों ने दिवाकर पद की तरह 'गंधहस्तीपद सिद्धसेन के नाम के साथ या उनकी किसी निश्चित कृति के साथ प्रयुक्त क्यों नहीं किया?

३ देखो हरिभद्रकृत पंचवस्तु गाथा १०४८, पृ० १५६।

मिलता है। दूसरा प्रबल और अकाट्य प्रमाण है कि उ० यशोविजयजी से पहले के [1] अनेक ग्रन्थों में जो गन्धहस्ती के अवतरण मिलते हैं वे सभी

---

१ तुलना के लिए देखो—

"निद्रादयो यतः समधिगताया एव दर्शनलब्धेः उपयोगघाते प्रवर्त्तन्ते चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टयं तूद्गमोच्छेदित्वात् मूलघातं निहन्ति दर्शनलब्धिम् इति।" **तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति** पृ० १३५, पं ४। भाग २	"आह च गन्धहस्ती—निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते दर्शनावरणचतुष्टयन्तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धमिति" **प्रवचनसारोद्धार** की सिद्धसेनीय वृत्तिपृ० ३५८, प्र० पं० ५। **सितरी-टीका** मलयगिरि कृत गाथा ५। देवेन्द्र कृत प्रथम **कर्मग्रन्थ** टीका गाथा १२।
"या तु भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगाऽयोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीयसप्तकक्षयादपायसद्द्रव्यक्षयाच्चोदपादि सा सादिरपर्यवसाना इति।" **तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति** पृ० ५९, पं० २७।	"यदाह गन्धहस्ती—भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगायोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीसप्तकक्षयाविर्भूता सम्यग्दृष्टिः सादिरपर्यवसाना इति।" **नवपदवृत्ति** पृ० ८८ द्वि०
"तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी श्रेणिकादीनां सद्द्रव्यापगमे च भवति अपायसहचारिणी सा सादिसपर्यवसाना"—**तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति** पृ० ५९ पं० २७	"यदुक्तं गन्धहस्तिना—तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी; अपायो-मतिज्ञानांशः सद्द्रव्याणि—शुद्धसम्यक्त्वदलिकानि तद्वर्तिनी श्रेणिकादीनां च सद्द्रव्यापगमे भवत्यपायसहचारिणी सा सादिसपर्यवसाना इति।" **नवपदवृत्ति** पृ० ८८ द्वि०
"प्राणापानावुच्छ्वासनिःश्वासक्रियालक्षणौ।" **तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति** पृ० १६१ पं० १३।	"यदाह गन्धहस्ती—प्राणापानौ उच्छ्वासनिःश्वासौ इति" **धर्मसंग्रहणी-वृत्ति**(मलयगिरि)पृ० ४२, प्र० पं० २।

अवतरण कहीं तो ज़रा भी परिवर्तन बिना ही और कहीं तो बहुत ही थोड़े परिवर्तन के साथ और कहीं तो भावसाम्य के साथ सिंहसूर के प्रशिष्य और भास्वामी के शिष्य सिद्धसेन की तत्त्वार्थभाष्य पर वृत्ति में मिलते हैं। इस पर से इतना तो निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि गन्धहस्ती प्रचलित परम्परा के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर नहीं, किन्तु उपलब्ध तत्त्वार्थभाष्य की वृत्तिके रचयिता भास्वामी के शिष्य सिद्धसेन ही हैं। नाम के सादृश्य से और प्रकाण्डवादी तथा कुशल ग्रन्थकार के रूप से प्रसिद्धि प्राप्त सिद्धसेन दिवाकर ही गन्धहस्ती हो सकते हैं ऐसी मान्यता में से उ० यशोविजयजी की दिवाकर के लिये गन्धहस्ती विशेषण के प्रयोग करने की भ्रान्ति उत्पन्न हुई हो—ऐसा सम्भव है।

ऊपर की दलीलों पर से हम स्पष्ट देख सकते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध गंधहस्ती तत्त्वार्थ-सूत्र के भाष्य की उपलब्ध विस्तीर्ण वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही हैं। इस पर से हमें निश्चित रूप से ऐसा मानने के कारण मिलते हैं कि सन्मति के टीकाकार दसवीं शताब्दी के अभयदेव ने अपनी टीका[१] में दो स्थानोंपर गंधहस्ति पद का प्रयोग कर उनकी रचित तत्त्वार्थ व्याख्या देख लेने की जो सूचना की है वह

"अतएव च भेदः प्रदेशानामवयवानां च, ये न जातुचिद् वस्तुव्यतिरेकेणोपलभ्यन्ते ते प्रदेशाः ये तु विशकलिताः परिकलितमूर्तयःप्रज्ञापथमवतरन्ति तेऽवयवाः।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ३२८ पं० २१।

"यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति"—स्याद्वादमंजरी पृ० ६३, श्लो० ९।

१ सन्मति के दूसरे काण्ड की प्रथम गाथा की व्याख्या की समाप्ति में टीकाकार अभयदेव ने तत्त्वार्थ के प्रथम अध्याय के ९ से १२ सूत्र उद्धृत किये हैं और वहाँ उन सूत्रों की व्याख्या के विषय में गन्धहस्ती की सिफारिश करते हुए कहा है कि—'अस्य च सूत्रसमूहस्य व्याख्या गन्धहस्ति

अन्य कोई नहीं, प्रत्युत उपलब्ध भाष्यवृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही हैं। इसलिए सम्मति टीका में अभयदेव ने तत्त्वार्थ पर की जिस गंधहस्ती कृत व्याख्या देख लेने की सूचना की है उस व्याख्या के लिए अब नष्ट या अनुपलब्ध साहित्य की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं है। इसी अनुसंधान में यह भी मानना आवश्यक प्रतीत होता है कि नवमी-दसवीं शताब्दी के ग्रन्थकार शीलाङ्क[1] ने अपनी आचारांग सूत्र की टीका में जिस गन्धहस्ति कृत[2] विवरण का उल्लेख किया है वह भी तत्त्वार्थ भाष्य की वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन का ही होना चाहिए; क्योंकि, बहुत ही नजदीक के अन्तर में हुए शीलाङ्क और अभयदेव, दोनों भिन्न-भिन्न आचार्यों के लिए गन्धहस्ती पद का प्रयोग करें यह असम्भव है। और, अभयदेव जैसे बहुश्रुत विद्वान ने, जैन आगमों में प्रथम स्थान धारण करने वाले आचाराङ्ग सूत्र की थोड़े ही समय पूर्व हुए शीलाङ्क सूरि रचित वृत्ति न देखी हो ऐसी कल्पना करना ही कठिन है। और फिर, शीलाङ्क ने स्वयं ही अपनी टीकाओं में जहाँ जहाँ सिद्धसेन दिवाकर कृत सन्मति की गाथाएँ उद्धृत की हैं वहाँ किसी भी स्थल पर गन्धहस्ति-पद का प्रयोग नहीं किया, अतएव शीलाङ्क के अभिमत से गन्धहस्ती दिवाकर नहीं हैं यह स्पष्ट है।

प्रभृतिभिर्विहितेति न प्रदर्श्यते"–पृ० ५९५ पं० २४। इसी प्रकार तृतीय काण्ड की ४४ वीं गाथा में आए हुए 'हेतुवाद' पद की व्याख्या करते हुए उन्होंने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' रखे कर इसके लिए भी लिखा है "तथा गन्धहस्ति-प्रभृतिभिर्विक्रान्तामिति नेह प्रदर्श्यते"—पृ० ६५१. पं० २०

१ देखो आचार्य जिनविजयजी द्वारा सम्पादित 'जीतकल्प' की प्रस्तावना पृ० १९। परिशिष्ट, शीलाङ्काचार्य के विषय में अधिक ब्योरा।

२ "शस्त्रपरिज्ञा विवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्'। तथा—

"शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनमितीव किल वृतं पूज्यैः।
श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम्॥"

आचारांगटीका पृ० १ तथा ८२ का प्रारंभ।

ऊपर की विचारसरणी के बल पर हमने पहिले जो निश्चित किया था[1] उसका संपूर्णतया समर्थक उल्लिखित प्राचीन प्रमाण भी हमें प्रथम हिन्दी आवृत्ति के समय मिल गया है जो हरिभद्रीय अधूरी वृत्ति के पूरक यशोभद्र सूरि के शिष्य ने लिखा है। वह इस प्रकार है—

"सूरियशोभद्रस्य (हि) शिष्येण समुद्धृता स्वबोधार्थम्।
तत्त्वार्थस्य हि टीका जडकायार्जना धृता यात्यां नृद्धृता ॥
(० यर्जुनोद्धृतान्त्यार्धा) ॥ १ ॥

हरिभद्राचार्येणारब्धा विवृतार्धषडध्यायांश्च।
पूज्यैः पुनरुद्धृतेयं तत्त्वार्थार्द्धस्य टीकान्त्या ॥ २ ॥ इति ॥ पृ० ५२१

एतदुक्तं भवति–हरिभद्राचार्येणार्धषण्णामध्यायानामाद्यानां टीकाकृता, भगवता तु गन्धहस्तिना सिद्धसेनेन या कृता तत्त्वार्थटीका न यैर्वादस्थानैर्व्याकुला, तस्या एव शेषमु (धा उ) द्धृताचार्येण स्वबोधार्थं सात्यन्तगुर्वी (र्व्ये) डुपुडुपिका टीका निष्पन्ना इत्यलं प्रसंगेन पृ. ५२१ यह पाठ अन्य लिखित प्रति से शुद्ध किया गया है–देखो आत्मानंद प्रकाश ४५.१० पृ० १९३

(ग) सिद्धसेन

तत्त्वार्थभाष्य के ऊपर श्वेताम्बराचार्यों की रची हुई दो पूर्ण वृत्तियाँ इस समय मिलती हैं। इनमें एक बड़ी और दूसरी उससे छोटी है। बड़ी वृत्ति के रचने वाले सिद्धसेन ही यहाँ पर प्रस्तुत हैं। ये सिद्धसेन दिन्नगणि के शिष्य[2] सिंहसूर के शिष्य भास्वामी के शिष्य थे, यह बात इनकी भाष्यवृत्ति के अन्त में दी हुई प्रशस्ति पर से सिद्ध है। गंधहस्ती के विचार प्रसंग में दी हुई युक्तियों से यह भी जाना जाता है कि गंधहस्ती प्रस्तुत सिद्धसेन ही हैं। जब तक दूसरा कोई खास प्रमाण न मिले

---

१ देखो गुजराती तत्त्वार्थविवेचन परिचय पृ० ३६।

२ यही सिंहसूर नयचक्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार हैं देखो, श्री आत्मानंद प्रकाश ४५. १०. पृ० १९१

तब तक उनकी दो कृतियाँ मानने में शंका नहीं रहती—एक तो आचारांग विवरण जो अनुपलब्ध है और दूसरी तत्त्वार्थभाष्य की उपलब्ध बड़ी वृत्ति। इनका 'गंधहस्ती' नाम किसने और क्यों रक्खा, इस विषय में सिर्फ कल्पना ही कर सकते हैं। इन्होंने स्वयं तो अपनी प्रशस्ति में गंधहस्तिपद जोड़ा नहीं, जिससे मालूम होता है कि जैसा सामान्य तौर पर बहुतों के लिये घटित होता है वैसा इनके लिये भी घटित हुआ है—अर्थात् इनके शिष्य या भक्त अनुगामी ने इनको गंधहस्ती के तौर पर प्रसिद्ध किया है। यह बात यशोभद्रसूरि के शिष्य के उपर्युक्त उल्लेख से और भी स्पष्ट हो जाती है। ऐसा करने का कारण यह जान पड़ता है कि प्रस्तुत सिद्धसेन सैद्धान्तिक थे और आगमशास्त्रों का विशाल ज्ञान धारण करन के अतिरिक्त वे आगमविरुद्ध मालूम पड़ने वाली चाहे जैसी तर्कसिद्ध बातों का भी बहुत ही आवेशपूर्वक खंडन करते थे और सिद्धान्तपक्ष का स्थापन करते थे। यह बात उनकी तार्किकों के विरुद्ध की गई कटु चर्चा देखने से अधिक संभव जान पड़ती है। इसके सिवाय, उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य पर जो वृत्ति लिखी है वह अठारह हजार श्लोक प्रमाण होकर उस वक्त की रची हुई तत्त्वार्थभाष्य पर की सभी व्याख्याओं में कदाचित् बड़ी होगी। इस बड़ी वृत्ति और उसमें किये गये आगम के समर्थन को देखकर उनके किसी शिष्य या भक्त अनुगामी ने उनके जीवन में अथवा उनके पीछे उनके लिये 'गंधहस्ती' विशेषण प्रयुक्त किया हो, ऐसा जान पड़ता है। उनके समय के सम्बन्ध में निश्चयरूप से कहना अभी शक्य नहीं, फिर भी वे विक्रमी सातवीं और नववीं शताब्दी के मध्य में होने चाहिएँ, यह निःसन्देह है। क्योंकि उन्होंने अपनी भाष्यवृत्ति में वसुबंधु[1] आदि अनेक बौद्ध विद्वानों का उल्लेख

---

१ प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् 'वसुबंधु' का वे 'आमिषगृद्ध' कह कर निर्देश करते हैं—"तस्मादेनःपदमेतत् वसुबन्धोरामिषगृद्धस्य गृध्रस्येवाऽप्रेक्ष्यकारिणः"। "जातिरुपन्यस्ता वसुबन्धुवैधेयेन।"—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ६८, पं० १ तथा २९। नागार्जुन-रचित धर्मसंग्रह पृ० १३ पर जो आनन्तर्य पाँच पाप आते हैं और जिनका वर्णन शीलांक ने सूत्रकृतांग की (पृ० २१५) टीका में दिया हैं, उनका उल्लेख भी सिद्धसेन करते हैं—भाष्यवृत्ति पृ० ६७।

किया है। उनमें एक सातवीं शताब्दी के धर्मकीर्ति[1] भी हैं अर्थात् सातवीं शताब्दी के पहिले वे नहीं हुए, इतना तो निश्चित होता है। दूसरी तरफ नवबीं शताब्दी के विद्वान् शीलाङ्क ने गंधहस्ती नाम से उनका उल्लेख[2] किया है, इससे वे नवबीं शताब्दी के पहले किसी समय होने चाहिएँ। सिद्धसेन नयचक्र के वृत्तिकार सिंहसूर गणिक्षमा श्रमण के प्रशिष्य थे। सिंहसूर विक्रम की सातवीं शताब्दी के मध्य में अवश्य विद्यमान थे अतएव सिद्धसेन का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम पाद से लेकर आठवीं शताब्दी के मध्यभाग तक रहा हो ऐसा मालूम होता है। सिद्धसेन ने अपनी वृत्ति में सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो संभवतः अकलंक का होगा। यदि यह बात ठीक है तो कहना चाहिए कि अकलंक और सिद्धसेन—दोनों समकालीन होंगे। यह भी अधिक संभव है कि अकलंक का राजवार्तिक सिद्धसेन ने देखा हो।

(घ) हरिभद्र

ऊपर सूचित की हुई तत्त्वार्थभाष्य की छोटी वृत्ति के प्रणेता हरिभद्र ही यहाँ प्रस्तुत हैं। यह छोटी वृत्ति रतलामस्थ श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी नामक संस्था की ओर से प्रकाशित हुई। यह वृत्ति केवल हरिभद्राचार्य की कृति नहीं है; किन्तु इसकी रचना में कम से कम[3] तीन आचार्यों का हाथ है। उनमें से एक हरिभद्र भी हैं। इन्हीं हरिभद्र का विचार यहाँ

---

१ "भिक्षुवरधर्मकीर्तिनाऽपि विरोध उक्तः प्रमाणविनिश्चयादौ।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ३९७ पं० ४।

२ देखो प्रस्तुत परिचय पृ० ३९ टि० २।

३ तीन से ज्यादा भी इस वृत्ति के रचयिता हो सकते हैं क्योंकि हरिभद्र, यशोभद्र और यशोभद्र के शिष्य ये तीन तो निश्चित ही हैं किन्तु अष्टम नवम अध्याय के अन्त की पुष्पिका के आधार पर अन्य की भी कल्पना हो सकती है—"इति श्री तत्त्वार्थटीकायां हरिभद्राचार्यप्रारब्धायां डुपडुपिकाभिधानायां तस्यामेवान्यकर्तृकायां नवमोऽध्यायः समाप्तः"।

प्रस्तुत हैं। श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र नाम के कई आचार्य हो गये हैं[1] जिनमें से याकिनीसूनु रूप से प्रसिद्ध सैकड़ों ग्रन्थों के रचयिता आ० हरिभद्र ही इस छोटी वृत्ति के रचयिता माने जाते हैं। परन्तु इस बारे में कोई असंदिग्ध प्रमाण अभी हमारे सामने नहीं हैं।

[2] मुनि श्री जंबूविजयजीने हरिभद्रीय वृत्ति और सिद्धसेनीय वृत्ति दोनों की तुलना की है और बतलाया है कि हरिभद्रने सिद्धसेनीय वृत्ति का अवलंबन लिया है। अगर यह बात ठीक है तो कहना होगा कि सिद्धसेन की वृत्ति के बाद ही हरिभद्रीय वृत्ति की रचना हुई है।

(ङ) देवगुप्त, यशोभद्र तथा यशोभद्र के शिष्य

उक्त हरिभद्र ने साढ़े पाँच अध्याय की वृत्ति रची। इसके बाद तत्त्वार्थभाष्य के सारे भाग के ऊपर जो वृत्ति है उसकी रचना दो व्यक्तियों के द्वारा हुई तो निश्चित ही जान पडती है। जिनमें से एक यशोभद्र नाम के आचार्य हैं। दूसरे उनके शिष्य है, जिनके नाम का कोई पता नहीं। यशोभद्र के अज्ञात नामक उस शिष्य ने दशम अध्याय के अन्तिम सूत्रमात्र के भाष्य के ऊपर वृत्ति लिखी है। इसके पहले के हरिभद्र त्यक्त सब भाष्य भाग के ऊपर यशोभद्र की वृत्ति है। यह बात उस यशोभद्रसूरि के शिष्य के वचनों से ही स्पष्ट हैं[3]।

श्वेताम्बर परम्परा में यशोभद्र नाम के अनेक आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं[4]।

इनमें से प्रस्तुत यशोभद्र कौन हैं यह अज्ञात है। प्रस्तुत यशोभद्र भाष्य की अधूरी वृत्ति के रचयिता हरिभद्र के शिष्य थे इसका कोई निर्णा-

---

१ देखो मुनि कल्याणविजयजी लिखित **धर्मसंग्रहणी** की प्रास्तावना पृ० २ से।

२ देखो आत्मानन्द प्रकाश वर्ष ४५. अंक १० पृ० १९३।

३ देखो प्रस्तुत **परिचय** पृ० ४०।

४ देखो **जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास**, परिशिष्ट में यशोभद्र।

यक प्रमाण नहीं है। इसके विरुद्ध यह तो कहा जा सकता है कि अगर प्रस्तुत यशोभद्र उन हरिभद्र के शिष्य होते तो यशोभद्र का शिष्य जो वृत्ति की समाप्ति करनेवाला है और जिसने हरिभद्र की अधूरी वृत्ति का अपने गुरु यशोभद्र के द्वारा निर्वाहित होना लिखा है वह अपने गुरु के नाम के साथ हरिभद्र शिष्य इत्यादि कोई विशेषण बिना लगाये शायद ही रहता। अस्तु, जो हो, इतना तो अभी विचारणीय है ही कि वे यशोभद्र कब हुए और उनकी दूसरी कृतियाँ हैं या नहीं ? यह भी विचारणीय है कि यशोभद्र आखिरी एकमात्र सूत्र की वृत्ति रचने क्यों नहीं पाए ? और वह उनके शिष्य को क्यों रचनी पड़ी ?

तुलना करने से जान पड़ता है कि यशोभद्र और उनके शिष्य की भाष्यवृत्ति गन्धहस्ती की वृत्ति के आधार पर ही लिखी गई है।

हरिभद्र के षोडशक प्रकरण के ऊपर वृत्ति लिखने वाले एक यशोभद्र सूरि हुए हैं वे ही प्रस्तुत यशोभद्र हैं या अन्य, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

(च) मलयगिरि

मलयगिरि[1] की लिखी तत्त्वार्थभाष्य पर की व्याख्या नहीं मिलती। ये विक्रम की १२ वीं, १३ वीं शताब्दी में होने वाले विश्रुत श्वेताम्बर विद्वानों में से एक हैं। ये आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन और सर्वश्रेष्ठ टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी बीसों महत्वपूर्ण कृतियाँ[2] उपलब्ध हैं।

(छ) चिरंतनमुनि

चिरंतनमुनि एक अज्ञात नाम के श्वेताम्बर साधु हैं। तत्त्वार्थ के ऊपर साधारण टिप्पण लिखा है, ये विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के बाद

---

१ मलयगिरि ने तत्त्वार्थटीका लिखी थी ऐसी मान्यता उनकी प्रज्ञापनावृत्ति में उपलब्ध होने वाले निम्न उल्लेख तथा इसी प्रकार के दूसरे उल्लेखों पर से रूढ हुई है :—"**तच्चाप्राप्यकारित्वं तत्त्वार्थटीकादौ सविस्तरेण प्रसाधितमिति ततोऽवधारणीयम् ।**"—पद–१५ पृ० २९८।

२ देखो, '**धर्मसंग्रहणी**' की प्रस्तावना पृ० ३६।

किसी समय हुए हैं; क्योंकि इन्होंने अध्याय ५, सूत्र ३१ के टिप्पण में चौदहवीं शताब्दी में होने वाले मल्लिषेण की 'स्याद्वादमंजरी' का उल्लेख किया है।

(ज) वाचक यशोविजय

वाचक यशोविजय की लिखी भाष्य पर की वृत्ति का अपूर्ण प्रथम अध्याय-जितना भाग मिलता है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण जैन समाज में सबसे अन्त में होने वाले सर्वोत्तम प्रामाणिक विद्वान् के तौर पर प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्याबद्ध कृतियाँ उपलब्ध हैं। सतरहवीं, अठारहवीं शताब्दी तक होने वाले न्यायशास्त्र के विकास को अपना कर इन्होंने जैन श्रुत को तर्कबद्ध किया है और भिन्न भिन्न विषयों पर अनेक प्रकरण लिखकर जैनतत्त्वज्ञान के सूक्ष्म अभ्यास का मार्ग तैयार किया है।

(झ) गणी यशोविजय

गणी यशोविजय ऊपर के वाचक यशोविजय से भिन्न हैं। ये कब हुए, यह मालूम नहीं। इनके विषय में दूसरा भी ऐतिहासिक परिचय इस समय कुछ नहीं है। इनकी कृति के तौर पर भी अभी तक सिर्फ तत्त्वार्थ सूत्र पर का गुजराती टबा-टिप्पण प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य कुछ रचना की होगी या नहीं, यह ज्ञात नहीं। टिप्पण की भाषा और शैली को देखते हुए ये सतरहवीं-अठारहवीं शताब्दी में हुए जान पड़ते हैं। इनकी उल्लेख करने योग्य दो विशेषताएँ हैं।

(१) जैसे वाचक यशोविजयजी वगैरह श्वेताम्बर विद्वानों ने 'अष्ट-सहस्री' जैसे दिगम्बर ग्रन्थों पर टीकाएँ रची हैं, वैसे ही गणी यशो-विजयजी ने भी तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बर सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ को लेकर उस पर मात्र सूत्रों का अर्थपूरक टिप्पण लिखा है और टिप्पण लिखते हुए उन्होंने जहाँ जहां श्वेताम्बरों और दिगम्बरों का मतभेद या

---

१ देखो, जैनतर्कभाषा प्रास्तावना-सिंघी सिरीज़

मतविरोध आता है वहाँ सर्वत्र श्वेताम्बर परम्परा का अनुसरण करके ही अर्थ किया है। इस प्रकार सूत्रपाठ दिगम्बर होते हुए भी अर्थ श्वेताम्बरीय है।

(२.) अबतक तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती में टिप्पण लिखन वालों में प्रस्तुत यशोविजय गणी ही प्रथम गिने जाते हैं, क्योंकि उनके सिवाय तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती में किसी का कुछ लिखा हुआ अभी तक जानने में नहीं आया।

गणी यशोविजयजी श्वेताम्बर हैं, यह बात तो निश्चित है; क्योंकि टिप्पण के अन्त में ऐसा उल्लेख[1] है, और दूसरा सबल प्रमाण तो उनका बालावबोध-टिप्पण ही है। सूत्र का पाठभेद[2] और सूत्रों की संख्या दिगम्बरीय स्वीकार करने पर भी उसका अर्थ किसी जगह उन्होंने दिगंबर परम्परा के अनुकूल नहीं किया। हाँ, यहाँ एक प्रश्न होता है, और वह यह कि श्वेताम्बर होते हुए भी यशोविजयजी ने दिगम्बर सूत्रपाठ कैसे लिया होगा? क्या वे श्वेताम्बर सूत्रपाठ से परिचित नहीं थे, या परिचित होने पर भी उन्हें दिगम्बर सूत्रपाठ में ही श्वेताम्बर सूत्रपाठ की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिखाई दिया होगा? इसका उत्तर यही उचित जान पड़ता है कि वे श्वेताम्बर सूत्रपाठ से परिचित तो अवश्य होंगे ही और उनकी दृष्टि में उसी पाठ का महत्त्व भी होगा ही; क्योंकि वैसा न होता वे श्वेतांबर-परम्परा के अनुसार टिप्पणी रचते ही नहीं; ऐसा होने

---

१ "इति श्वेताम्बराचार्यश्रीउमास्वामिगण(णि)कृततत्त्वार्थसूत्रं तस्य बालावबोधः श्रीयशोविजयगणिकृतः समाप्तः।"—प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयी के शास्त्र संग्रह में की लिखित टिप्पणी की पुस्तक।

२ इसे स्वीकार करनेमें अपवाद भी है जो कि बहुत ही थोड़ा है। उदाहरण के तौर पर अध्याय ४ का १९ वाँ सूत्र इन्होंने दिगम्बर सूत्रपाठ में से नहीं लिया। दिगम्बर सोलह स्वर्ग मानते हैं इस लिये उनका पाठ लेने में श्वेताम्बरीयता नहीं रह सकती, इससे इन्होंने इस स्थल पर श्वेताम्बर सूत्र-पाठों में से ही बारह स्वर्गों का नामवाला सूत्र लिया है।

पर भी उन्होंने दिगम्बर सूत्रपाठ ग्रहण किया इसका कारण यह होना चाहिए कि जिस सूत्रपाठ के आधार पर सभी दिगम्बर विद्वान् हजार अर्थ से दिगम्बर परम्परा के अनुसार[१] ही श्वेताम्बर आगमोंसे विरुद्ध अर्थ करते आए हैं, उसी सूत्रपाठ में से श्वेताम्बर परम्परा के ठीक अनुकूल अर्थ निकालना और करना बिलकुल शक्य तथा संगत है, ऐसी छाप दिगम्बर पक्ष पर डालना और साथ ही श्वेताम्बर अभ्यासियों को बतलाना कि दिगम्बर सूत्रपाठ या श्वेताम्बर सूत्रपाठ चाहे जो लो इन दोनों में पाठभेद होते हुए भी अर्थ तो एक ही प्रकार का निकलता है और वह श्वेताम्बर परम्परा के अनुकुल ही है। इससे दिगम्बर सूत्रपाठ से भड़कने की या उसे विरोधी पक्ष का सूत्रपाठ समझ कर फेंक देने की कोई जरूरत नहीं। तुम चाहो तो भाष्यमान्य सूत्रपाठ सीखो या सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ याद करो। तत्त्व दोनों में एक ही है। इस रीति से एक तरफ़ दिगम्बर विद्वानों को उनके सूत्रपाठ में से सरल रीति से सत्य अर्थ क्या निकल सकता है यह बतलाने के लिये और दूसरी तरफ श्वेताम्बर अभ्यासियों को पक्षभेद के कारण दिगम्बरीय सूत्रपाठ से न भड़कें ऐसा समझाने के उद्देश्य से ही, इन यशोविजय जी ने श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ छोड़ कर दिगम्बरीय सूत्रपाठ पर टिप्पणी लिखी जान पड़ता है।

(ज) पूज्यपाद

पूज्यपाद का असली नाम देवनन्दी है। ये विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने व्याकरण आदि अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें से कुछ तो उपलब्ध[२] हैं और कुछ अभी तक मिले नहीं। दिगम्बर व्याख्याकारों में पूज्यपाद से पहले सिर्फ शिवकोटि[३] के ही होने की

१ देखो, **सर्वार्थसिद्धि** २. ५३; ९.११ और १०.९।

२ देखो, **जैनसाहित्य संशोधक** प्रथम भाग पृ० ८३।

३ शिवकोटि कृत तत्त्वार्थ व्याख्या उसके अवतरण वगैरह आज उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने तत्त्वार्थ पर कुछ लिखा था ऐसी सूचना कुछ अर्वाचीन

सूचना मिलती है। इन्हीं की दिगम्बरत्व समर्थक 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की तत्त्वार्थव्याख्या पीछे सम्पूर्ण दिगम्बर विद्वानों को आधारभूत हुई है।

(ट) भट्ट अकलङ्क

भट्ट अकलङ्क, विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' के बाद तत्त्वार्थ पर इनकी ही व्याख्या मिलती है, जो 'राजवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध है। ये जैन न्याय प्रस्थापक विशिष्ट गण्यमान्य विद्वानों में से एक हैं। इनकी कितनी ही कृतियाँ[1] उपलब्ध हैं जो हरएक जैन न्याय के अभ्यासी के लिये महत्त्व की हैं।

(ठ) विद्यानंद

ये विद्यानन्द भी विक्रम की नववीं-दसवीं शताब्दी में हुए हैं। इनकी कितनी ही कृतियाँ उपलब्ध हैं[2]। ये भारतीय दर्शनों के विशिष्ट अभ्यासी हैं और इन्होंने तत्त्वार्थ पर 'श्लोकवार्तिक' नाम की पद्यबंध विस्तृत व्याख्या लिख कर कुमारिल जैसे प्रसिद्ध मीमांसक ग्रन्थकारों की स्पर्द्धा की है और जैन दर्शन पर किये गये मीमांसकों के प्रचण्ड आक्रमण का सबल उत्तर दिया है।

(ड) श्रुतसागर

'श्रुतसागर' नाम के दिगम्बर सूरि ने तत्त्वार्थ पर टीका लिखी है। ये १६ वीं शताब्दी के विद्वान हैं। इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे हैं। देखो भारतीय ज्ञान पीठ द्वारा प्रकाशित श्रुतसागरी वृत्ति की प्रस्तावना पृ० ९८।

शिलालेखों की प्रशस्ति पर से होती है। शिवकोटि समन्तभद्र के शिष्य थे, ऐसी मान्यता है। देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ ९६।

१ देखो, न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना।

२ देखो अष्टसहस्री और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की प्रस्तावना।

(ढ) *विबुधसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव और अभयनन्दिसूरि आदि*

अनेक दिगम्बर विद्वानों ने तत्त्वार्थ पर साधारण संस्कृत व्याख्याएँ लिखी हैं। उनके विषय में मुझे खास परिचय नहीं मिला। इतने संस्कृत व्याख्याकारों के अतिरिक्त तत्त्वार्थ की भाषा में टीका लिखनेवाले अनेक दिगम्बर विद्वान् हो गए हैं, जिनमें से अनेक ने तो कर्णाटक भाषा में टीकाएँ लिखी हैं और दूसरों ने हिन्दी भाषा में टीकाएँ लिखी हैं।[1]

३. तत्त्वार्थसूत्र।

तत्त्वार्थशास्त्र का बाह्य तथा आभ्यन्तर सविशेष परिचय प्राप्त करने के लिए—मूल ग्रन्थ के आधार पर नीचे लिखी चार बातों पर विचार किया जाता है—(क) प्रेरक सामग्री, (ख) रचना का उद्देश्य, (ग) रचनाशैली और (घ) विषयवर्णन।

(क) *प्रेरक सामग्री*

जिस सामग्री ने ग्रन्थकार को 'तत्त्वार्थसूत्र' लिखने की प्रेरणा की वह मुख्यरूप से चार भागों में विभाजित की जाती है।

१. **आगमज्ञान का उत्तराधिकार**—वैदिक दर्शनों में वेद की तरह जैनदर्शन में आगम ग्रन्थ ही मुख्य प्रमाण माने जाते हैं, दूसरे ग्रन्थों का प्रामाण्य आगम का अनुसरण करने में ही है। इस आगमज्ञान का पूर्व परम्परा से चलता आया उत्तराधिकार वाचक उमास्वाति को भली प्रकार मिला था, इससे सभी आगमिक विषयों का ज्ञान उन्हें स्पष्ट तथा व्यवस्थित था।

२. **संस्कृत भाषा**—काशी, मगध, बिहार आदि प्रदेशों में रहने तथा विचरने के कारण और कदाचित् ब्राह्मणजाति के कारण वा० उमा-

---

१ देखो तत्त्वार्थभाष्य के हिन्दी अनुवाद की श्री नाथूरामजी की प्रस्तावना।

स्वाति ने अपने समय की प्रधान संस्कृत भाषा का गहरा अभ्यास किया था। ज्ञानप्राप्ति के लिए प्राकृत भाषा के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का द्वार ठीक खुलने से संस्कृत भाषा में रचे हुए वैदिक दर्शनसाहित्य और बौद्ध दर्शनसाहित्य को जानने का उन्हें अवसर मिला और उस अवसर का यथार्थ उपयोग करके उन्होंने अपने ज्ञानभंडार को खूब समृद्ध किया।

३. दर्शनान्तरों का प्रभाव—संस्कृत भाषा द्वारा वैदिक और बौद्ध साहित्य में प्रवेश करने के कारण उन्होंने तत्कालीन नई नई रचनाएँ देखीं, उनमें से वस्तुएँ तथा विचारसरणियाँ जानीं, उन सब का उनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा और इसी प्रभाव ने उन्हें जैन साहित्य में पहले से स्थान न पानेवाली संक्षिप्त दार्शनिक सूत्रशैली तथा संस्कृत भाषा में ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा की।

४. प्रतिभा—उक्त तीनों हेतुओं के होते हुए भी यदि उनमें प्रतिभा न होती तो तत्त्वार्थ का इस स्वरूप में कभी जन्म ही न होता। इससे उक्त तीनों हेतुओं के साथ प्रेरक सामग्री में उनकी प्रतिभा को स्थान दिये बिना चल ही नहीं सकता।

(ख) रचना का उद्देश्य

कोई भी भारतीय शास्त्रकार जब अपने विषय का शास्त्र लिखता है तब वह अपने विषयनिरूपण के अन्तिम उद्देश्य में मोक्ष को ही रखता है; फिर भले ही वह विषय अर्थ, काम, ज्योतिष या वैद्यक जैसा आधिभौतिक दिखाई देता हो अथवा तत्त्वज्ञान और योग जैसा आध्यात्मिक दिखाई पड़ता हो। सभी मुख्य-मुख्य विषयों के शास्त्रों के प्रारम्भ में उस उस विद्या के अन्तिम फलस्वरूप मोक्ष का ही निर्देश हुआ और उस उस शास्त्र के उपसंहार में भी अंततः उस विद्या से मोक्षसिद्धि होने का कथन किया गया है।

वैशेषिकदर्शन का प्रणेता 'कणाद' अपनी प्रमेय की चर्चा करने से पहले उस विद्या के निरूपण को मोक्ष का साधनरूप बतला कर ही उसमें

प्रवर्तता है[1]। न्यायदर्शन का सूत्रधार 'गौतम' प्रमाणपद्धति के ज्ञान को मोक्ष का द्वार मान कर ही उसके निरूपण में प्रवृत्त होता है[2]। सांख्यदर्शन का निरूपण करनेवाला भी मोक्ष के उपायभूत ज्ञान की पूर्ति के लिये अपनी विश्वोत्पत्ति विद्या का वर्णन करता है[3]। ब्रह्ममीमांसा में ब्रह्म और जगत का निरूपण भी मोक्ष के साधन की पूर्ति के लिये ही है। योगदर्शन में योगक्रिया और दूसरी बहुत सी प्रासंगिक बातों का वर्णन मात्र मोक्ष का उद्देश्य सिद्ध करने के लिये ही है। भक्तिमार्गियों के शास्त्र भी, जिनमें जीव, जगत और ईश्वर आदि विषयों का वर्णन है, भक्ति की पुष्टि द्वारा अन्त में मोक्ष प्राप्त कराने के लिये ही हैं। बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद का अथवा चार आर्यसत्यों में समावेश पानेवाले आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विषय के निरूपण का उद्देश भी मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। जैनदर्शन के शास्त्र भी इसी मार्ग का अवलम्बन कर रचे गये हैं। वाचक उमास्वाति ने भी अन्तिम उद्देश्य मोक्ष का ही रख कर उसकी प्राप्ति का उपाय[4] सिद्ध करने के लिये स्वयं वर्णनार्थ निश्चित की हुई सभी वस्तुओं का वर्णन तत्त्वार्थ में किया है।

(ग) रचना-शैली

पहले से ही जैन आगमों की रचना-शैली बौद्ध पिटकों जैसी लम्बे वर्णनात्मक सूत्रों के रूप में चली आती थी और वह प्राकृत भाषा में थी। दूसरी तरफ ब्राह्मण विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा में शुरू की हुई संक्षिप्त सूत्रों के रचने की शैली धीरे-धीरे बहुत ही प्रतिष्ठित हो गई थी; इस

---

१. देखो, **कणादसूत्र १, १, ४**। २. देखो, **न्यायसूत्र १, १, १**। ३. देखो, ईश्वरकृष्ण कृत **सांख्यकारिका** का० २।

४. वा० उमास्वाति की तत्त्वार्थ रचने की कल्पना 'उत्तराध्ययन' के २८ वें अध्ययन की आभारी है ऐसा जान पड़ता है। इस अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है; इस अध्ययन में मोक्ष के मार्गों को सूचित कर उनके विषय रूप से जैन तत्त्व ज्ञान का बिलकुल संक्षेप में निरूपण किया गया है।

शैली ने वाचक उमास्वाति को आकर्षित किया और उसी में लिखने की प्रेरणा की। जहाँ तक हम जानते हैं जैनसंप्रदाय में संस्कृत भाषा में छोटे छोटे सूत्रों के रचयिता सब से पहले उमास्वाति ही हैं; उनके पीछे ही ऐसी सूत्रशैली जैन परम्परा में अतीव प्रतिष्ठित हुई और व्याकरण, अलंकार, आचार, नीति, न्याय आदि अनेक विषयों पर श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय के विद्वानों ने उस शैली में संस्कृत भाषाबद्ध ग्रन्थ लिखे।*

उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र कणाद के वैशेषिक सूत्रों की तरह दस अध्यायों में विभक्त हैं; इनकी संख्या मात्र ३४४ जितनी है, जब कि कणाद के सूत्रों की संख्या ३३३ जितनी ही है। इन अध्यायों में वैशेषिक आदि सूत्रों के सदृश आह्निक-विभाग अथवा ब्रह्मसूत्र आदि के समान पाद-विभाग नहीं है। जैन साहित्य में 'अध्ययन' के स्थान पर 'अध्याय' का आरंभ करने वाले भी उमास्वाति ही हैं। उनके द्वारा शुरू न किया गया आह्निक और पाद-विभाग भी आगे चलकर उनके अनुयायी 'अकलंक' आदि द्वारा शुरू कर दिया गया है। बाह्य रचना में कणादसूत्र के साथ तत्त्वार्थ सूत्र का विशेष साम्य होते हुए भी उसमें एक खास जानने योग्य अन्तर है, जो जैनदर्शन के परम्परागत मानस पर प्रकाश डालता है। कणाद अपने मंतव्यों को सूत्र में प्रतिपादित करके, उनको साबित करने के लिये अक्षपाद गौतम के सदृश पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष न करते हुए भी, उनको

इसी वस्तु को वा० उमास्वाति ने विस्तार कर उस में समग्र आगम के तत्त्वों को गूँथ दिया है। उन्होंने अपने सूत्र ग्रंथ का प्रारम्भ भी मोक्षमार्ग प्रतिपादक सूत्र से ही किया है। दिगंबर सम्प्रदाय में तो तत्त्वार्थसूत्र 'मोक्षशास्त्र' के नाम से अति प्रसिद्ध है। बौद्ध परम्परा में विशुद्धिमार्ग अतिमहत्त्व का ग्रन्थ प्रसिद्ध है जो बुद्धघोष के द्वारा पाँचवीं सदी के आस-पास पाली में रचा गया है और जिसमें समग्र पाली पिटकों का सार है, इसका पूर्ववर्ती विमुक्तिमार्ग नामक ग्रन्थ भी बौद्ध परम्परा में था जिसका अनुवाद चीनी भाषा में मिलता है। विशुद्धिमार्ग और विमुक्तिमार्ग दोनों शब्दों का अर्थ मोक्षमार्ग ही है।

पुष्टि में हेतुओं का उपन्यास तो बहुधा करते ही हैं; जब कि वा० उमास्वाति अपने एक भी सिद्धान्त की सिद्धि के लिये कहीं भी युक्ति, प्रयुक्ति या हेतु नहीं देते। वे अपने वक्तव्य को स्थापित सिद्धान्त के रूप में ही, कोई भी दलील या हेतु दिये बिना अथवा पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष किये बिना ही योगसूत्रकार 'पतंजलि' की तरह वर्णन करते चले जाते हैं। उमास्वाति के सूत्रों और वैदिक दर्शनों के सूत्रों की तुलना करते हुए एक छाप मन के ऊपर पड़ती है कि जैन परम्परा श्रद्धा-प्रधान है, वह अपने सर्वज्ञ के वक्तव्य को अक्षरशः स्वीकार कर लेती है और उसमें शंका-समाधान का अवकाश नहीं देखती; जिसके परिणामस्वरूप संशोधन, परिवर्धन और विकास करने योग्य अनेक बुद्धि के विषय तर्कवाद के जमाने में भी अचर्चित रह कर मात्र श्रद्धा के आधार पर आज तक टिके हुए हैं[1]। जब कि वैदिक दर्शन-परम्परा बुद्धिप्रधान होकर अपने माने हुए सिद्धान्तों की परीक्षा करती है; उसमें शंका-समाधान वाली चर्चा करती है और बहुत बार तो पहले से माने जाने वाले सिद्धान्तों को तर्कवाद के बल पर उलट कर नये सिद्धान्तों की स्थापना करती है अथवा उनमें संशोधन-परिवर्धन करती है। सारांश यह है कि जैन परम्परा ने विरासत में मिले हुए तत्त्वज्ञान और आचार को बनाये रखने में जितना भाग लिया है उतना नूतन सर्जन में नहीं लिया।

---

१ सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि जैसे अनेक धुरंधर तार्किकों द्वारा किया हुआ तर्कविकास और तार्किक चर्चा भारतीय विचार विकास में खास स्थान रखते हैं, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता; तो भी प्रस्तुत कथन गौण-प्रधानभाव और दृष्टिभेद की अपेक्षा से ही समझने का है। इसे एकाध उदाहरण से समझना हो तो तत्त्वार्थसूत्रों और उपनिषदों आदि को लीजिये। तत्त्वार्थ के व्याख्याकार धुरंधर तार्किक होते हुए भी और सम्प्रदाय भेद में विभक्त होते हुए भी जो चर्चा करते हैं और तर्क बल का प्रयोग करते हैं वह सब प्रथम से स्थापित जैनसिद्धान्त को स्पष्ट करने अथवा उसका समर्थन करने के लिये ही है। इनमें से किसी व्याख्याकार ने नया विचारसर्जन नहीं किया या श्वेताम्बर-दिगम्बर की तात्त्विक मान्यता में कुछ भी अन्तर

(३) विषय-वर्णन

विषय की पसंदगी—कितने ही दर्शनों में विषय का वर्णन ज्ञेय मीमांसा-प्रधान है; जैसा कि वैशेषिक, सांख्य और वेदान्तदर्शन में है। वैशेषिक दर्शन अपनी दृष्टि से जगत् का निरूपण करते हुए उसमें मूल द्रव्य कितने हैं? कैसे हैं? और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे पदार्थ कितने तथा कैसे हैं? इत्यादि वर्णन करके मुख्य रूप से जगत के प्रमेयों की ही मीमांसा करता है। सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष का वर्णन करके प्रधान रूप से जगत के मूलभूत प्रमेय तत्त्वों की ही मीमांसा करता है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शन भी जगत के मूलभूत ब्रह्मतत्त्व की ही मीमांसा प्रधान रूप से करता है। परन्तु कुछ दर्शनों में चारित्र की मीमांसा मुख्य है, जैसे कि योग और बौद्ध दर्शन में। जीवन की शुद्धि क्या? उसे कैसे साधना? उसमें कौन कौन बाधक हैं? इत्यादि जीवन सम्बन्धी प्रश्नों का हल योगदर्शन ने हेय—दुःख, हेयहेतु—दुःख का कारण, हान—मोक्ष और हानोपाय—मोक्ष का कारण इस चतुर्व्यूह का निरूपण करके और बौद्धदर्शन ने चार आर्यसत्यों का निरूपण करके, किया है। अर्थात् पहले दर्शनविभाग का विषय ज्ञेयतत्त्व और दूसरे दर्शनविभाग का चारित्र है।

भगवान् महावीर ने अपनी मीमांसा में ज्ञेयतत्त्व और चारित्र को समान स्थान दिया है, इससे उनकी तत्त्वमीमांसा एक ओर जीव, अजीव के निरूपण द्वारा जगतका स्वरूप वर्णन करती है और दूसरी तरफ आस्रव, संवर आदि तत्त्वों का वर्णन करके चारित्र का स्वरूप दरसाती है। इनकी तत्त्वमीमांसा का अर्थ है ज्ञेय और चारित्र का समानरूप से

नहीं डाला। जब कि उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र के व्याख्याकार तर्कबल से यहाँ तक स्वतन्त्र चर्चा करते हैं कि उनके बीच तात्त्विक मान्यता में पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर खड़ा हो गया है। इसमें क्या गुण और क्या दोष है, यह वक्तव्य नहीं, वक्तव्य केवल वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है। गुण और दोष सापेक्ष होने से दोनों परम्पराओं में हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं।

विचार। इस मीमांसा में भगवान् ने नवतत्त्वों को रखकर इन पर की जाने वाली अचक श्रद्धा को जैनत्व की प्राथमिक शर्त के रूप में वर्णन किया है। त्यागी या गृहस्थ कोई भी महावीर के मार्ग का अनुयायी तभी माना जा सकता है जब कि उसने चाहे इन नवतत्त्वों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त न किया हो, तो भी इनके ऊपर वह श्रद्धा रखता ही हो; अर्थात् 'जिनकथित ये तत्त्व ही सत्य हैं' ऐसी रुचि–प्रतीति वाला हो। इस कारण से जैनदर्शन में नवतत्त्व जितना दूसरे किसी का भी महत्त्व नहीं है। ऐसी वस्तुस्थिति के कारण ही वा० उमास्वाति ने अपने प्रस्तुत शास्त्र के विषयरूप से इन नवतत्त्वों को पसन्द किया और उन्हीं का वर्णन सूत्रों में सात संख्या द्वारा करके उन सूत्रों के विषयानुरूप 'तत्त्वार्थाधिगम' ऐसा नाम दिया। वा० उमास्वाति ने नवतत्त्वों की मीमांसा में ज्ञेय प्रधान और चारित्र प्रधान दोनों दर्शनों का समन्वय देखा; तो भी उन्होंने उसमें अपने समय में विशेष चर्चाप्राप्त प्रमाण मीमांसा के निरूपण की उपयोगिता महसूस की; इससे उन्होंने अपने ग्रन्थ को अपने ध्यान में आनेवाली सभी मीमांसाओं से परिपूर्ण करने के लिये नवतत्त्व के अतिरिक्त ज्ञान-मीमांसा को विषय रूप से स्वीकार करके तथा न्यायदर्शन की प्रमाणमीमांसा की जगह जैन ज्ञानमीमांसा कैसी है उसे बतलाने के लिये अपने ही सूत्रों में योजना की। इससे समुच्चय रूप से ऐसा कहना चाहिये कि वा० उमास्वाति ने अपने सूत्र के विषय रूप से ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीनों मीमांसाओं को जैन दृष्टि के अनुसार लिया है।

विषय का विभाग—पसंद किये हुए विषय को वा० उमास्वाति ने अपनी दशाध्यायी में इस प्रकार से विभाजित किया है—पहले अध्याय में ज्ञान की, दूसरे से पाँचवें तक चार अध्यायों में ज्ञेय की और छठे से दसवें तक पाँच अध्यायों में चारित्र की मीमांसा की है। उक्त तीनों मीमांसाओं की क्रमशः मुख्य सार बातें देकर प्रत्येक की दूसरे दर्शनों के साथ यहाँ संक्षेप में तुलना की जाती है।

ज्ञानमीमांसा की सारभूत बातें—पहले अध्याय में ज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली मुख्य बातें आठ हैं और वे इस प्रकार हैं:–१ नय और प्रमाण

रूप से ज्ञान का विभाग। २ मति आदि आगम प्रसिद्ध पाँच ज्ञान और उनका प्रत्यक्ष परोक्ष दो प्रमाणों में विभाजन। ३ मतिज्ञान की उत्पत्ति के साधन, उनके भेद-प्रभेद और उनकी उत्पत्ति के क्रमसूचक प्रकार। ४ जैन परम्परा में प्रमाण माने जानेवाले आगम शास्त्र का श्रुतज्ञान रूप से वर्णन। ५ अवधि आदि तीन दिव्य प्रत्यक्ष और उनके भेद-प्रभेद तथा पारस्परिक अन्तर। ६ इन पाँचों ज्ञानों का तारतम्य बतलाते हुए उनका विषय निर्देश और उनकी एक साथ संभवनीयता। ७ कितने ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकते हैं यह और ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता के कारण। ८ नय के भेद-प्रभेद।

तुलना—ज्ञानमीमांसा में जो ज्ञानचर्चा है वह 'प्रवचनसार' के ज्ञानाधिकार जैसी तर्कपुरस्सर और दार्शनिक शैली की नहीं; बल्कि नन्दीसूत्र की ज्ञानचर्चा जैसी आगमिक शैली की होकर ज्ञान के सम्पूर्ण भेद-प्रभेदों का तथा उनके विषयों का मात्र वर्णन करनेवाली और ज्ञान-अज्ञान के बीच का भेद बतानेवाली है। इसमें जो अवग्रह, ईहा आदि लौकिक ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम[1] सूचित किया गया है वह न्यायशास्त्र[2] में आनेवाली निर्विकल्प, सविकल्प ज्ञान की और बौद्ध अभिधम्मत्थसंगहो[3] में आनेवाली ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया का स्मरण कराता है; इसमें जो अवधि आदि तीन दिव्य[4] प्रत्यक्ष ज्ञानों का वर्णन है वह वैदिक[5] और बौद्ध दर्शन के सिद्ध, योगी तथा ईश्वर के ज्ञान का स्मरण कराता है। इसके दिव्यज्ञान में वर्णित मनःपर्याय का निरूपण योगदर्शन[6] और बौद्धदर्शन[7] के परचित्तज्ञान की याद दिलाता है। इसमें जो प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से[8] प्रमाणों का विभाग है वह वैशेषिक और बौद्धदर्शन में वर्णित[9] दो प्रमाणों का, सांख्य और

---

(१) १. १५–१९। (२) देखो **मुक्तावली** का० ५२ से आगे। (३) परिच्छेद ४ पैरेग्राफ़ ८ से। (४) १. २१–२६ और ३०। (५) **प्रशस्तपादकंदली** पृ० १८७। (६) ३. १९। (७) **अभिधम्मत्थसंगहो** परि० ९ पैरेग्राफ़ २४ और नागार्जुन का **धर्मसंग्रह** पृ० ४। (८) १. १०-१२। (९) **प्रशस्तपादकंदली** पृ० २१३ पं० १२ और **न्यायबिन्दु** १. २।

योगदर्शन में वर्णित[1] तीन प्रमाणों का, न्यायदर्शन[2] में प्ररूपित चार प्रमाणों का और मीमांसादर्शन[3] में प्रतिपादित छः आदि प्रमाणों के विभागों का समन्वय है। इस ज्ञानमीमांसा में जो ज्ञान-अज्ञान[4] का विवेक है वह न्याय-दर्शन[5] की यथार्थ–अयथार्थ बुद्धि का तथा योगदर्शन[6] के प्रमाण और विपर्यय का विवेक—जैसा है। इसमें जो नय[7] का स्पष्ट निरूपण है वैसा दर्शनान्तर में कहीं भी नहीं। संक्षेप में ऐसा कह सकते हैं कि वैदिक और बौद्धदर्शन में वर्णित प्रमाणमीमांसा के स्थान पर जैनदर्शन क्या मानता है वह सब तफसीलवार प्रस्तुत ज्ञानमीमांसा में वा० उमास्वाति ने दरसाया है।

ज्ञेयमीमांसा की सारभूत बातें—ज्ञेयमीमांसा में जगत के मूलभूत जीव और अजीव इन दो तत्त्वों का वर्णन है; इनमें से मात्र जीवतत्त्व की चर्चा दूसरे से चौथे तक तीन अध्यायों में है। दूसरे अध्याय में जीवतत्त्व के सामान्य स्वरूप के अतिरिक्त संसारी जीव के अनेक भेद-प्रभेदों का और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों का वर्णन है। तीसरे अध्याय में अधोलोक में बसनेवाले नारकों और मध्यलोक में बसनेवाले मनुष्यों तथा पशु-पक्षी आदि का वर्णन होने से उनसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों के साथ पाताल और मनुष्य लोक का सम्पूर्ण भूगोल आ जाता है। चौथे अध्याय में देव-सृष्टि का वर्णन होने से उसमें खगोल के अतिरिक्त अनेक प्रकार के दिव्य धामों का और उनकी समृद्धि का वर्णन है। पाँचवें अध्याय में प्रत्येक द्रव्य के गुणधर्म का वर्णन करके उसका सामान्य स्वरूप बतला कर साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा द्रव्य मात्र की विस्तृत चर्चा की है।

ज्ञेयमीमांसा में मुख्य सोलह बातें आती हैं जो इस प्रकार हैं:—

दूसरे अध्याय में—१ जीवतत्त्व का स्वरूप। २ संसारी जीव के भेद। ३ इन्द्रिय के भेद-प्रभेद, उनके नाम, उनके विषय और जीवराशि में इंद्रियों

---

(१) ईश्वरकृष्ण कृत **सांख्यकारिका** का० ४ और **योगदर्शन** १.७। (२) १. १. ३। (३) **शाबर-भाष्य** १. ५। (४) १, ३३। (५) **तर्कसंग्रह**—बुद्धि निरूपण। (६) **योगसूत्र** १. ६। (७) १. ३४-३५।

का विभाजन। ४ मृत्यु और जन्म के बीच की स्थिति। ५ जन्मों के और उनके स्थानों के भेद तथा उनका जाति की दृष्टि से विभाग। ६ शरीर के भेद, उनके तारतम्य, उनके स्वामी और एक साथ उनका सम्भव। ७ जातियों का लिंग-विभाग और न टूट सके ऐसे आयुष्य को भोगनेवालों का निर्देश। तीसरे और चौथे अध्याय में—८ अधोलोक के विभाग, उसमें बसनेवाले नारक जीव और उनकी दशा तथा जीवनमर्यादा वगैरह। ९ द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र आदि द्वारा मध्यलोक का भौगोलिक वर्णन तथा उसमें बसनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जीवन का काल। १० देवों की विविध जातियाँ, उनके परिवार, भोग स्थान, समृद्धि, जीवनकाल और ज्योतिर्मंडल द्वारा खगोल का वर्णन। पाँचवें अध्याय में—११ द्रव्य के भेद उनका परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य; उनका स्थितिक्षेत्र और प्रत्येक का कार्य। १२ पुद्गल का स्वरूप, उनके भेद और उनकी उत्पत्ति के कारण। १३ सत् और नित्य का सहेतुक स्वरूप। १४ पौद्गलिक बन्ध की योग्यता और अयोग्यता। १५ द्रव्य-सामान्य का लक्षण, काल को द्रव्य माननेवाला मतान्तर और उसकी दृष्टि से काल का स्वरूप। १६ गुण और परिणाम के लक्षण और परिणाम के भेद।

तुलना—उक्त बातों में से बहुत-सी बातें आगमों और प्रकरण ग्रन्थों में हैं, परन्तु वे सभी इस ग्रन्थ की तरह संक्षेप में संकलित और एक ही स्थल पर न होकर इधर-उधर बिखरी हुई हैं। 'प्रवचनसार' के ज्ञेयाधिकार में और 'पंचास्तिकाय' के द्रव्याधिकार में ऊपर बतलाये हुए पाँचवें अध्याय के ही विषय हैं परन्तु उनका निरूपण इस ग्रन्थ से जुदा पड़ता है। पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में तर्कपद्धति तथा विस्तार है, जब कि उक्त पाँचवें अध्याय में संक्षिप्त तथा सीधा वर्णन मात्र है।

ऊपर जो दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय की सार बातें दी हैं वैसा अखण्ड, व्यवस्थित और सांगोपांग वर्णन किसी भी ब्राह्मण या बौद्ध मूल

दार्शनिक सूत्र ग्रन्थ में नहीं दिखाई देता। बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र[1] के तीसरे और चौथे अध्याय में जो वर्णन दिया है वह उक्त दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय की कितनी ही बातों के साथ तुलना किये जाने के योग्य है; क्योंकि इसमें मरण के बाद की स्थिति, उत्क्रांति, जुदी-जुदी जाति के जीव, जुदे-जुदे लोक और उनके स्वरूप का वर्णन है।

उक्त दूसरे अध्याय में जीव का जो उपयोग लक्षण[2] कहा गया गया है वह आत्मवादी सभी दर्शनों द्वारा स्वीकृत उनके ज्ञान या चैतन्य लक्षण से जुदा नहीं है। वैशेषिक और न्यायदर्शन के इन्द्रियवर्णन की अपेक्षा उक्त दूसरे अध्याय[3] का इन्द्रियवर्णन जुदा दिखाई देते हुए भी उसके इन्द्रिय-सम्बन्धी भेद, उनके नाम और प्रत्येक के विषय न्याय[4] तथा वैशेषिक दर्शन के साथ लगभग शब्दशः समान हैं। वैशेषिकदर्शन[5] में जो पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय शरीरों का वर्णन है तथा सांख्यदर्शन[6] में जो सूक्ष्म लिंग और स्थूल शरीर का वर्णन है वह तत्त्वार्थ[7] के शरीरवर्णन से जुदा दिखाई देते हुए भी वास्तव में एक ही अनुभव के भिन्न पहलुओं (पार्श्वों) का सूचक हैं। तत्त्वार्थ[8] में जो बीच से टूट सके और न टूट सके ऐसे आयुष्य का वर्णन है और उसकी जो उपपत्ति दरसाई गई है वह योगसूत्र[9] और उसके भाष्य के साथ शब्दशः साम्य रखती है। उक्त तीसरे और चौथे अध्याय में प्रदर्शित भूगोलविद्या का किसी भी दूसरे दर्शन के सूत्रकार ने स्पर्श नहीं किया; ऐसा होते हुए भी योगसूत्र ३. २६ के भाष्य में नरकभूमियों का; उनके आधारभूत घन, सलिल, वात, आकाश आदि तत्त्वों का; उनमें रहनेवाले नारकों का; मध्यलोक का; मेरु का; निषध, नील आदि पर्वतों का; भरत, इलावृत्त आदि क्षेत्रों का; जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि द्वीप-

---

१. देखो 'हिन्दतत्त्वज्ञाननो इतिहास' द्वितीय भाग, पृ० १६२ से आगे। २ २. ८। ३ २. १५-२१। ४ न्यायसूत्र १. १. १२ और १४। ५ देखो, 'तर्कसंग्रह' पृथ्वी से वायु तक का निरूपण। ६ 'सांख्यकारिका' का० ४० से ४२। ७ २. ३७-४९। ८ २. ५२। ९ ३.२२ विस्तार के लिये देखो, प्रस्तुत परिचय पृ० १३, १४।

समुद्रों का; तथा ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी विविध स्वर्गों का; उनमें बसनेवाली देवजातियों का; उनके आयुषों का; उनकी स्त्री, परिवार आदि भोगों का और उनके रहन-सहन का जो विस्तृत वर्णन है वह तत्त्वार्थ के तीसरे, चौथे अध्याय की त्रैलोक्य-प्रज्ञप्ति की अपेक्षा कमती मालूम देता है। इसी प्रकार बौद्धग्रंथों[1] में वर्णित द्वीप, समुद्र, पाताल, शीत-उष्ण, नारक और विविध देवों का वर्णन भी तत्त्वार्थ की त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति की अपेक्षा संक्षिप्त ही है। ऐसा होते हुए भी इन वर्णनों का शब्दसाम्य और विचारसरणी की समानता देखकर आर्य दर्शनों की जुदी जुदी शाखाओं का एक मूल शोधने की प्रेरणा हो आती है।[2]

पाँचवाँ अध्याय वस्तु, शैली और परिभाषा में दूसरे किसी भी दर्शन की अपेक्षा वैशेषिक और सांख्य दर्शन के साथ अधिक साम्य रखता है। इसका षड्द्रव्यवाद वैशेषिकदर्शन[3] के षट्पदार्थवाद की याद दिलाता है। इसमें प्रयुक्त साधर्म्य-वैधर्म्य-वाली शैली वैशेषिक दर्शन[4] का प्रतिबिम्ब हो ऐसा भासित होता है। यद्यपि धर्मास्तिकाय[5] अधर्मास्तिकाय इन दो द्रव्यों की कल्पना दूसरे किसी दर्शनकार ने नहीं की और जैनदर्शनका आत्मस्वरूप[6] भी दूसरे सभी दर्शनों की अपेक्षा जुदे ही प्रकार का है, तो भी आत्मवाद और पुद्गलवाद से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी बातें वैशेषिक, सांख्य आदि के साथ अधिक साम्य रखती हैं। जैनदर्शन[7] की तरह न्याय, वैशेषिक[8], सांख्य[9] आदि

---

१. धर्मसंग्रह पृ० २९-३१ तथा अभिधम्मत्थसंगहो परि० ५ पैरा ३ से आगे। २. तत्त्वार्थ की श्रुतसागरकृत वृत्ति की प्रस्तावना (पृ० ८६) में पं० महेन्द्रकुमार ने बौद्ध, वैदिक भिन्न भिन्न ग्रन्थों से लोक का जो विस्तृत-वर्णन उद्धृत किया है वह पुरातन भूगोल खगोल के जिज्ञासुओं को देखने योग्य है। ३. १. १. ४। ४. प्रशस्तपाद पृ० १६ से। ५. ५. १ और ५. १७; विशेष विवरण के लिये देखो, 'जैनसाहित्यसंशोधक' खण्ड तृतीय अङ्क पहला तथा चौथा। ६. तत्त्वार्थ ५. १५-१६। ७. तत्त्वार्थ ५. २। ८. "व्यवस्थातो नाना-" ३. २. २०। ९. "पुरुषबहुत्वं सिद्धम्-" सांख्यकारिका १८।

दर्शन भी आत्मबहुत्ववादी ही हैं। जैनदर्शन का पुद्गलवाद [1] वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद [2] और सांख्य दर्शन के प्रकृतिवाद [3] के समन्वय का भान कराता है; क्योंकि इसमें आरंभ और परिणाम उभयवाद का स्वरूप आता है। एक तरफ तत्त्वार्थ में कालद्रव्य को मानने वाले मतान्तर [4] का किया हुआ उल्लेख और दूसरी तरफ उसके निश्चित रूप से बतलाये हुए लक्षणों [5] पर से ऐसा मानने के लिये जी चाहता है कि जैन तत्त्वज्ञान के व्यवस्थापकों के ऊपर कालद्रव्य के विषय में वैशेषिक [6] और सांख्य दोनों दर्शनों के मंतव्य की स्पष्ट छाप है; क्योंकि वैशेषिक दर्शन काल को स्वतंत्र द्रव्य मानता है, जब कि सांख्य दर्शन ऐसा नहीं मानता। तत्त्वार्थ में सूचित किये गये कालद्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व-नास्तित्व-विषयक दोनों पक्ष, जो आगे जाकर दिगम्बर [7] और श्वेताम्बर परम्परा की जुदी जुदी मान्यता रूप से विभाजित हो गये हैं, पहले से ही जैनदर्शन में होंगे या उन्होंने वैशेषिक और सांख्यदर्शन के विचार संघर्ष के परिणामस्वरूप किसी समय जैनदर्शन में स्थान प्राप्त किया होगा, यह एक शोध का विषय है। परन्तु एक बात तो दीपक जैसी स्पष्ट है कि मूल तत्त्वार्थ और उसकी व्याख्याओं [8] में जो काल के लिंगों का वर्णन है वह वैशेषिक सूत्र के साथ शब्दशः मिलता जुलता है। सत् और नित्य की तत्त्वार्थगत व्याख्या यदि किसी भी दर्शन के साथ सादृश्य रखती हो तो वह सांख्य और योग दर्शन ही हैं; इनमें वर्णित परिणामिनित्य का स्वरूप तत्त्वार्थ के सत् और नित्य के साथ शब्दशः मिलता है। वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं में द्रव्यारम्भ की जो योग्यता [9] बतलाई गई है वह तत्त्वार्थमें [10] वर्णित पौद्गलिक बंध—द्रव्यारंभ की योग्यता की अपेक्षा जुदे ही प्रकार की है। तत्त्वार्थ

---

१. तत्त्वार्थ ५. २३–२८। २. देखो, 'तर्कसंग्रह' पृथ्वी आदि भूतों का निरूपण। ३. सांख्यकारिका २२ से आगे। ४. ५. ३८,। ५. ५. २२। ६. २. २. ६। ७. देखो, कुन्दकुन्द के प्रवचनसार और पंचास्तिकाय का कालनिरूपण तथा सर्वार्थसिद्धि ५. ३९। ८. देखो, भाष्यवृत्ति ५. २२ और प्रस्तुत परिचय पृ० ११। ९. प्रशस्तपाद, वायुनिरूपण पृ० ४८। १०. ५. ३२–३५।

की [1] द्रव्य और गुण की व्याख्या वैशेषिक दर्शन की व्याख्या के साथ अधिक [2] सादृश्य रखती है। तत्त्वार्थ और सांख्य योग दर्शन की परिणाम सम्बन्धी परिभाषा समान ही है। तत्त्वार्थ का द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से सत् पदार्थ का विवेक सांख्य के सत् और परिणामवाद की तथा वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण और कर्म को मुख्य सत् मानने की प्रवृत्ति की याद दिलाता है।

चारित्रमीमांसा की सारभूत बातें—जीवन में कौन कौन सी प्रवृत्तियाँ हेय हैं, ऐसी हेय प्रवृत्तियों का मूल बीज क्या है, हेय प्रवृत्तियों को सेवन करनेवालों के जीवन में कैसा परिणाम आता है, हेय प्रवृत्तियों का त्याग शक्य हो तो वह किस २ प्रकार के उपायों से हो सकता है, और हेय प्रवृत्तियों के स्थान में किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ जीवन में दाखिल करना, उसका परिणाम जीवन में क्रमश: और अन्त में क्या आता है— ये सब विचार छठे से दसवें अध्याय तक की चारित्रमीमांसा में आते हैं। ये सब विचार जैनदर्शन की बिल्कुल जुदी परिभाषा और सांप्रदायिक प्रणाली के कारण मानों किसी भी दर्शन के साथ साम्य न रखते हों ऐसा आपाततः भास होता है; तो भी बौद्ध और योग दर्शन का सूक्ष्मता से अभ्यास करने वाले को यह मालूम हुए बिना कभी नहीं रहता कि जैन चारित्र मीमांसा का विषय चारित्र-प्रधान उक्त दो दर्शनों के साथ अधिक से अधिक और अद्भुत रीति से साम्य रखता है। यह साम्य भिन्न भिन्न शाखाओं में विभाजित, जुदी जुदी परिभाषाओं में संगठित और उन उन शाखाओं में न्यूनाधिक विकास प्राप्त परंतु असल में आर्य जाति के एक ही आचारदाय—आचार विषयक उत्तराधिकार का भान करता है।

चारित्र मीमांसा की मुख्य बातें ग्यारह हैं। छठे अध्याय में—१ आस्रव का स्वरूप, उसके भेद और किस किस प्रकार के आस्रवसेवन से कौन कौन कर्म बँधते हैं उसका वर्णन। सातवें अध्याय में—२ व्रत का

---

१. ५, ३७ और ४०। २. प्रस्तुत परिचय पृ० १०, ११।

स्वरूप, व्रत लेने वाले अधिकारियों के भेद और व्रत की स्थिरता के मार्ग। ३ हिंसा आदि दोषों का स्वरूप। ४ व्रत में संभवित दोष। ५ दान का स्वरूप और उसके तारतम्य के हेतु। आठवें अध्याय में—६ कर्मबन्ध के मूल-हेतु और कर्मबन्ध के भेद। नववें अध्याय में—संवर और उसके विविध उपाय तथा उसके भेद-प्रभेद। ८ निर्जरा और उसका उपाय। ९ जुदे जुदे अधिकार वाले साधक और उनकी मर्यादा का तारतम्य। दसवें अध्याय में—१० केवलज्ञान के हेतु और मोक्ष का स्वरूप। ११ मुक्ति प्राप्त करने वाले आत्मा की किस रीति से कहाँ गति होती है उसका वर्णन।

तुलना—तत्त्वार्थ की चारित्र मीमांसा प्रवचनसार के चारित्र वर्णन से जुदी पड़ती है; क्योंकि उसमें तत्त्वार्थ के सदृश आस्रव, संवर आदि तत्त्वों की चर्चा नहीं; उसमें तो केवल साधु की दशा का और वह भी दिगम्बर साधु के खास अनुकूल पड़े ऐसा वर्णन है। पंचास्तिकाय और समयसार में तत्त्वार्थ के सदृश ही आस्रव, संवर, बंध आदि तत्त्वों को लेकर चारित्र मीमांसा की गई है, तो भी इन दो के बीच अन्तर है और वह यह कि तत्त्वार्थ के वर्णन में निश्चय की अपेक्षा व्यवहार का चित्र अधिक खींचा गया है, इसमें प्रत्येक तत्त्व से संबन्ध रखने वाली सभी बातें हैं और त्यागी गृहस्थ तथा साधु के सभी प्रकार के आचार तथा नियम वर्णित हैं जो जैनसंघ का संगठन सूचित करते हैं; जब कि पंचास्तिकाय और समयसार में वैसा नहीं, उसमें तो आस्रव, संवर आदि तत्त्वों की निश्चयगामी तथा उपपत्ति-चर्चा है, उनमें तत्त्वार्थ के सदृश जैन गृहस्थ तथा साधु के प्रचलित व्रत का वर्णन नहीं हैं।

योगदर्शन के साथ प्रस्तुत चारित्र मीमांसा की तुलना को जितना अवकाश है उतना ही यह विषय रसप्रद है; परन्तु यह विस्तार एक स्वतंत्र लेख का विषय होने से यहाँ उसको स्थान नहीं, तो भी अभ्यासियों का ध्यान खींचने के लिये उनकी स्वतन्त्र तुलनाशक्ति पर विश्वास रख कर नीचे संक्षेप में तुलना करने योग्य सार बातों की एक सूची दी जाती है:—

तत्त्वार्थसूत्र	योगदर्शन
१ कायिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्ति रूप आस्रव (६, १)	१ कर्माशय (२, १२)
२ मानसिक आस्रव (८, १)	२ निरोध के विषय रूप से ली जानेवाली चित्त वृत्तियाँ (१६)
३ सकषाय और अकषाय यह दो प्रकार का आस्रव (६, ५)	३ क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार का कर्माशय (२, १२)
४ सुख-दुःख-जनक शुभ, अशुभ आस्रव (६, ३-४)	४ सुख-दुःख-जनक पुण्य, अपुण्य कर्माशय (२, १४)
५ मिथ्यादर्शन आदि पाँच बन्ध के हेतु (८, १)	५ अविद्या आदि पाँच बन्धक क्लेश (२, ३)
६ पाँचों में मिथ्यादर्शन की प्रधानता	६ पाँचों में अविद्या की प्रधानता (२, ४)
७ आत्मा और कर्म का विलक्षण सम्बन्ध सो बन्ध (८, २-३)	७ पुरुष और प्रकृति का विलक्षण संयोग सो बन्ध (२, १७)
८ बन्ध ही शुभ अशुभ हेय विपाक का कारण है	८ पुरुष प्रकृति का संयोग ही हेय-दुःख का हेतु है (२, १७)
९ अनादि बन्ध मिथ्यादर्शन के अधीन है	९ अनादि संयोग अविद्या के अधीन है (२, २४)
१० कर्मों के अनुभागबन्ध का आधार कषाय है (६, ५)	१० कर्मों के विपाकजनन का मूल क्लेश है (२, १३)
११ आस्रवनिरोध यह संवर (९, १)	११ चित्तवृत्तिनिरोध यह योग (१, २,
१२ गुप्ति, समिति आदि और विविध तप आदि ये संवर के उपाय (९, २-३)	१२ यम, नियम आदि और अभ्यास, वैराग्य आदि योग के उपाय (१) १२ से और २, २९ से)
१३ अहिंसा आदि महाव्रत (७, १)	१३ अहिंसा आदि सार्वभौम यम (२, ३०)

१४ हिंसा आदि वृत्तियों में ऐहिक, पारलौकिक दोषों का दर्शन करके उन वृत्तियों को रोकना (७, ४)	१४ प्रतिपक्ष भावना-द्वारा हिंसा आदि वितर्कों को रोकना (२,३३–३४)
१५ हिंसा आदि दोषों में दुःखपने की ही भावना करके उन्हें त्यागना (७, ५)	१५ विवेकी की दृष्टि में संपूर्ण कर्माशय दुःखरूप ही है (२, १५)
१६ मैत्री आदि चार भावनाएँ (७,६)	१६ मैत्री आदि चार[1] भावनाएँ (१,३३)
१७ पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कनिर्विचार आदि चार शुक्ल ध्यान (९, ४१-४६)	१७ सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार रूप चार[2] संप्रज्ञात समाधियाँ (१, १६ और ४१, ४४)
१८ निर्जरा और मोक्ष (९, ३ और १०, ३)	१८ आंशिकहान–बन्धोपरम और सर्वथा हान[3] (२, २५)
१९ ज्ञानसहित चारित्र ही निर्जरा और मोक्ष का हेतु (१, १)	१९ सांगयोगसहित विवेकख्याति ही हान का उपाय (२, २६)
२० जातिस्मरण, अवधिज्ञानादि दिव्य ज्ञान और चारण विद्यादि लब्धियाँ (१, १२ और १०, ७ का भाष्य)	२० संयमजनित वैसी ही विभूतियाँ[4] (२, २९ और ३, १६ से आगे)
२१ केवलज्ञान (१०, १)	२१ विवेकजन्य तारक ज्ञान (३, ५४)

---

१. ये चार भावनाएँ बौद्ध परम्परा में 'ब्रह्मविहार' कहलाती हैं और उन पर बहुत जोर दिया गया है। २. ये चार ध्यान के भेद बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध हैं। ३. इसे बौद्धदर्शन में 'निर्वाण' कहते हैं, जो तीसरा आर्यसत्य है। ४. बौद्धदर्शन में इनके स्थान में पाँच अभिज्ञाएँ हैं। देखो, **धर्मसंग्रह** पृ० ४ और **अभिधम्मत्थसंगहो** परिच्छेद ९ पैरा २४।

२२ शुभ, अशुभ, शुभाशुभ और न शुभ न अशुभ ऐसो कर्म की चतुर्भंगी।	२२ शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण और अशुक्लाकृष्ण ऐसी चतुष्पदी कर्म जाति (४, ७)

इसके सिवाय, कितनी ही बातें ऐसी भी हैं कि जिनमें से एक बात के ऊपर एक दर्शन द्वारा तो दूसरी बात के ऊपर दूसरे दर्शन द्वारा जोर दिया गया होने से वह बात उस उस दर्शन के एक खास विषय के तौर पर अथवा एक विशेषता के रूप में प्रसिद्ध हो गई है। उदाहरण के तौर पर कर्म के सिद्धान्तों को लीजिये। बौद्ध और योगदर्शन[1] में कर्म के मूल सिद्धान्त तो हैं ही। योगदर्शन में तो इन सिद्धान्तों का तफसील-वार वर्णन भी है; तो भी इन सिद्धान्तों के विषय का जैन दर्शन में एक विस्तृत और गहरा शास्त्र बन गया है, जैसा कि दूसरे किसी भी दर्शन में नहीं दिखाई देता। इसी से चारित्रमीमांसा में, कर्म के सिद्धान्तोंका वर्णन करते हुए, जैनसम्मत सम्पूर्ण कर्मशास्त्र[2] वाचक उमास्वाति ने संक्षेप में ही समाविष्ट कर दिया है। उसी प्रकार तात्त्विक दृष्टि से चारित्र की मीमांसा जैन, बौद्ध और योग तीनों दर्शनों में समान होते हुए भी कुछ कारणों से व्यवहार में अन्तर पड़ा हुआ नजर पड़ता है; और यह अन्तर ही उस उस दर्शन के अनुगामियों की विशेषता रूप हो गया है। क्लेश और कषाय का त्याग ही सभी के मत में चारित्र है; उसको सिद्ध करने के अनेक उपायों में से कोई एक के ऊपर तो दूसरा दूसरे के ऊपर अधिक जोर देता है। जैन आचार के संगठन में देहदमन[3] की प्रधानता दिखाई देती है, बौद्ध आचार के संगठन में देहदमन की जगह ध्यान पर जोर दिया गया है और योगदर्शनानुसारी परिव्राजकों के आचार के संगठन में प्राणायाम, शौच आदि के ऊपर अधिक जोर दिया गया है। यदि मुख्य चारित्र की सिद्धि में ही देहदमन, ध्यान तथा प्राणायाम आदि का बराबर उपयोग होवे तब तो इनमें से प्रत्येक का समान ही महत्त्व है; परन्तु जब ये बाह्य अंग मात्र

---

१. देखो, २. ३-१४। २. तत्त्वार्थ ६. ११-२६ और ८. ४-२६। ३. तत्त्वार्थ ९. ९ "देहदुक्खं महाफलं"—दशवैकालिक अ० ८ उ० २।

व्यवहार की लीक जैसे बन जाते हैं और उनमें से मुख्य चारित्र की सिद्धि की आत्मा उड़ जाती है तभी इनमें विरोध की दुर्गंध आती है, और एक संप्रदाय के आचार की निरर्थकता बतलाता है। बौद्ध साहित्य में और बौद्ध अनुगामी वर्ग में जैनों के देहदमनप्रधान तप[1] की निन्दा दिखाई पड़ती है, जैन साहित्य और जैन अनुगामी वर्ग में बौद्धों के सुखशील वर्तन और ध्यान का तथा परिव्राजकों के प्राणायाम और शौच का परिहास[2] दिखाई देता है। ऐसा होने से उस उस दर्शन की चारित्र-मीमांसा के ग्रंथों में व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाला वर्णन विशेष भिन्न दिखलाई पड़े तो वह स्वाभाविक है। इसी से तत्त्वार्थ की चारित्रमीमांसा में हम प्राणायाम या शौच के ऊपर एक भी सूत्र नहीं देखते, तथा ध्यान का उसमें अधिक वर्णन होते हुए भी उसको सिद्ध करने के लिये बौद्ध या योग दर्शन में वर्णन किये गए हैं वैसे व्यावहारिक उपाय हम नहीं देखते। इसी तरह तत्त्वार्थ में जो परीषहों और तप का विस्तृत तथा व्यापक वर्णन हैं वैसा हम योग या बौद्ध की चारित्रमीमांसा में नहीं देखते।

इसके सिवाय, चारित्रमीमांसा के सम्बन्ध में एक बात खास लक्ष्य में रखने जैसी है कि उक्त तीनों दर्शनों में ज्ञान और चारित्र-क्रिया दोनों को स्थान होते हुए भी जैन दर्शन में चारित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण रूप से स्वीकार कर के ज्ञान को उसका अंगरूप से स्वीकार किया गया है, जब कि बौद्ध और योग दर्शन में ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मान कर ज्ञान के अंग रूप से चारित्र को स्थान दिया गया है। यह वस्तु उक्त तीनों दर्शनों के साहित्य का और उनके अनुयायी वर्ग के जीवन का बारीकी से अभ्यास करने वाले को मालूम हुए बिना नहीं रहती; ऐसा होने से तत्त्वार्थ की चारित्र मीमांसा में चारित्रलक्षी क्रियाओं का और उनके भेद-प्रभेदों का अधिक वर्णन होना स्वाभाविक ही है।

---

१ **मज्झिमनिकाय** सूत्र १४।

२ **सूत्रकृतांग** अ० ३ उ० ४ गा० ६ की टीका तथा अ० ७ गा० १४ से आगे।

तुलना को पूरा करने से पहले चारित्र मीमांसा के अन्तिम साध्य मोक्ष के स्वरूप के संबंध में उक्त दर्शनों की क्या और कैसी कल्पना है यह भी जान लेना आवश्यक है। दुःख के त्याग में से ही मोक्ष की कल्पना उत्पन्न होने से सभी दर्शन दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं। न्याय[1], वैशेषिक[2], योग और बौद्ध ये चारों ऐसा मानते हैं कि दुःख के नाश के अतिरिक्त मोक्ष में दूसरी कोई भावात्मक वस्तु नहीं है, इससे उनके मत में मोक्ष में यदि सुख हो तो वह कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं, बल्कि उस दुःख के अभाव में ही पर्यवसित है, जब कि जैनदर्शन वेदान्त के सदृश ऐसा मानता है कि मोक्ष अवस्था मात्र दुःखनिवृत्ति नहीं, बल्कि इसमें विषय निरपेक्ष स्वाभाविक सुख जैसी स्वतन्त्र वस्तु भी है; मात्र सुख ही नहीं बल्कि उसके अतिरिक्त ज्ञान जैसे दूसरे स्वाभाविक गुणों का आविर्भाव जैनदर्शन इस अवस्था में स्वीकार करता है, जब कि दूसरे दर्शनों की प्रक्रिया ऐसा स्वीकार करने से इनकार करती है। मोक्ष के स्थान-संबंध में जैन दर्शन का मत सबसे निराला है। बौद्ध दर्शन में तो स्वतन्त्र आत्मतत्त्वका स्पष्ट स्थान न होने से मोक्ष के स्थान-संबंध में उसमें से किसी भी विचार-प्राप्ति की आशा को स्थान नहीं है। प्राचीन सभी वैदिक दर्शन आत्मविभुत्व-वादी होने से उनके मत में मोक्ष का स्थान कोई पृथक् हो ऐसी कल्पना ही नहीं हो सकती; परंतु जैनदर्शन स्वतंत्र आत्मतत्त्व-वादी है और ऐसा होते हुए भी आत्मविभुत्व-वादी नहीं, इससे उसको मोक्ष का स्थान कहाँ है इसका विचार करना पड़ता है और यह विचार उसने दरसाया भी है; तत्त्वार्थ के अन्त में वाचक उमास्वाति कहते हैं कि "मुक्त हुए जीव हरएक प्रकार के शरीर से छूटकर ऊर्ध्वगामी होकर अन्त में लोक के अग्रभाग में स्थिर होते हैं और वहाँ ही हमेशा के लिये रहते हैं।"

४. तत्त्वार्थ की व्याख्याएँ

साम्प्रदायिक व्याख्याओं के विषय में 'तत्त्वार्थाधिगम' सूत्र की तुलना 'ब्रह्मसूत्र' के साथ हो सकती है। जिस प्रकार बहुत से विषयों में परस्पर

---

१ देखो १.१.२२। २ देखो ५.२.१८।

बिलकुल भिन्न मत रखने वाले अनेक आचार्यों ने[1] ब्रह्मसूत्र पर व्याख्याएँ लिखी हैं और उसमें से ही अपने वक्तव्य को उपनिषदों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उसी प्रकार दिगम्बर, श्वेताम्बर इन दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने तत्त्वार्थ पर व्याख्याएँ लिखी हैं और इसमें से ही अपने परस्पर विरोधी मन्तव्यों को भी आगम के आधार पर फलित करने का प्रयत्न किया है। इस पर से सामान्य बात इतनी ही सिद्ध होती है कि जैसे ब्रह्मसूत्र की वेदान्त साहित्य में प्रतिष्ठा होने के कारण भिन्न भिन्न मत रखनेवाले प्रतिभाशाली आचार्यों ने उस ब्रह्मसूत्र का आश्रय लेकर उसके द्वारा ही अपने विशिष्ट वक्तव्य को दरसाने की आवश्यकता अनुभव की वैसे ही जैन वाङ्मय में जमी हुई तत्त्वार्थाधिगम की प्रतिष्ठा के कारण उसका आश्रय लेकर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों को अपने अपने मन्तव्यों को प्रकट करने की जरूरत हुई है। इतना स्थूल साम्य होते हुए भी ब्रह्मसूत्र की और तत्त्वार्थ की साम्प्रदायिक व्याख्याओंमें एक खास महत्त्व का भेद है कि जगत्, जीव, ईश्वर आदि जैसे तत्त्वज्ञान के मौलिक विषयों में ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार एक दूसरे से बहुत ही भिन्न पड़ते हैं और बहुत बार तो उनके विचारों में पूर्व-पश्चिम जितना अंतर दिखलाई देता है; तब दिगम्बर श्वेताम्बर संप्रदाय का अनुसरण करनेवाले तत्त्वार्थ के व्याख्याकारों में वैसा नहीं है। उनके बीच में तत्त्वज्ञान के मौलिक विषयोंपर कुछ भी भेद नहीं है और जो थोड़ा बहुत भेद है भी वह बिलकुल साधारण जैसी बातों में है और वह भी ऐसा नहीं कि जिसमें समन्वय को आवकाश ही न हो अथवा वह पूर्व-पश्चिम-जितना अंतर हो। वस्तुतः जैनतत्त्वज्ञान के मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों में खास मतभेद पड़ा ही नहीं; इससे उनकी तत्त्वार्थव्याख्याओं में दिखाई देनेवाला मतभेद बहुत गम्भीर नहीं गिना जाता।

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के ही ऊपर लिखी हुई प्राचीन, अर्वाचीन, छोटी, बड़ी, संस्कृत तथा लौकिक भाषामय अनेक व्याख्याएँ हैं; परन्तु उनमें से जिनका ऐतिहासिक महत्त्व हो, जिन्होंने जैनतत्त्वज्ञान को व्यवस्थित करने

---

१ शंकर, निम्बार्क, मध्व, रामानुज, वल्लभ आदि ने।

में तथा विकसित करने में प्रधान भाग लिया हो और जिनका खास दार्शनिक महत्त्व हो ऐसी चार ही व्याख्याएँ इस समय मौजूद हैं। उनमें से तीन तो दिगंबर सम्प्रदाय की हैं, जो मात्र साम्प्रदायिक भेद की ही नहीं बल्कि विरोध की तीव्रता होने के बाद प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं; और एक खुद सूत्रकार वाचक उमास्वाति की स्वोपज्ञ ही है। इससे इन चार व्याख्याओं के विषय में ही प्रथम यहाँ पर कुछ चर्चा करना उचित जान पड़ता है।

(क) *भाष्य और सर्वार्थसिद्धि*

'भाष्य' और 'सर्वार्थसिद्धि' इन दोनों टीकाओं के विषय में कुछ विचार करने के पहले इन दोनों के सूत्रपाठों के विषय मे विचार करना जरूरी है। यथार्थ में एक ही होते हुए भी पीछसे साम्प्रदायिक भेद के कारण सूत्रपाठ दो हो गये हैं, जिनमें एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर तौर पर प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर माने जानेवाले सूत्रपाठ का स्वरूप भाष्य के साथ ठीक बैठने से, उसे 'भाष्यमान्य' कह सकते हैं, और दिगम्बर माने जानेवाले सूत्रपाठ का स्वरूप सर्वार्थसिद्धि के साथ ठीक बैठने से उसे 'सर्वार्थसिद्धिमान्य' कह सकते हैं। सभी श्वेताम्बर आचार्य भाष्यमान्य सूत्रपाठ का ही अनुसरण करते हैं,[1] और सभी दिगम्बर आचार्य सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ का अनुसरण करते हैं। सूत्रपाठ के संबन्ध मे नीचे की चार बातें यहाँ जाननी जरूरी हैं—१. सूत्रसंख्या, २. अर्थभेद, ३. पाठान्तर विषयक भेद, ४. यथार्थता।

१. सूत्रसंख्या—भाष्यमान्य सूत्रपाठ की संख्या ३४४ और सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ की संख्या ३५७ है।

---

१ एक अपवाद यशोविजयगणि का है। देखें 'परिचय' पृ० ४५-४७

२. अर्थभेद—सूत्रों की संख्या और कहीं कहीं शाब्दिक रचना में फेर होते हुए भी मात्र मूलसूत्रों पर से ही अर्थ में महत्त्वपूर्ण फेरफार दिखाई दे ऐसे तीन स्थल हैं, बाकी सब मूलसूत्रों पर से सोलह संख्या विषयक पहला (४. १९), काल का स्वतन्त्र अस्तित्व-नास्तित्व विषयक दूसरा (५. ३८) और तीसरा स्थल पुण्य प्रकृतियों में हास्य आदि चार प्रकृतियों के होने न होने का (८. २६)।

३. पाठान्तर विषयक भेद—दोनों सूत्रपाठों के पारस्परिक भेद के अतिरिक्त फिर इस प्रत्येक सूत्रपाठ में भी भेद आता है। सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता ने जो पाठान्तर निर्दिष्ट किया है[1] उसको यदि अलग कर दिया जाय तो सामान्य तौर पर यही कहा जा सकता है कि सब दिगम्बर टीकाकार सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ में कुछ भी पाठ भेद सूचित नहीं करते। इससे ऐसा कहना चाहिये कि पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि रचते समय जो सूत्रपाठ प्राप्त किया तथा सुधारा-बढ़ाया उसी को निर्विवाद रूप से पीछे के सभी दिगम्बर टीकाकारों ने मान्य रक्खा। जब कि भाष्यमान्य सूत्रपाट के विषय में ऐसा नहीं, यह सूत्रपाठ श्वेताम्बर तौर पर एक होने पर भी उसमें कितने ही स्थानों पर भाष्य के वाक्य सूत्र रूप में दाखिल हो जाने का, कितने ही स्थानों पर सूत्र रूप में माने जानेवाले वाक्यों का भाष्यरूप में भी गिने जाने का, कहीं कहीं असल के एक ही सूत्र के दो भागों में बँट जाने का और कहीं असल के दो सूत्र मिल कर वर्तमान में एक ही सूत्र हो जाने का सूचन भाष्य की लभ्य दोनों टीकाओं में सूत्रों की पाठान्तर विषयक चर्चा पर से स्पष्ट होता है[2]।

४ यथार्थता—उक्त दोनों सूत्रपाठों में असली कौन और परिवर्तित कौन? यह प्रश्न सहज उत्पन्न होता है; इस वक्त तक के किये हुए विचार पर से मुझे निश्चय हुआ है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ ही असली है अथवा वह सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ की अपेक्षा असली सूत्रपाठ के बहुत ही निकट है।

---

१ देखो, २. ५३।

२ देखो, २. १९। २. ३७। ३. ११। ५. २–३। ७. ३ और ५ इत्यादि।

सूत्रपाठ-विषय में इतनी चर्चा करने के पश्चात् अब उसके ऊपर सर्व प्रथम रचे हुए भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि इन दो टीकाओं के विषय में कुछ विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। भाष्यमान्य सूत्रपाठ का असली-पना अथवा असली पाठ के विशेष निकट होना तथा पूर्व कथनानुसार भाष्य का वा० उमास्वाति कर्तृकत्व इन बातों में दिगम्बर आचार्यों का मौन स्वाभाविक है। क्योंकि पूज्यपाद के बाद होनेवाले सभी दिगम्बर आचार्यों की टीकाओं का मूल आधार सर्वार्थसिद्धि और उसका मान्य सूत्रपाठ ही है। इससे यदि वे भाष्य या भाष्यमान्य सूत्रपाठ को ही उमास्वाति कर्तृक कहें तो पूज्यपाद संमत सूत्रपाठ और उसकी व्याख्या का प्रामाण्य पूरा पूरा नहीं रह सकता। दिगम्बर परम्परा सर्वार्थसिद्धि और उसके मान्य सूत्रपाठ को प्रमाणसर्वस्व मानती है। ऐसा होने से भाष्य और सर्वार्थसिद्धि दोनों का प्रामाण्य-विषयक बलाबल बिना जांचे प्रस्तुत परिचय अधूरा ही रहता है। भाष्य की स्वोपज्ञता के विषय में कोई सन्देह न होते हुए भी थोड़ी देर दलील के लिये यदि ऐसा मान लिया जाय कि यह स्वोपज्ञ नहीं तो भी इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भाष्य सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा प्राचीन तथा तत्त्वार्थ सूत्र की पहली ही टीका है; क्योंकि वह सर्वार्थसिद्धि जैसी साम्प्रदायिक नहीं है। इस तत्त्व को समझने के लिये यहाँ तीन बातों की पर्यालोचना की जाती है—(क) शैली भेद (ख) अर्थ विकास और (ग) साम्प्रदायिकता।

(क) शैली भेद—किसी एक ही सूत्र के भाष्य और उसकी सर्वार्थसिद्धि सामने रख कर तुलना की दृष्टि से देखनेवाले अभ्यासी को ऐसा मालूम पड़े बिना नहीं रहता कि सर्वार्थसिद्धि से भाष्य की शैली प्राचीन है तथा पद पद पर सर्वार्थसिद्धि में भाष्य का प्रतिबिम्ब है। इन दोनों टीकाओं से भिन्न और दोनों से प्राचीन तीसरी कोई टीका तत्त्वार्थ सूत्र पर होने का यथेष्ट प्रमाण जब तक न मिले तब तक भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की तुलना करनेवाले ऐसा कहे बिना नहीं रहेंगे कि भाष्य को सामने रख कर सर्वार्थसिद्धि की रचना की गई है। भाष्य की शैली प्रसन्न और गंभीर होते हुए भी दार्शनिकता की दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि

की शैली भाष्य की शैली की अपेक्षा विशेष विकसित और विशेष परिशीलित है ऐसा निःसन्देह जान पड़ता है। संस्कृत भाषा के लेखन और जैन साहित्य में दार्शनिक शैली के जिस विकास के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है वह विकास भाष्य में दिखाई नहीं देता; ऐसा होने पर भी इन दोनों की भाषा में जो बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है वह स्पष्ट सूचित करता है कि दोनों में भाष्य ही प्राचीन है।

उदाहरण के तौर पर पहले अध्याय के पहले सूत्र के भाष्य में सम्यक् शब्द के विषय में लिखा है कि 'सम्यक्' निपात है अथवा 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'अञ्च' धातु का रूप है; इसी विषय में सर्वार्थसिद्धिकार लिखते हैं कि 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् व्युत्पत्ति-रहित अखंड है अथवा व्युत्पन्न है—धातु और प्रत्यय दोनों मिलाकर व्युत्पत्तिपूर्वक सिद्ध हुआ है। 'अञ्च' धातु को 'क्विप्' प्रत्यय लगाया जाय तब 'सम्+अञ्चति' इस रीति से 'सम्यक्' शब्द बनता है। 'सम्यक्' शब्द विषयक निरूपण की उक्त दो शैलियों में भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि की स्पष्टता विशेष है। इसी प्रकार भाष्य में 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में सिर्फ इतना ही लिखा है कि 'दर्शन' 'दृशि' धातु का रूप है, जब कि सर्वार्थसिद्धि में 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से स्पष्ट बतलाई गई है। भाष्य में 'ज्ञान' और 'चारित्र' शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट बतलाई नहीं है; जब कि सर्वार्थसिद्धि में इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से स्पष्ट बतलाई है और बाद में उसका जैनदृष्टि से समर्थन किया गया है। इसी तरह से समास में दर्शन और ज्ञान शब्दों में पहले कौन आवे और पीछे कौन आवे यह सामासिक चर्चा भाष्य में नहीं; जब कि सर्वार्थसिद्धि में वह स्पष्ट है। इसी तरह पहले अध्याय के दूसरे सूत्र के भाष्य में 'तत्त्व' शब्द के सिर्फ दो अर्थ सूचित किये गये हैं; जब कि सर्वार्थसिद्धि में इन दोनों अर्थों की उत्पत्ति की गई है और 'दृशि' धातु का श्रद्धा अर्थ कैसे लेना, यह बात भी दरसाई गई है, जो भाष्य में नहीं है।

(ख) अर्थविकास[1]—अर्थ की दृष्टि से देखें तो भी भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि अर्वाचीन प्रतीत होती है। जो एक बात भाष्य में होती है उसको विस्तृत करके—उसके ऊपर अधिक चर्चा करके—सर्वार्थसिद्धि में निरूपण किया गया है। व्याकरणशास्त्र और जैनेतर दर्शनों की जितनी चर्चा सर्वार्थसिद्धि में है उतनी भाष्य में नहीं। जैन परिभाषा का, संक्षिप्त होते हुए भी, जो स्थिर विशदीकरण और वक्तव्य का जो पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि में है वह भाष्य में कम से कम है। भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि की तार्किकता बढ़ जाती है, और भाष्य में नहीं ऐसे विज्ञानवादी बौद्ध आदिकों के मन्तव्य उसमें जोड़े जाते हैं और दर्शनान्तर का खंडन जोर पकड़ता है। ये सब बातें सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य की प्राचीनता को सिद्ध करती हैं।

(ग) साम्प्रदायिकता[2]—उक्त दो बातों की अपेक्षा साम्प्रदायिकता की बात अधिक महत्त्व की है। कालतत्त्व, केवलिकवलाहार, अचेलकत्व और स्त्रीमोक्ष जैसे विषयों के तीव्र मतभेद का रूप धारण करने के बाद और इन बातों पर साम्प्रदायिक आग्रह बँध जाने के बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है; जब कि भाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का यह तत्त्व दिखाई नहीं देता। जिन बातों में रूढ़ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साथ में दिगम्बर सम्प्रदाय का विरोध है उन सभी बातों को सर्वार्थसिद्धि के प्रणेता ने सूत्रों में फेर-फार करके या उनके अर्थ में खींचतान करके या असंगत अध्याहार आदि करके चाहे जिस रीति से दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुकूल पड़े उस प्रकार सूत्रों में से उत्पन्न करके निकालने का साम्प्रदायिक प्रयत्न किया है, वैसा प्रयत्न भाष्य में कहीं दिखाई नहीं देता; इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि सर्वार्थसिद्धि साम्प्रदायिक विरोध का वातावरण

---

१ उदाहरण के तौर पर तुलना करो १. २; १. १२; १. ३२ और २.१ इत्यादि सूत्रों का भाष्य और सर्वार्थसिद्धि।

२. देखो, ५. ३९; ६. १३; ८. १; ९. ९; ९. ११; १०. ९ इत्यादि सूत्रों की सर्वार्थसिद्धि के साथ उन्हीं सूत्रोंका भाष्य।

कम जाने के बाद पीछे से लिखी गई है और भाष्य इस विरोध के वातावरण से मुक्त है।

तब यहाँ प्रश्न होता है कि यदि इस प्रकार भाष्य प्राचीन हो तो उसे दिगम्बर परम्पराने छोड़ा क्यों? इसका उत्तर यही है कि सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता को जिन बातों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यताओं का जो खंडन करना था उसका यह खंडन भाष्य में नहीं था, इतना ही नहीं किन्तु भाष्य अधिकांश में रूढ़ दिगम्बर परम्परा का पोषक हो सके ऐसा भी नहीं था, और बहुत से स्थानों पर तो वह उलटा दिगम्बर परम्परा से बहुत विरुद्ध जाता था[1]। इससे पूज्यपाद ने भाष्य को एक तरफ रख सूत्रों पर स्वतंत्र टीका लिखी और ऐसा करते हुए सूत्रपाठ में इष्ट सुधार तथा वृद्धि की[2] और उसकी व्याख्या में जहां मतभेद वाली बात आई वहाँ स्पष्ट रीति से दिगम्बर मन्तव्यों का ही स्थापन किया, ऐसा करने में पूज्यपाद को कुन्दकुन्द के ग्रन्थ मुख्य आधारभूत हुए जान पड़ते हैं। ऐसा होने से दिगम्बर परंपरा ने सर्वार्थसिद्धि को मुख्य प्रमाण रूप से स्वीकार कर लिया और भाष्य स्वाभाविक रीति से ही श्वेताम्बर परंपरा में मान्य रह गया। भाष्य पर किसी भी दिगम्बर आचार्यने टीका नहीं लिखी, इससे वह दिगम्बर परम्परा से दूर ही रह गया; और अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने भाष्यपर टीकाएँ लिखी हैं और कहीं कहीं पर भाष्य के मन्तव्यों का विरोध किये जाने पर भी समष्टिरूप से उसका प्रामाण्य ही स्वीकार किया है इसी से वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि भाष्य के प्रति दिगम्बर परंपरा की जो आजकल मनोवृत्ति

---

१. ९. ७ तथा २४ के भाष्य में वस्त्र का उल्लेख है। तथा १०. ७ के भाष्य में 'तीर्थकरीतीर्थ' का उल्लेख है।

२. जहां जहां अर्थ की खींचतान की है अथवा पुलाक आदि जैसे स्थलों पर ठीक बैठता विवरण नहीं हो सका उन सूत्रों को क्यों न निकाल डाला? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रपाठ की अतिप्रसिद्धि और निकाल डालने पर अप्रामाण्य का आक्षेप आने का डर था ऐसा जान पड़ता है।

देती आती है वह पुराने दिगम्बराचार्यों में नहीं थी। क्योंकि अकलंक जैसे प्रमुख दिगम्बराचार्य भी यथा संभव भाष्य के साथ अपने कथन की संगति दिखाने का प्रयत्न करके भाष्य के विशिष्ट प्रामाण्य का सूचन करते हैं (देखो राजवार्तिक ५. ४. ८.) और कहीं भी भाष्य का नामोल्लेख पूर्वक खण्डन नहीं करते या अप्रामाण्य नहीं दिखाते।

(ख) दो वार्तिक

ग्रन्थों का नामकरण भी आकस्मिक नहीं होता; खोज की जाय तो उसका भी विशिष्ट इतिहास है। पूर्वकालीन और समकालीन विद्वानों की भावना में से तथा साहित्य के नामकरणप्रवाह में से प्रेरणा पाकर ही ग्रन्थकार अपनी कृतियों का नामकरण करते हैं। व्याकरण पर पातंजल महाभाष्य की प्रतिष्ठा का असर पिछले अनेक ग्रन्थकारों पर हुआ, यह बात हम उनकी कृतियों के भाष्य नाम से जान सकते हैं। इसी असर ने वा० उमास्वाति को भाष्य नामकरण करने के लिये प्रेरित किया हो, ऐसा सम्भव है। बौद्ध साहित्य में एक ग्रन्थ का नाम 'सर्वार्थसिद्धि' होने का स्मरण है, जिसका और प्रस्तुत सर्वार्थसिद्धि के नाम का पौर्वापर्य सम्बन्ध अज्ञात है, परन्तु वार्तिकों के विषय में इतना निश्चित है कि एक बार भारतीय वाङ्मय में वार्तिक युग आया और भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में भिन्न भिन्न विषयों के ऊपर वार्तिक नाम के अनेक ग्रन्थ लिखे गये। उसी का असर तत्त्वार्थ के प्रस्तुत वार्तिकों के नामकरण पर है। अकलंक ने अपनी टीका का नाम 'तत्त्वार्थवार्तिक' रक्खा है, जो[1] राजवार्तिक नाम से प्रसिद्ध है। विद्यानन्द कृत तत्त्वार्थव्याख्या का 'श्लोकवार्तिक' नाम कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' का अनुकरण है। इसमें कुछ भी शङ्का नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र पर अकलङ्क ने जो 'राजवार्तिक' लिखा है और विद्यानन्द ने जो 'श्लोकवार्तिक' लिखा है, उन दोनों का मूल आधार सर्वार्थसिद्धि ही है। यदि अकलङ्क को सर्वार्थसिद्धि न मिली होती तो राजवार्तिक का वर्तमान स्वरूप ऐसा विशिष्ट नहीं होता, और यदि राजवार्तिक

१ सांख्यसाहित्य में भी एक राजवार्तिक नाम का ग्रन्थ मौजूद था।

का आश्रय न होता तो विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक में जो विशिष्टता दिखलाई देती है वह भी न होती, यह निश्चित है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक ये दोनों साक्षात् या परम्परा से सर्वार्थसिद्धि के ऋणी होने पर भी इन दोनों में सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा विशेष विकास हुआ है। उद्योतकरके 'न्यायवार्तिक' की तरह 'तत्त्वार्थवार्तिक' गद्य में है, जब कि 'श्लोकवार्तिक' कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' तथा धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' तथा सर्वज्ञात्म मुनि कृत संक्षेपशारीरकवार्तिक की तरह पद्य में है। कुमारिल की अपेक्षा विद्यानन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने स्वयं ही अपने पद्यवार्तिक की टीका भी लिखी है। राजवार्तिक में लगभग समस्त सर्वार्थसिद्धि आ जाती है फिर भी उसमें नवीनता और प्रतिभा इतनी अधिक है कि सर्वार्थसिद्धि को साथ रख कर राजवार्तिक को बांचते हुए उसमें कुछ भी पौनरुक्त्य दिखाई नहीं देता। लक्षणनिष्णात पूज्यपाद के सर्वार्थसिद्धिगत सभी विशेष वाक्यों को अकलङ्क ने पृथक्करण और वर्गीकरण पूर्वक वार्तिकों में परिवर्तित कर डाला है और वृद्धि करने योग्य दिखाई देने वाली बातों तथा वैसे प्रश्नों के विषय में नवीन वार्तिक भी रचे हैं। और सब गद्य वार्तिकों पर स्वयं ही स्फुट विवरण लिखा है। इससे समष्टिरूप से देखते हुए, 'राजवार्तिक' सर्वार्थसिद्धि का विवरण होने पर भी वस्तुतः एक स्वतन्त्र ही ग्रन्थ है। सर्वार्थसिद्धि में जो दार्शनिक अभ्यास नजर पड़ता है उसकी अपेक्षा राजवार्तिक का दार्शनिक अभ्यास बहुत ही ऊँचा चढ़ जाता है। राजवार्तिक का एक ध्रुव मन्त्र यह है कि उसे जिस बात पर जो कुछ कहना होता है उसे वह 'अनेकान्त' का आश्रय लेकर ही कहता है। 'अनेकान्त' राजवार्तिक की प्रत्येक चर्चा की चाबी है। अपने समय पर्यन्त भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों ने 'अनेकान्त' पर जो आक्षेप किये और अनेकान्तवाद की जो त्रुटियाँ बतलाईं उन सब का निरसन करने और अनेकान्त का वास्तविक स्वरूप बतलाने के लिये ही अकलंक ने प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर सिद्धलक्षण वाली सर्वार्थसिद्धि का आश्रय लेकर अपने राजवार्तिक की भव्य इमारत खड़ी की है। सर्वार्थसिद्धि में जो आगमिक विषयों का अति विस्तार है उसे राजवार्तिककार ने घटा कर कम कर दिया है[1] और दार्शनिक विषयों को ही प्राधान्य दिया है।

---

१. तुलना करो १. ७-८ की सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक।

दक्षिण हिन्दुस्तान में निवास करते विद्यानन्द ने देखा कि पूर्वकालीन और समकालीन अनेक जैनेतर विद्वानों ने जैनदर्शन पर जो हमले किये हैं उनका उत्तर देना बहुत कुछ बाकी है; और खास कर मीमांसक कुमारिल आदि द्वारा किये गये जैनदर्शन के खंडन का उत्तर दिये बिना उनसे किसी तरह भी रहा नहीं जा सका; तभी उन्होंने श्लोकवार्तिक की रचना की। हम देखते हैं कि इन्होंने अपना यह उद्देश्य सिद्ध किया है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में जितना और जैसा सबल मीमांसक दर्शन का खंडन है वैसा तत्त्वार्थसूत्र की दूसरी किसी टीका में नहीं। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक में चर्चित हुए कोई भी मुख्य विषय छूटे नहीं; उलटा बहुत से स्थानों पर तो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है। कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में बिलकुल अपूर्व ही है। राजवार्तिक में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। समग्र जैन वाङ्मय में जो थोड़ी बहुत कृतियाँ महत्व रखती हैं उनमें की कृतियाँ 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' भी हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बर साहित्य में से एक भी ग्रंथ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके ऐसा दिखलाई नहीं देता। भाष्य में दिखलाई देने वाला साधारण दार्शनिक अभ्यास सर्वार्थसिद्धि में कुछ गहरा बन जाता है और राजवार्तिक में वह विशेष गाढ़ा होकर अंत में श्लोकवार्तिक में खूब जम जाता है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक के इतिहासज्ञ अभ्यासी को मालूम ही पड़ेगा कि दक्षिण हिन्दुस्तान में जो दार्शनिक विद्या और स्पर्धा का समय आया और अनेकमुख पांडित्य विकसित हुआ उसी का प्रतिबिम्ब इन दो ग्रंथों में है। प्रस्तुत दोनों वार्तिक जैन दर्शन का प्रामाणिक अभ्यास करने के पर्याप्त साधन हैं; परन्तु इन में से 'राजवार्तिक' गद्य, सरल और विस्तृत होने से तत्त्वार्थ के संपूर्ण टीका ग्रंथों की गरज अकेला ही पूरी करता है। ये दो वार्तिक यदि नहीं होते तो दसवीं शताब्दी तक के दिगम्बर साहित्य में

जो विशिष्टता आई है और इसकी जो प्रतिष्ठा बंधी है वह निश्चय से अधूरी ही रहती। ये दो वार्तिक साम्प्रदायिक होने पर भी अनेक दृष्टियों से भारतीय दार्शनिक साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त करें ऐसी योग्यता रखते हैं। इनका अवलोकन बौद्ध और वैदिक परंपरा के अनेक विषयों पर तथा अनेक ग्रन्थों पर ऐतिहासिक प्रकाश डालता है।

(ग) दो वृत्तियाँ

मूल सूत्र पर रची गई व्याख्याओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के बाद अब व्याख्या पर रची हुई व्याख्याओं का परिचय प्राप्त करने का अवसर आता है। ऐसी दो व्याख्याएँ इस समय पूरी पूरी उपलब्ध हैं, जो दोनों ही श्वेताम्बर हैं। इन दोनों का मुख्य साम्य संक्षेप में इतना ही है कि ये दोनों व्याख्याएँ उमास्वाति के स्वोपज्ञ भाष्य को शब्दशः स्पर्श करती हैं और उसका विवरण करती हैं। भाष्य का विवरण करते समय भाष्य का आश्रय लेकर सर्वत्र आगमिक वस्तु का ही प्रतिपादन करना और जहाँ भाष्य आगम से विरुद्ध जाता दिखाई देता हो वहाँ भी अन्त को आगमिक परम्परा का ही समर्थन करना, यह इन दोनों वृत्तियों का समान ध्येय है। इतना साम्य होते हुए भी इन दोनों वृत्तियों में परस्पर भेद भी है। एक वृत्ति जो प्रमाण में बड़ी है वह एक ही आचार्य की कृति है, जब कि दूसरी छोटी वृत्ति तीन आचार्यों की मिश्र कृति है। लगभग अठारह हजार श्लोक प्रमाण बड़ी वृत्ति में अध्यायों के अन्त में तो बहुत करके 'भाष्यानुसारिणी' इतना ही उल्लेख मिलता है; जब कि छोटी वृत्ति के हरएक अध्याय के अन्त में दिखाई देने वाले उल्लेख कुछ न कुछ भिन्नता वाले हैं। कहीं "हरिभद्रविरचितायाम्" (प्रथमाध्याय की पुष्पिका) तो कहीं 'हरिभद्रोद्धृतायाम्' (द्वितीय, चतुर्थ और पंचमाध्याय के अन्त में) है, कहीं "हरिभद्रारब्धायाम्" (छठे अध्यायके अन्तमें) तो कहीं 'प्रारब्धायाम्' (सातवें अध्याय के अन्त में) है। कहीं 'यशोभद्राचार्यनिर्यूढायाम्' (छठे अध्याय के अन्त में) तो कहीं 'यशोभद्रसूरिशिष्यनिर्वाहितायाम्' दसवें अध्याय के अन्त में) है, बीच में कहीं 'तत्रैवाप्यकर्तृकायाम्' (आठवें अध्याय

के अन्त में) तथा 'तस्यामेवान्यकर्तृकायाम्' (नवें अध्याय के अन्त में) हैं। इन सब उल्लेखों की भाषाशैली तथा समुचित संगति का अभाव देखकर कहना पड़ता है कि ये सब उल्लेख उस कर्ता के अपने नहीं हैं। हरिभद्र ने अपने पाँच अध्यायों के अन्त में खुद लिखा होता तो विरचित और उद्धृत ऐसे भिन्नार्थक दो शब्द प्रयुक्त कभी नहीं करते जिनसे कोई एक निश्चित अर्थ नहीं निकल सकता कि वह भाग हरिभद्र ने स्वयं नया रचा या किसी एक या अनेक वृत्तियों का संक्षेप विस्तार रूप उद्धार किया। इसी तरह यशोभद्र लिखित अध्यायों के अन्त में भी एकवाक्यता नहीं। 'यशोभद्रनिर्वाहितायाम्' ऐसा शब्द होनेपर भी 'अन्यकर्तृकायाम्' लिखना या तो व्यर्थ है या किसी अर्थान्तर का सूचक है।

यह सब गड़बड़ देखकर मेरा अनुमान होता है कि अध्याय के अन्त वाले उल्लेख किसी एक या अनेक लेखकों के द्वारा एक समय में या जुदे जुदे समय में नकल करते समय प्रविष्ट हुए हैं। और ऐसे उल्लेखों की रचना का आधार यशोभद्र के शिष्य का वह पद्य-गद्य है जो उसने अपनी रचना के प्रारम्भ में लिखा है।

उपर्युक्त उल्लेखों के पीछे से दाखिल होने की कल्पना का पोषण इससे भी होता है कि अध्यायों के अन्त में पाया जानेवाला 'डुपडुपिकायाम्' ऐसा पद अनेक जगह त्रुटित है। जो कुछ हो अभी तो उन उल्लेखों के आधार से नीचे लिखी बातें फलित होती हैं :

१. तत्त्वार्थभाष्य के ऊपर हरिभद्र ने वृत्ति रची जो पूर्वकालीन या समकालीन छोटी छोटी खण्डित, अखण्डित वृत्तियों का उद्धार है; क्योंकि उसमें उन वृत्तियों का यथोचित समावेश हो गया है।

२. हरिभद्र की अधूरी वृत्ति को यशोभद्र ने तथा उनके शिष्य ने गन्धहस्ती की वृत्ति के आधार से पूरा किया।

३. वृत्ति का डुपडुपिका नाम (अगर सचमुच वह नाम सत्य तथा ग्रन्थकारों का रक्खा हुआ हो तो) इसलिए पड़ा जान पड़ता है कि वह टुकड़े टुकड़े बनकर पूरी हुई; किसी एक के द्वारा पूरी बन न सकी। किसी

प्रति में 'डुपडुपिका' पाठान्तर है। डुपडुपिका शब्द इस स्थान के सिवाय अन्यत्र कहीं देखा व सुना नहीं गया। सम्भव है वह अपभ्रष्ट पाठ हो या कोई देशीय शब्द रहा हो। जैसी मैंने प्रथम कल्पना[1] की थी कि उसका अर्थ कदाचित् डोंगो हो, किसी विद्वान् मित्र ने यह भी कहा था कि वह संस्कृत उडूपिका का भ्रष्ट पाठ है। पर अब सोचने से वह कल्पना और वह सूचना ठीक नहीं जान पड़ती। यशोभद्र के शिष्य ने अन्त में जो वाक्य लिखा है उससे तो ऐसा कुछ ध्वनित होता है कि यह छोटी वृत्ति थोड़ी अमुक ने रची थोड़ी दूसरे अमुक ने थोड़ी तीसरे अमुक ने इस कारण डुपडुपिका बन गई, मानों एक कंथा-सी बन गई।

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक के साथ सिद्धसेनीय वृत्ति की तुलना करने से इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि जो भाषा का प्रसाद, रचना की विशदता और अर्थ का पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में है, वह सिद्धसेनीय वृत्ति में नहीं। इसके दो कारण हैं। एक तो ग्रन्थकार का प्रकृतिभेद और दूसरा कारण पराश्रित रचना है। सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिककार सूत्रों पर अपना अपना वक्तव्य स्वतन्त्र रूप से ही कहते हैं।

सिद्धसेन को भाष्य का शब्दशः अनुसरण करते हुए पराश्रित रूप से चलना पड़ता है। इतना भेद होने पर भी समग्र रीति से सिद्धसेनीय वृत्तिका अवलोकन करते समय मन पर दो बातें तो अंकित होती ही हैं। उनमें पहली यह कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक की अपेक्षा सिद्धसेनीय वृत्ति की दार्शनिक योग्यता कम नहीं। पद्धति भेद होने पर भी समष्टि रूप से इस वृत्ति में भी उक्त दो ग्रन्थों-जितनी ही न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और बौद्धदर्शनों की चर्चा की विरासत है। और दूसरी बात यह है कि सिद्धसेन अपनी वृत्ति में दार्शनिक और तार्किक चर्चा करते हुए भी अन्त में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की तरह आगमिक परम्परा का प्रबल रूप से स्थापन करते हैं और इस स्थापन में उनका आगमिक अभ्यास प्रचुर रूप से दिखाई देता है। सिद्धसेन की वृत्ति को देखते हुए मालूम पड़ता है कि उनके समय तक तत्त्वार्थ पर अनेक व्याख्याएँ रची गई थीं। किसी-किसी

---

१ गुजराती **तत्त्वार्थविवेचन** परिचय पृ० ८४

स्थल पर एक ही सूत्र के भाष्य का विवरण करते हुए वे पाँच, छः मतान्तर[1] निर्दिष्ट करते हैं, इससे ऐसा अनुमान करने का कारण मिलता है कि जब सिद्धसेनने वृत्ति रची तब उनके सामने कम से कम तत्त्वार्थ पर रची हुई पाँच टीकाएँ होनी चाहिए। सिद्धसेन की वृत्ति में तत्त्वार्थगत विषय-सम्बन्धी जो विचार और भाषा की पुष्ट विरासत दिखलाई देती है उसे देखते हुए ऐसा भलीभाँति मालूम होता है कि इस वृत्ति के पहले तत्त्वार्थ से संबंध रखने वाला काफी साहित्य रचा हुआ तथा वृद्धि को प्राप्त हुआ होना चाहिये।

(घ) खण्डित वृत्ति

भाष्य पर तीसरी वृत्ति उपाध्याय यशोविजय की है; यदि यह पूर्ण मिल जाती तो सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी तक प्राप्त होनेवाले भारतीयदर्शन शास्त्र के विकास का एक नमूना पूर्ण करती, ऐसा वर्तमान में उपलब्ध इस वृत्ति के एक छोटे से खण्ड पर से ही कहने का मन हो आता है। यह खण्ड प्रथम अध्याय के ऊपर भी पूरा नहीं, और इसमें ऊपर की दो वृत्तियों के समान ही शब्दशः भाष्य का अनुसरण कर विवरण किया गया है; ऐसा होने पर भी इसमें जो गहरी तर्कानुगामी चर्चा, जो बहुश्रुतता और जो भावस्फोटन दिखाई देता है वह यशोविजय की न्याय-विशारदता का निश्चय कराता है। यदि यह वृत्ति इन्होंने सम्पूर्ण रची होगी तो ढाई सौ ही वर्षों में उसका सर्वनाश हो गया हो एसा मानने से जी हिचकता है, अतः इसकी शोध के लिये किये जानेवाले प्रयत्न का नष्फल जाना सम्भव नहीं।

रत्नसिंह का टिप्पण

अनेकान्त वर्ष ३ किरण १ (ई.१९३९) में पं० जुगलकिशोरजी ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की सटिप्पण एक प्रति का परिचय कराया है। इस पर से जान पड़ता है कि वह टिप्पण केवल मूलसूत्र स्पर्शी है। टिप्पणकार

---

१ देखो ५. ३ की सिद्धसेनीय वृत्ति पृ० ३२१।

श्वे० रत्नसिंह का समय तो ज्ञात नहीं पर उक्त परिचय में जो अवतरण दिये गये हैं उनकी भाषा तथा लेखन शैली से ऐसा मालूम होता है कि वह रत्नसिंह १६ वीं शताब्दी के पूर्व का शायद ही हो। वह टिप्पण अभी तक कहीं छपा नहीं है। लिखित प्रति के आठ पत्र हैं।

ऊपर जो तत्त्वार्थ पर महत्त्वपूर्ण तथा अभ्यास योग्य थोड़े से ग्रन्थों का परिचय दिया गया है वह सिर्फ अभ्यासियों की जिज्ञासा जागरित करने और इस दिशा में विशेष प्रयत्न करने की सूचना करना भर है। वास्तव में तो प्रत्येक ग्रन्थ का परिचय एक-एक स्वतन्त्र निबन्ध की अपेक्षा रखता है और इन सब का सम्मिलित परिचय तो एक खासी मोटी पुस्तक की अपेक्षा रखता है, जो काम इस स्थल की मर्यादा के बाहर है; इसलिए इतने ही परिचय से सन्तोष धारण कर विराम लेना उचित समझता हूँ।

सुखलाल

परिशिष्ट

मैंने पं० नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार से उमास्वाति तथा तत्त्वार्थ से सम्बन्ध रखने वाली बातों के विषय में कुछ प्रश्न पूछे थे, जो उत्तर उनकी तरफ से मुझे मिला है उसका मुख्य भाग उन्हीं की भाषा में अपने प्रश्नों के साथ ही नीचे दिया जाता है। ये दोनों महाशय ऐतिहासिक दृष्टि रखते हैं और वर्तमान के दिगम्बर विद्वानों में, ऐतिहासिक दृष्टि से, इन दोनों की योग्यता उच्च कोटि की है। इससे अभ्यासियों के लिये उनके विचार काम के होने से उन्हें परिशिष्ट के रूप में यहाँ देता हूँ। पं० जुगलकिशोरजी के उत्तर पर से जिस अंशपर मुझे कुछ कहना है उसे उनके पत्र के बाद 'मेरी विचारणा' शीर्षक के नीचे यहीं बतला दूंगा—

(क) प्रश्न

१ उमास्वाति कुन्दकुन्द का शिष्य या वंशज है इस भाव का उल्लेख सबसे पुराना किस ग्रंथ, पट्टावली या शिलालेख में आप के देखने में अब तक आया है? अथवा यों कहिये कि दसवीं सदी के पूर्ववर्ती किस ग्रन्थ, पट्टावली आदि में उमास्वाति का कुन्दकुन्द का शिष्य होना या वंशज होना अब तक पाया गया है?

२ आप के विचार में पूज्यपाद का समय क्या है? तत्त्वार्थ का श्वेताम्बर भाष्य आप के विचार से स्वोपज्ञ है या नहीं? यदि स्वोपज्ञ नहीं है तो उस पक्ष में महत्त्व की दलीलें क्या हैं?

३ दिगम्बर परम्परा में कोई 'उच्चनागर' नामक शाखा कभी हुई है, और वाचकवंश या वाचकपद धारी कोई मुनिगण प्राचीन काल में कभी हुआ है, यदि हुआ है तो उसका वर्णन या उल्लेख कहाँ पर है?

४ मुझे संदेह है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति कुन्दकुन्द के शिष्य थे; क्योंकि कोई भी प्राचीन प्रमाण अभी तक मुझे नहीं मिला। जो

मिले वे सब बारहवीं सदी के बाद के हैं। इसलिये उक्त प्रश्न पूछ रहा हूँ, जो सरसरी तौर से ध्यान में आवे सो लिखना।

५ प्रसिद्ध तत्त्वार्थशास्त्र की रचना कुंदकुंद के शिष्य उमास्वाति ने की है; इस मान्यता के लिये दसवीं सदी से प्राचीन क्या क्या सबूत या उल्लेख हैं और वे कौन से हैं? क्या दिगम्बर साहित्य में दसवीं सदी से पुराना कोई ऐसा उल्लेख है जिसमें कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वाति के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र की रचना किये जाने का सूचन या कथन हो।

६ "तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्" यह पद्य कहाँ का है और कितना पुराना है?

७ पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्द आदि प्राचीन टीकाकारों ने कहीं भी तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता रूप से उमास्वाति का उल्लेख किया है? यदि नहीं किया है तो पीछे से यह मान्यता क्यों चल पड़ी?

(ख) प्रेमीजी का पत्र

"आपका ता० ६ का कृपा पत्र मिला। उमास्वाति कुन्दकुन्द के वंशज हैं, इस बात पर मुझे जरा भी विश्वास नहीं है। यह वंश-कल्पना उस समय की गई है जब तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक आदि टीकाएँ बन चुकी थीं और दिगम्बर सम्प्रदाय ने इस ग्रंथ को पूर्णतया अपना लिया था। दसवीं शताब्दी के पहले का कोई भी उल्लेख अभी तक मुझे इस सम्बन्ध में नहीं मिला। मेरा विश्वास है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में जो बड़े बड़े विद्वान् ग्रंथकर्ता हुए हैं, प्रायः वे किसी मठ या गद्दी के पट्टधर नहीं थे। परन्तु जिन लोगों ने गुर्वावली या पट्टावली बनाई हैं उनके मस्तक में यह बात भरी हुई थी कि जितने भी आचार्य या ग्रन्थकर्ता होते हैं वे किसी-न-किसी गद्दी के अधिकारी होते हैं। इस लिये उन्होंने पूर्ववर्ती सभी विद्वानों की इसी भ्रमात्मक विचार के अनुसार खतौनी कर डाली है और उन्हें पट्टधर बना डाला है। यह तो उन्हें मालूम नहीं था कि उमास्वाति और कुन्दकुन्द किस किस समय में हुए हैं; परन्तु चूँकि वे बड़े आचार्य थे और प्राचीन थे, इसलिये उनका

सम्बन्ध जोड़ दिया और गुरु-शिष्य या शिष्य-गुरु बना दिया। यह सोचने का उन्होंने कष्ट नहीं उठाया कि कुन्दकुन्द कर्नाटक देश के कुण्डकुंड ग्राम के निवासी थे और उमास्वाति बिहार में भ्रमण करने वाले। उनके सम्बन्ध की कल्पना भी एक तरह से असम्भव है।

श्रुतावतार, आदिपुराण, हरिवंश पुराण, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में जो प्राचीन आचार्य परंपरा दी हुई है उसमें उमास्वाति का बिलकुल उल्लेख नहीं है, श्रुतावतार में कुंदकुंद का उल्लेख है। और उन्हें एक बड़ा टीकाकार बतलाया है परन्तु उनके आगे या पीछे उमास्वाति का कोई उल्लेख नहीं है। इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार यद्यपि बहुत पुराना नहीं है, फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि वह किसी प्राचीन रचना का रूपान्तर है और इस दृष्टि से उसका कथन प्रमाणकोटि का है। 'दर्शनसार' ६६० संवत् का बनाया हुआ है, उसमें पद्मनन्दी या कुन्दकुन्द का उल्लेख है परन्तु उमास्वाति का नहीं। जिनसेन के समय राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक बन चुके थे, परन्तु उन्होंने भी बीसों आचार्यों और ग्रन्थकर्ताओं की प्रशंसा के प्रसंग में उमास्वाति का उल्लेख नहीं किया क्योंकि वे उन्हें अपनी परम्परा का नहीं समझते थे। एक बात और है। आदि पुराण, हरिवंश पुराण आदि के कर्ताओं ने कुन्दकुन्द का भी उल्लेख नहीं किया है, यह एक विचारणीय बात है।

मेरी समझ में कुन्दकुन्द एक खास आम्नाय या सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इन्होंने जैन-धर्म को वेदान्त के साँचे में ढाला था। जान पड़ता है कि जिनसेन आदि के समय तक उनका मत सर्वमान्य नहीं हुआ और इसीलिये उनके प्रति उन्हें कोई आदर भाव नहीं था।

"तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्" आदि श्लोक मालूम नहीं कहाँ का है और कितना पुराना है। तत्त्वार्थसूत्र की मूल प्रतियों में यह पाया जाता है। कहीं-कहीं कुन्दकुन्द को भी गृध्रपिच्छ लिखा है। गृध्रपिच्छ नाम के एक और भी आचार्य का उल्लेख है। जैनहितैषी भाग १० पृष्ठ ३६९ और भाग १५ अंक ६ के कुन्दकुन्द सम्बन्धी लेख पढ़वा कर देख लीजियेगा।

षट्पाहुड की भूमिका भी पढ़वा लीजियेगा ।

श्रुतसागर ने आशाधर के महाभिषेक की टीका संवत् १५८२ में समाप्त की है । अतएव ये विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के हैं । तत्त्वार्थ की वृत्ति के और षट्पाहुड की तथा यशस्तिलक टीका के कर्ता भी यही हैं । दूसरे श्रुतसागर के विषय में मुझे मालूम नहीं ।"

[ग] मुख्तार जुगलकिशोरजी का पत्र

"आपके प्रश्नों का मैं सरसरी तौर से कुछ उत्तर दिये देता हूँ:—

१. अभी तक जो दिगम्बर पट्टावलियाँ ग्रन्थादिकों में दी हुई गुर्वावलियों से भिन्न उपलब्ध हुई हैं वे प्रायः विक्रम की १२ वीं शताब्दी के बाद की बनी हुई जान पड़ती हैं, ऐसा कहना ठीक होगा । उनमें सबसे पुरानी कौनसी है और वह कब की बनी हुई है, इस विषय में मैं इस समय कुछ नहीं कह सकता । अधिकांश पट्टावलियों पर निर्माण के समयादि का कुछ उल्लेख नहीं है और ऐसा भी अनुभव होता है कि किसी-किसी में अंतिम आदि कुछ भाग पीछे से भी शामिल हुआ है ।

कुन्दकुन्द तथा उमास्वाति के सम्बन्धवाले कितने ही शिलालेख तथा प्रशस्तियाँ हैं परन्तु वे सब इस समय मेरे सामने नहीं हैं । हाँ, श्रवणबेल्गोल के जैन शिलालेखों का संग्रह इस समय मेरे सामने है, जो माणिकचंद ग्रन्थमाला का २८ वाँ ग्रन्थ है । इसमें ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५ और १०८ नम्बर के ७ शिलालेख दोनों के उल्लेख तथा सम्बन्ध को लिये हुए हैं । पहले पाँच लेखों में **'तदन्वये'** पद के द्वारा नं० १०८ में **'वंशे तदीये'** पदों के द्वारा उमास्वाति को कुन्दकुन्द के वंश में लिखा है । प्रकृत वाक्यों का उल्लेख 'स्वामी समन्तभद्र' के पृ० १५८ पर फुटनोट में भी किया गया है । इनमें सबसे पुराना शिलालेख नं० ४७ है, जो शक सं० १०३७ का लिखा हुआ है ।

२. पूज्यपाद का समय विक्रम की छठी शताब्दी है इसको विशेष जानने के लिये 'स्वामी 'समन्तभद्र' के पृ० १४१ से १४३ तक देखिये ।

तत्त्वार्थ के श्वेताम्बरीय भाष्य को मैं अभी तक स्वोपज्ञ नहीं समझता हूँ। उस पर कितना ही संदेह है, जिस सबका उल्लेख करने के लिये मैं इस समय तैयार नहीं हूँ।

३. दिगम्बरीय परम्परा में मुनियों की कोई उच्चनागर शाखा भी हुई है, इसका मुझे अभी तक कुछ पता नहीं है और न 'वाचकवंश' या 'वाचकपद' धारी मुनियों का कोई विशेष हाल मालूम है। हाँ, 'जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय' ग्रन्थ में 'अन्वयावलि' का वर्णन करते हुए कुन्दकुन्द और उमास्वाति दोनों के लिये 'वाचक' पद का प्रयोग किया गया है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है:—

"पुष्पदन्तो भूतबलिर्जिनचंद्रो मुनिः पुनः।
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रोमास्वातिवाचकसंज्ञितौ॥"

कुन्दकुन्द और उमास्वाति के संबंध का उल्लेख नं० २ में किया जा चुका है। मैं अभी तक उमास्वाति को कुन्दकुन्द का निकटान्वयी मानता हूँ—शिष्य नहीं। हो सकता है कि वे कुन्दकुन्द के प्रशिष्य रहे हों और इसका उल्लेख मैंने 'स्वामी समन्तभद्र' में पृ० १५८, १५९ पर भी किया है। उक्त इतिहास में 'उमास्वाति-समय' और 'कुन्दकुन्द-समय' नामक के दोनों लेखों को एक बार पढ़ जाना चाहिये।

५. विक्रम की १० वीं शताब्दी से पहले का कोई उल्लेख मेरे देखने में ऐसा नहीं आया जिसमें उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य लिखा हो।

६. "तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्" यह पद्य तत्त्वार्थसूत्र की बहुतसी प्रतियों के अन्त में देखा जाता है, परन्तु वह कहाँ का है और कितना पुराना है यह अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

७. पूज्यपाद और अकलंकदेव के विषय में तो अभी ठीक नहीं कह सकता परन्तु विद्यानन्द ने तो तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता रूप से उमास्वाति का उल्लेख किया है—श्लोकवार्त्तिक में उनका द्वितीय नाम गृध्रपिच्छाचार्य दिया है और शायद आप्तपरीक्षा टीका आदि में 'उमास्वाति' नाम का भी उल्लेख है।

इस तरह पर यह आपके दोनों पत्रों का उत्तर है, जो इस समय बन सका है। विशेष विचार फिर किसी समय किया जायगा।"

(घ) मेरी विचारणा

विक्रम की ९–१० वीं शताब्दी के दिगम्बराचार्य विद्यानन्द ने आप्त-परीक्षा (श्लो० ११९) स्वोपज्ञवृत्ति में **"तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामि-प्रभृतिभिः"** ऐसा कथन किया है और तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिक की स्वोपज्ञ-वृत्ति (पृ० ६–पं० ३१) में इन्हीं आचार्य ने **"एतेन गृध्रपिच्छाचार्य-पर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता"** ऐसा कथन किया है। ये दोनों कथन तत्त्वार्थशास्त्र के उमास्वाति रचित होने और उमास्वाति तथा गृध्र-पिच्छ आचार्य दोनों के अभिन्न होने को सूचित करते हैं ऐसी पं० जुगल-किशोरजी की मान्यता जान पड़ती है। परन्तु यह मान्यता विचारणीय है, अतः इस विषय में अपनी विचाराणा को संक्षेप में बतला देना योग्य होगा।

पहले कथन में 'तत्त्वार्थसूत्रकार' यह उमास्वाति वगैरह आचार्यों का विशेषण है, न कि मात्र उमास्वाति का। अब यदि मुख्तारजी के कथनानुसार अर्थ कीजिये तो ऐसा फलित होता है कि उमास्वाति वगैरह आचार्य तत्त्वार्थ-सूत्र के कर्ता हैं। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र का अर्थ यदि तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र किया जाय तो यह फलित अर्थ दूषित ठहरता है क्योंकि तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र अकेले उमास्वामी का रचा हुआ माना जाता है, न कि उमास्वामी आदि अनेक आचार्यों का। इससे विशेषणगत तत्त्वार्थसूत्र पद का अर्थ मात्र तत्त्वार्था-धिगम शास्त्र न करके जिन कथित तत्त्वप्रतिपादक सभी ग्रन्थ इतना करना चाहिये। इस अर्थ के करते हुए फलित यह होता है कि जिन कथित तत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थ के रचनेवाले उमास्वामी वगैरह आचार्य। इस फलित अर्थ के अनुसार सीधे तौरपर इतना ही कह सकते हैं कि विद्यानन्द की दृष्टि में उमास्वामी भी जिन कथित तत्त्व प्रतिपादक किसी भी ग्रन्थ के प्रणेता हैं। यह ग्रन्थ भले ही विद्यानन्द की दृष्टि में तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र ही हो परन्तु इसका यह आशय उक्त कथन में से दूसरे आधारों के बिना सीधे तौर पर नहीं निकलता। इससे विद्यानन्द के आप्तपरीक्षागत पूर्वोक्त कथन पर

से हम इसका आशय सीधी रीति से इतना ही निकाल सकते हैं कि उमास्वामी ने जैन तत्त्व के ऊपर कोई ग्रन्थ अवश्य रचा है ।

पूर्वोक्त दूसरा कथन तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र का पहला मोक्षमार्गविषयक सूत्र सर्वज्ञवीतराग-प्रणीत है इस वस्तु को सिद्ध करनेवाली अनुमान चर्चा में आया है । इस अनुमान चर्चा में मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञवीतराग-प्रणीतत्व यह साध्य है और सूत्रत्व यह हेतु है । इस हेतु में व्यभिचारदोष का निरसन करते हुए विद्यानन्द ने 'एतेन' इत्यादि कथन किया है । व्यभिचारदोष पक्ष से भिन्न स्थल में संभवित होता है । पक्ष तो मोक्षमार्ग-विषयक प्रस्तुत तत्त्वार्थ सूत्र ही है इससे व्यभिचार का विषयभूत माना जाने वाला गृध्रपिच्छाचार्य पर्यंत मुनियों का सूत्र यह विद्यानन्दकी दृष्टि में उमास्वाति के पक्षभूत मोक्षमार्ग-विषयक प्रथम सूत्र से भिन्न ही होना चाहिए यह बात न्यायविद्या के अभ्यासी को शायद ही समझानी पड़े—ऐसी है । विद्यानन्द की दृष्टि में पक्षरूप उमास्वाति के सूत्र की अपेक्षा व्यभिचार के विषयरूप से कल्पित किया सूत्र जुदा ही है, इसीसे उन्होंने इस व्यभिचारदोष को निवारण करने के बाद हेतु में असिद्धता दोष को दूर करते हुए "प्रकृतसूत्रे" ऐसा कहा है । प्रकृत अर्थात् जिसकी चर्चा प्रस्तुत है वह उमास्वामी का मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र । असिद्धता दोष का निवारण करते हुए सूत्र को 'प्रकृत' ऐसा विशेषण दिया है और व्यभिचार दोष को दूर करते हुए वह विशेषण नहीं दिया तथा पक्ष रूप सूत्र के अन्दर व्यभिचार नहीं आता यह भी नहीं कहा । उलटा स्पष्ट रूप से यह कहा है कि गृध्रपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनियों के सूत्रों में व्यभिचार नहीं आता । यह सब निर्विवादरूप से यही सूचित करता है कि विद्यानन्द उमास्वामी से गृध्रपिच्छ को जुदा ही समझते हैं, दोनों को एक नहीं । इसी अभिप्राय की पुष्टि में एक दलील यह भी है कि विद्यानन्द यदि गृध्रपिच्छ और उमास्वामी को अभिन्न ही समझते होते तो एक जगह उमास्वामी और दूसरी जगह 'गृध्रपिच्छ आचार्य' इतना विशेषण ही उनके लिये प्रयुक्त न करते बल्कि 'गृध्रपिच्छ' के बाद वे 'उमास्वामी' शब्द का प्रयोग करते । उक्त दोनों कथनों की मेरी विचारणा यदि असत्य न हो तो उसके अनुसार यह फलित होता है कि

विद्यानन्दकी दृष्टि में उमास्वामी तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र के प्रणेता होंगे परंतु उनकी दृष्टि में गृध्रपिच्छ और उमास्वामी ये दोनों निश्चय से जुदे ही होने चाहिएँ।

गृध्रपिच्छ, बलाकपिच्छ, मयूरपिच्छ वगैरह विशेषणों की सृष्टि नग्नत्वमूलक वस्त्र पात्र के त्यागवाली दिगम्बर भावना में से हुई है। यदि विद्यानन्द उमास्वामी को निश्चय पूर्वक दिगम्बरीय समझते होते तो वे उनके नाम के साथ पिछले जमाने में लगाये जानेवाले गृध्रपिच्छ आदि विशेषण जरूर लगाते। इससे एसा कहना पड़ता है कि विद्यानन्द ने उमास्वामी का श्वेताम्बर, दिगम्बर या कोई तीसरा सम्प्रदाय सूचित ही नहीं किया।

—सुखलाल

अभ्यास विषयक सूचनाएँ

जैन दर्शन का प्रामाणिक अभ्यास करने का इच्छुक जैन, जैनेतर विद्यार्थी या शिक्षक, यह पूछता है कि ऐसी एक पुस्तक कौनसी है जिसका कि संक्षिप्त तथा विस्तृत अध्ययन किया जा सके; और जिसके अध्ययन से जैनदर्शन में सन्निहित मुद्दों के प्रत्येक विषय का ज्ञान हो। इस प्रश्न का उत्तर देनेवाला 'तत्त्वार्थ' के सिवाय अन्य किसी पुस्तक का निर्देश नहीं कर सकता। तत्त्वार्थ की इतनी योग्यता होने से आजकल जहाँ तहाँ जैन दर्शन के अभ्यास-क्रम में इसका सर्व प्रथम स्थान है। ऐसा होने पर भी आज कल उसकी अध्ययन परिपाटी की जो रूपरेखा है वह विशेष फलप्रद प्रतीत नहीं होती। इसलिए उसकी अभ्यास-पद्धति के विषय में यहाँ पर कुछ सूचना अप्रासंगिक न होगी।

सामान्य रूप से तत्त्वार्थ के श्वेतांबर अभ्यासी उसकी दिगम्बरीय टीकाओं को नहीं देखते और दिगम्बर उसकी श्वेताम्बरीय टीकाओं को नहीं देखते इसका कारण संकुचित दृष्टि, साम्प्रदायिक अभिनिवेश जानकारी का अभाव चाहे जो हो; पर अगर यह धारणा सही हो तो इसके कारण अभ्यासी का ज्ञान कितना संकुचित रहता है, उसकी जिज्ञासा कितनी अपरितृप्त रहती है और उसकी तुलना तथा परीक्षण-शक्ति कितनी कुंठित रहती है और उसके परिणाम स्वरूप तत्त्वार्थ के अभ्यासी का प्रामाण्य कितना अल्प निर्मित होता है इसे समझने के लिए वर्तमान काल में चलती हुई सभी जैन-संस्थाओं के विद्यार्थियों से अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान के मार्ग में, जिज्ञासा के क्षेत्र में और सत्यान्वेषण में चौकाबंदी को अर्थात् दृष्टि संकोच या सम्प्रदाय मोह को स्थान हो तो उससे मूल वस्तु ही सिद्ध नहीं होती। जो तुलना के विचार मात्र से ही डर जाते हैं; वे या तो अपने पक्ष की प्रामाणिकता तथा सबलता के विषय में शंकित होते हैं, या दूसरे के पक्ष के सामने खड़े होने की शक्ति कम रखते हैं, या असत्य को छोड़ कर सत्य को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं, तथा अपनी सत्य

बात को भी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त बुद्धिबल और धैर्य नहीं रखते। ज्ञान का अर्थ यही है कि संकुचितता, बंधन और अवरोधों का अतिक्रमण कर आत्मा को विस्तृत करें और सत्य के लिए गहरा उतरें। इसलिए शिक्षकों के सामने नीचे की पद्धति रखता हूँ। वे इस पद्धति को अन्तिम सूचना न मान कर, उसमें भी अनुभव से सुधार करें और वास्तविक रूप से तो अपने पास अभ्यास करते हुए विद्यार्थियों को साधन बना कर स्वयं तैयार हों।

(१) मूलसूत्र लेकर उसका सरलता से जो अर्थ हो वह किया जाय।

(२) भाष्य या सर्वार्थसिद्धि इन दोनों में से किसी एक टीका को मुख्य रख उसे प्रथम पढ़ाना और पीछे तुरत ही दूसरी। इस वाचन में नीचे की खास बातों की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया जाय।

(क) कौन कौन से विषय भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि में एक समान हैं? और समानता होने पर भी भाषा तथा प्रतिपादन शैली में कितना अन्तर पड़ता है।

(ख) कौन कौन से विषय एक में है और दूसरे में नहीं, अगर हैं तो रूपान्तर से? जो विषय दूसरे में छोड़ दिये गये हों या जिनकी नवीन रूप से चर्चा की गई हो वे कौन से और ऐसा होने का क्या कारण है?

(ग) उपर्युक्त प्रणाली के अनुसार भाष्य और सर्वार्थसिद्धि इन दोनों का पृथक्करण करने के बाद जो विद्यार्थी अधिक योग्य हो, उसे आगे 'परिचय' में दी हुई तुलना के अनुसार अन्य भारतीय दर्शनों के साथ तुलना करने के लिए प्रेरित करना और जो विद्यार्थी साधारण हो उसे भविष्य में ऐसी तुलना कर सके इस दृष्टि से कितनी ही रोचक सूचनाएँ करना।

(घ) ऊपर दी हुई सूचना के अनुसार विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाने के बाद पढ़े हुए उसी सूत्र का राजवार्तिक स्वयं पढ़ जाने के लिए कहना। वे यह सम्पूर्ण राजवार्तिक पढ़ कर उसमें पूछने योग्य प्रश्न या समझने के विषय कागज के ऊपर नोट करके दूसरे दिन शिक्षक के सामने रखें। और इस चर्चा के समय शिक्षक बन सके वहाँ तक विद्यार्थियों में ही परस्पर चर्चा

करा कर उनके द्वारा ही (स्वयं केवल तटस्थ सहायक रह कर) स्वयं कहने का सम्पूर्ण कहलावे। भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा राजवार्तिक में क्या कम हुआ है, कितनी वृद्धि हुई है, क्या क्या नवीन है; यह जानने की दृष्टि विद्यार्थियों में परिमार्जित हो।

(३) इस तरह भाष्य और सर्वार्थसिद्धि का अभ्यास राजवार्तिक के अवलोकन के बाद पुष्ट होने पर उक्त तीनों ग्रन्थों में नहीं हों, ऐसे और खास ध्यान देने योग्य जो जो विषय श्लोकवार्तिक में चर्चित हों उतने ही विषयों की सूची तैयार कर रखना और अनुकूलता के अनुसार उन्हें विद्यार्थियों को पढ़ना या स्वयं पढ़ाने के लिए कहना। इतना होने के बाद सूत्र की उक्त चारों टीकाओं ने क्रमशः कितना और किस किस प्रकार का विकास किया है और ऐसा करने में उन उन टीकाओं ने अन्य दर्शनों से कितना लाभ उठाया है या अन्य दर्शनों को उनकी कितनी देन है? यह सभी विद्यार्थियों को समझाना।

(४) किसी परिस्थिति के कारण राजवार्तिक पढ़ना या पढ़ाना शक्य न हो तो अन्त में श्लोकवार्तिक के अनुसार राजवार्तिक में भी जो जो विषय अधिक सुन्दर रूप से चर्चित हों और जिनका महत्त्व जैन-दृष्टि के अनुसार बहुत अधिक हो वैसे स्थलों की एक सूची तैयार कर कम से कम इतना तो सिखाना ही। अर्थात् भाष्य और सर्वार्थसिद्धि ये दो ग्रन्थ अभ्यास में नियत हों और उनके साथ ही राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक के उक्त दोनों ग्रन्थों में नहीं आये हुए विशिष्ट प्रकरण भी सम्मिलित हों और शेष सभी अवशिष्ट ऐच्छिक। उदाहरणार्थ राजवार्तिक में से सप्तभंगी और अनेकान्तवाद की चर्चा, और श्लोकवार्तिक में से सर्वज्ञ, आप्त, जगत्कर्ता आदि की, नय की, वाद की और पृथ्वीभ्रमण की चर्चा। इसी तरह तत्त्वार्थ भाष्य की सिद्धिसेनीय वृत्ति में से विशिष्ट चर्चा वाले भागों को छांट कर उन्हें अभ्यास में रखना। उदाहरणार्थ—१. १; ५. २९, ३१ के भाष्य की वृत्तिकी चर्चाएँ।

(५) अभ्यास प्रारम्भ करने के पहले शिक्षक तत्त्वार्थ का बाह्य और आभ्यन्तरिक परिचय कराने के लिए विद्यार्थियों के समक्ष कुछ रुचिकर

प्रवचन करे तथा इस प्रकार विद्यार्थियों में रस वृत्ति पैदा करे। बीच बीच में प्रसंगानुसार दर्शनों के इतिहास और क्रम विकास की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित हो इसके लिए योग्य प्रवचन की सुविधा का खयाल रखे।

(६) भूगोल, खगोल स्वर्ग और पाताल विद्या के तीसरे और चौथे अध्याय का शिक्षण देने के विषय में दो बड़े विरोधी पक्ष हैं। एक पक्ष उसे शिक्षण में रखने को मना करता है जब कि दूसरा उस शिक्षण के बिना सर्वज्ञ दर्शन का अभ्यास अधूरा मानता है। ये दोनों एकान्त की अन्तिम सीमाएँ हैं। इसलिए शिक्षक इन दोनों अध्यायों का शिक्षण देता हुआ भी उसके पीछे की दृष्टि में फेरफार करे यही इस समय योग्य है। तीसरे और चौथे अध्याय का सभी वर्णन सर्वज्ञकथित है, इसमें थोड़ा भी फेरफार नहीं हो सकता, आज कल के सभी वैज्ञानिक अन्वेषण और विचार जैनशास्त्रों से विरुद्ध होने के कारण बिलकुल मिथ्या होने से त्याज्य हैं ऐसा कहकर इन अध्यायों के शिक्षण के ऊपर भार देने की अपेक्षा एक समय आर्यदर्शनों में स्वर्ग, नरक, भूगोल और खगोल विषय में कैसी कैसी मान्यताएँ प्रचलित थीं और इन मान्यताओं में जैनदर्शन का क्या स्थान है, ऐसी ऐतिहासिक दृष्टि से इन अध्यायों का शिक्षण दिया जाय तो मिथ्या समझ कर फेंक देने योग्य विषयों में से जानने योग्य बहुत बच रहता है। तथा सत्य-शोधन के लिए जिज्ञासा का क्षेत्र तैयार होता है, इसी प्रकार जो सच्चा हो उसे विशेष रूप से बुद्धि की कसौटी पर कसने की प्रेरणा मिलती है।

(७) उच्च कक्षा के विद्यार्थियों तथा गवेषकों को लक्ष में रखकर मैं एक दो सूचनाएँ और भी करता हूँ। पहली बात तो यह है कि तत्त्वार्थ सूत्र और भाष्य आदि में आये हुए मुद्दों का उद्‌गम स्थान किन किन श्वेताम्बर तथा दिगम्बर प्राचीन ग्रन्थों में है यह सब ऐतिहासिक दृष्टि से देखना और फिर तुलना करना। दूसरी बात यह है कि उन मुद्दों के विषय में बौद्ध पिटक तथा महायान के अमुक ग्रन्थ क्या क्या कहते हैं उनमें इस सम्बन्ध में कैसा वर्णन है यह देखना। तथा वैदिक सभी दर्शनों

के मूलसूत्र और भाष्य में से इस सम्बन्ध की सीधी जानकारी करके फिर तुलना करना। मैंने ऐसा करके अनुभव से देखा है कि तत्त्वज्ञान तथा आचार के क्षेत्र में भारतीय आत्मा एक है। जो कुछ हो पर ऐसा अभ्यास बिना किये तत्त्वार्थ का पूरा महत्त्व ध्यान में आ नहीं सकता।

(८) यदि प्रस्तुत हिन्दी विवेचन द्वारा ही तत्त्वार्थ पढ़ाना हो तो शिक्षक पहले एक एक सूत्र लेकर उसके सभी विषय मुखाग्र समझा देवे और उसमें विद्यार्थियों का प्रवेश हो जाय तब उस उस भाग के प्रस्तुत विवेचन का वाचन स्वयं विद्यार्थियों के पास ही करा लेवे और कुछ पूछ कर उनकी समझ के बारे में विश्वास कर ले।

(९) प्रस्तुत विवेचन द्वारा एक संदर्भ पर्यंत सूत्र अथवा संपूर्ण अध्याय पढ़ लेने के बाद परिचय में की हुई तुलनात्मक दृष्टि के आधार पर शिक्षक अधिकारी विद्यार्थियों के समक्ष स्पष्ट तुलना करे।

निःसंदेह ऊपर सूचित की हुई पद्धति के अनुसार शिक्षण देने में शिक्षक के ऊपर भार बढ़ता है, पर उस भार को उत्साह और बुद्धि पूर्वक उठाये बिना शिक्षक का स्थान उच्च नहीं बन सकता और विद्यार्थी वर्ग भी विचारदरिद्र ही रह जाता है। इसलिए शिक्षक अधिक से अधिक तैयारी करें और अपनी तैयारी को सफल बनाने के लिए विद्यार्थियों का मानस तैयार करना अनिवार्य है। शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से तो ऐसा करना अनिवार्य है, पर चहुँ और वेग से बढ़ते हुए वर्तमान ज्ञान-वेग को देखकर सबके साथ समान रूप से बैठने की व्यावहारिक दृष्टि से भी ऐसा करना अनिवार्य है।

सुखलाल

तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि

भा० भाष्य में मुद्रित सूत्र
रा० राजवार्तिक में मुद्रित सूत्र
स० सर्वार्थसिद्धि में मुद्रित सूत्र
श्लो० श्लोकवार्तिक में मुद्रित सूत्र
सि० सिद्धसेनीय टीका में मुद्रित सूत्र
हा० हारिभद्रीय टीका में मुद्रित सूत्र
टि० तत्त्वार्थ टिप्पण (अमुद्रित अनेकान्त ३. १.)
रा-पा. राजवार्तिककार द्वारा निर्दिष्ट पाठान्तर
स-पा० सर्वार्थसिद्धि में निर्दिष्ट पाठान्तर
सि-पा० सिद्धसेनवृत्ति का प्रत्यन्तर का पाठ
सि-भा० सिद्धसेनीयवृत्ति का भाष्य पाठ
सि-वृ० सिद्धसेनीयवृत्तिसंमत पाठ
सि-वृ-पा० सिद्धसेनीयवृत्ति निर्दिष्ट पाठांतर

प्रथमोऽध्यायः

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥
तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥
जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥
नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥
प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥
निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥
सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥
मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

---

१ आश्रव–हा० ।
२ मनःपर्यय–स०, रा०, श्लो० ।

द्वितीयोऽध्यायः

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौ-
दयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥
द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥
सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥
ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥
ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः यथा-
क्रमं सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥
गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वले-
श्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥
जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥ ७ ॥
उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥
स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥
संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥
समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

---

१. दर्शनलब्धय–स० रा० श्लो० ।
२. भेदाःसम्य–स० रा० श्लो० ।
३. सिद्धलेश्या–स० रा० श्लो० ।
४. स्वानो च–स० रा० श्लो० ।
५. 'स' नहीं है सि–वृ–पा० ।
६. किसी के द्वारा किए गये सूत्र विपर्यास की आलोचना सिद्धसेनने की है ।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥ १४ ॥

पंचेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

द्विविधानि ॥ १६ ॥

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

उपयोगः स्पर्शादिषु ॥ १९ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ २० ॥

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः ॥ २१ ॥

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २२ ॥

वाय्वन्तानामेकम् ॥ २३ ॥

---

१ भूल से इस पुस्तक में 'त्रसाः' छपा है।

२ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः स० रा० श्लो०।

३ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः स० रा० श्लोक०।

४ स० रा० श्लो० में नहीं है। सिद्धसेन कहते हैं–'कोई इसको सूत्र रूपसे नहीं मानते और वे कहते हैं कि यह तो भाष्यवाक्य को सूत्र बना दिया है'' –पृ० १६९।

५ –तदर्थाः–स० रा० श्लो०। 'तदर्थाः' ऐसा समस्तपद ठीक नहीं इस शंका का समाधान अकलंक और विद्यानन्द ने दिया है। दूसरी ओर श्वे० टीकाकारों ने असमस्त पद क्यों रखा है इसका खुलासा किया है।

६ वनस्पत्यन्तानामेकम् स० रा० श्लो०।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि[2] ॥ २४ ॥

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २५ ॥

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २६ ॥

अनुश्रेणि गतिः ॥ २७ ॥

अविग्रहा जीवस्य ॥ २८ ॥

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥

एकसमयोऽविग्रहः[3] ॥ ३० ॥

एकं द्वौ वाऽनाहारकः[4] ॥ ३१ ॥

सम्मूर्छनगर्भोपपाता[5] जन्म ॥ ३२ ॥

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३३ ॥

जराय्वण्डपोतजानां[6] गर्भः ॥ ३४ ॥

नारकदेवानामुपपातः[7] ॥ ३५ ॥

शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥ ३६ ॥

---

१ सिद्धसेन कहते हैं कि कोई सूत्र में 'मनुष्य' पद अनार्ष समझते हैं।

२ सिद्धसेन कहते हैं कि कोई इसके बाद 'अतीन्द्रियाः केवलिनः' ऐसा सूत्र रखते हैं।

३ एकसमयाऽविग्रहा—स० रा० श्लो०।

४ द्वौ त्रीन्वा—स० रा० श्लो०। सूत्रगत वा शब्द से कोई 'तीन' का भी संग्रह करते थे ऐसा हरिभद्र और सिद्धसेन का कहना है।

५ पाताज्जन्म—स०। —पादा जन्म-रा० श्लो०।

६ जरायुजाण्डपोतजानां गर्भः हा०। जरायुजाण्डपोतानां गर्भः—स० रा० श्लो०। रा० और श्लो० 'पोतज' पाठ के ऊपर आपत्ति करते हैं। सिद्धसेन को यह आपत्ति ठीक मालूम नहीं होती।

७ देवनारकाणामुपपादः स० रा० श्लो०।

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि[1][2]।३७

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३८ ॥

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३९ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ४० ॥

अप्रतिघाते[4] ॥ ४१ ॥

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४२ ॥

सर्वस्य ॥ ४३ ॥

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याॅ[5] चतुर्भ्यः ॥ ४४ ॥

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४५ ॥

गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥

वैक्रियमौपपातिकम्[6] ॥ ४७ ॥

लब्धिप्रत्ययं च[7] ॥ ४८ ॥

---

१ –वैक्रियिका–स० रा० श्लो० ।

२ सिद्धसेन का कहना है कि कोई 'शरीराणि' इस पदको अलग सूत्र समझते हैं ।

३ तेषां–भा० में यह पद सूत्रांश रूप से छपा है लेकिन भाष्यटीकाकारों के मतमें यह भाष्यवाक्य है ।

४ अप्रतीघाते–स० रा० श्लो० ।

५ –देकस्मिन्ना चतु–स० रा० श्लो० । लेकिन टीकाओं से मालूम होता है कि 'एकस्य' सूत्रपाठ अभिप्रेत है ।

६ औपपादिकं वैक्रियिकम्–स० रा० श्लो० ।

७ इसके बाद स० रा० श्लो० में 'तैजसमपि' ऐसा सूत्र है । भा० में यह 'तैजसमपि' सूत्र रूप से नहीं छपा । हा० में शुभम् इत्यादि सूत्र के

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ।४९
नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥
न देवाः ॥५१॥
औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥५२॥

बाद यह सूत्र रूप से आया है। सि० में यह सूत्र क० ख० प्रति का पाठान्तर है। टि० में यह सूत्र स्वतंत्र रूप से है। किन्तु वह अगले सूत्र के बाद है। उसका यहाँ होना टिप्पणकारने अनुचित माना है।

१ –कं चतुर्दशपूर्वधर एव सि०। –कं प्रमत्तसंयतस्यैव– स० रा० श्लो०। सिद्धसेन का कहना है कि कोई 'अकृत्स्नश्रुतस्यर्द्धिमतः' ऐसा विशेषण और जोड़ते हैं।

२ इसके बाद स० रा० श्लो० में "शेषास्त्रिवेदाः" ऐसा सूत्र है। श्वेताम्बरपाठ में यह सूत्र नहीं समझा जाता। क्योंकि इस मतलब का उनके यहाँ भाष्यवाक्य है।

३ औपपातिकचरमोत्तमदेहाऽसं–स० रा० श्लो०।

४ –चरमदेहोत्तमदेहपु–स–पा०, रा–पा०। सिद्धसेन का कहना है कि–इस सूत्र में सूत्रकार ने 'उत्तमपुरुष' पद का ग्रहण नहीं किया है–ऐसा कोई मानते हैं। पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्द 'चरम' को 'उत्तम' का विशेषण समझते हैं।

तृतीयोऽध्यायः

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घना-म्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ॥१॥

तासु नरकाः ॥२॥

नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥३॥

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

द्विर्द्विर्विष्कम्भाःपूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बू-द्वीपः ॥९॥

तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

---

१ इसके विग्रह में सिद्धान्त पाठ और सामर्थ्यगम्य पाठ की चर्चा सर्वार्थ-सिद्धि में है।

२ पृथुतराः स० रा० श्लो० में नहीं। 'पृथुतरा' पाठ की अनावश्यकता अकलङ्क ने दिखलाई है। इस सूत्र के बाद टि० में "घर्मावंशा शैलां-जना रिष्टा माघव्या माघवीति च" ऐसा सूत्र है।

३ तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपंचदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् स० रा० श्लो०। इस सूत्र में सन्निहित गणना भाष्य में है।

४ तेषु नारका नित्या–सि०। नारका नित्या–स० रा० श्लो०।

५ –लवणोदादयः' स० रा० श्लो०।

६ 'तत्र' टि०, स० रा० श्लो० में नहीं।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध-
नीलरुक्मिशिखरिणो [1]वर्षधरपर्वताः ॥११॥
द्विर्धातकीखण्डे ॥१२॥
पुष्करार्धे च ॥१३॥
प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥१४॥
आर्या [3]म्लेच्छाश्च ॥१५॥
भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥१६॥
नृस्थिती [4]परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥१७॥
[5]तिर्यग्योनीनां च ॥१८॥

---

१ 'वंशधरपर्वताः' सि०

२ इस सूत्र के बाद "तत्र पञ्च" इत्यादि भाष्य वाक्य को कोई सूत्र समझते हैं ऐसा सिद्धसेन का कहना है। स० में इस मतलब का सूत्र २४ वाँ है। हरिभद्र और सिद्धसेन कहते हैं कि यहां कोई विद्वान बहुत से नये सूत्र अपने आप बना करके विस्तार के लिए रखते हैं। यह उनका कथन संभवतः सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ को लक्ष्य में रखकर हो सकता है; क्योंकि उसमें इस सूत्र के बाद १२ सूत्र ऐसे हैं जो श्वे० सूत्रपाठ में नहीं हैं। और उसके बाद के नं० २४ और २५ वें सूत्र भी भाष्यमान्य ११ वें सूत्र के भाष्यवाक्य ही हैं। स० रा० के २६ से ३२ सूत्र भी अधिक ही हैं। स० का तेरहवाँ सूत्र श्लो० में तोड़ कर दो बना दिया गया है। यहाँ अधिक सूत्रों के पाठ के लिये स० रा० श्लो० देखना चाहिए।

३ आर्या म्लिशश्च—भा० हा०।

४ परावरे—रा० श्लो०।

५ तिर्यग्योनिजानां च स० रा० श्लो०।

चतुर्थोऽध्याय

देवाश्चतुर्निकायाः ॥ १ ॥

तृतीयः पीतलेश्यः ॥ २ ॥

दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीक-
प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

पीतान्तलेश्याः ॥ ७ ॥

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ८ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ९ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ १० ॥

---

१ देवाश्चतुर्णिकायाः स० रा० श्लो० ।

२ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः स० रा० श्लो० । देखो, हिन्दी विवेचन पृ० १३७ टि० १

३ –पारिषदा–स० रा० श्लो० ।

४ –शल्लोक–स० ।

५ वर्ज्या–सि०

६ यह सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं ।

७ 'द्वयोर्द्वयोः' स० रा० श्लो० में नहीं है । इन पदों को सूत्र में रखना चाहिये ऐसी किसी की शंका का समाधान करते हुए अकलङ्क कहते हैं कि ऐसा करने से आर्ष विरोध आता है ।

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ ११ ॥

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगान्धर्व[1]यक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ १२ ॥

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्र[2]मसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्ण[3]तारकाश्च[4] ॥ १३

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥

तत्कृतः कालविभागः ॥ १५ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १६ ॥

वैमानिकाः ॥ १७ ॥

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥

उपर्युपरि ॥ १९ ॥

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्र[5]ब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे[6] च ॥ २० ॥

स्थितिप्रभावद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २१ ॥

---

१ गन्धर्व–हा० स० रा० श्लो० ।

२ –सूर्याचन्द्रमसौ–स० रा० श्लो० ।

३ – प्रकीर्णकता०–स० रा० श्लो० ।

४ ताराश्च–हा० ।

५ –माहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रा–स० रा० श्लो० । श्लो में–सतार पाठ है । दिगम्बर परम्परा में भी प्राचीन ग्रन्थों में बारह कल्प होनेका कथन है–देखो, जैन जगत वर्ष ४ अंक ६ पृ० २०२ । अनेकांत ५. १०-११ पृ. ३४२

६ –सिद्धौ च स० रा० श्लो० ।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः*॥२२॥

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु[1] ॥२३॥

प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पः ॥२४॥

ब्रह्मलोकालया[2] लोकान्तिकाः ॥२५॥

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतो-

ऽरिष्टाश्च[3] ॥२६॥

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२७॥

औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२८॥

स्थितिः[5] ॥२९॥

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥३०॥

शेषाणां पादोने ॥३१॥

असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकंच ॥३२॥

सौधर्मादिषु[6] यथाक्रमम् ॥३३॥

---

* टि० में इसके बाद–"उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः' ऐसा सूत्र है।

१ पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुः शेषेष्विति रा–पा०।

२–लया लौका–स० रा० श्लो०। सि–पा०।

३ व्याबाधारिष्टाश्च–स० रा० श्लो०। देखो हिन्दी विवेचन पृ० १५५ टि० १।

४–पादिक–स० रा० श्लो०।

५ इस सूत्र से ३२ वें सूत्र तक के लिए–'स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता'–ऐसा स० रा० श्लो० में एक ही सूत्र है। श्वे० दि० दोनों परंपराओं में भवनपतिकी उत्कृष्ट स्थिति के विषय में मतभेद है।

६ इस सूत्र से ३५ वें तक के सूत्र के लिये एक ही सूत्र–सौधर्मैशानयोः

सागरोपमे ॥३४॥

अधिके च ॥३५॥

सप्त[1] सानत्कुमारे ॥३६॥

विशेष[2]त्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च ॥३७॥

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे[3] च ॥३८॥

अपरा पल्योपममधिकं च ॥३९॥

सागरोपमे[4] ॥४०॥

अधिके च ॥४१॥

परतः परतः पूर्वापूर्वान्तरा ॥४२॥

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥४३॥

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥४४॥

भवनेषु च ॥४५॥

व्यन्तराणां च ॥४६॥

सागरोपमे अधिके च– ऐसा स० रा० श्लो० में है। दोनों परंपरा में स्थिति के परिमाण में भी अन्तर है। देखो, प्रस्तुत सूत्रों की टीकाएँ।

१ सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त–स० रा० श्लो०।

२ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु–स० रा० श्लो०।

३ सिद्धौ च–स० रा० श्लो०।

४ यह और इसके बादका सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं।

परा पल्योपमम्[1] ॥४७॥

[2]ज्योतिष्काणामधिकम् ॥४८॥

[3]ग्रहाणामेकम् ॥४९॥

नक्षत्राणामर्धम् ॥५०॥

तारकाणां चतुर्भागः ॥५१॥

[4]जघन्या त्वष्टभागः ॥५२॥

[5]चतुर्भागः शेषाणाम् ॥५३॥

---

१ परा पल्योपममधिकम्-स० रा० श्लो० ।

२ ज्योतिष्काणां च-स० रा० श्लो० ।

३ यह और ५०, ५१ वें सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं ।

४ तदष्टभागोऽपरा स० रा० श्लो० । ज्योतिष्कों की स्थिति विषयक जो सूत्र दिगम्बरीय पाठ में नहीं हैं उन सूत्रों के विषय की पूर्ति राजवार्तिककार ने इसी सूत्र के वार्तिकों में की है ।

५ स० रा० श्लो० में नहीं । स० और रा० में एक और अंतिम सूत्र—लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्-४२ है । यह श्लो० में नहीं ।

पञ्चमोऽध्यायः

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

द्रव्याणि जीवाश्च ॥२॥

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥३॥

रूपिणः पुद्गलाः ॥४॥

आकाशादेकद्रव्याणि ॥५॥

निष्क्रियाणि च ॥६॥

असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः ॥७॥

---

१ स० रा० श्लो० में इस एक सूत्र के स्थान में 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' ऐसे दो सूत्र हैं। सिद्धसेन कहते हैं–"कोई इस सूत्र को उपर्युक्त प्रकार से दो सूत्र बनाकर पढ़ते हैं सो ठीक नहीं"।
अकलङ्क के सामने भी किसीने शङ्का उठाई है–"'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा 'च' रहित एक सूत्र ही क्यों नहीं बनाते ?" विद्यानन्दका कहना है कि स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये ही दो सूत्र बनाए हैं।

२ सिद्धसेन कहते हैं–"कोई इस सूत्र को तोड़ कर 'नित्यावस्थितानि' 'अरूपाणि' ऐसे दो सूत्र बनाते हैं।" 'नित्यावस्थितारूपाणि' ऐसा पाठान्तर भी वृत्ति में उन्होंने दिया है। 'नित्यावस्थितान्यरूपीणि' ऐसा एक और भी पाठका निर्देश उन्होंने किया है। "कोई नित्यपद को अवस्थित का विशेषण समझते हैं" ऐसा भी वे ही कहते हैं। इस सूत्र की व्याख्या के मतान्तरों के लिये सिद्धसेनीय वृत्ति देखनी चाहिए।

३ देखो हिन्दी विवेचन पृ० १६६ टि० १।

४ –धर्माधर्मैकजीवानाम्–स० रा० श्लो०।

जीवस्य ॥ ८ ॥

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

सङ्ख्येयासङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

नाणोः ॥ ११ ॥

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां[2] प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

गतिस्थित्युपग्रहौ[3] धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

वर्तना[4] परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

---

१ स० रा० श्लो० में यह पृथक् सूत्र नहीं। पृथक् सूत्र क्यों किया गया है इसका रहस्य सिद्धसेन दिखाते हैं।

२ **–विसर्प–**स० रा० श्लो०।

३ **–ग्रहौ–**सि० स० रा० श्लो०। अकलंकने द्विवचन का समर्थन किया है। देखो हिन्दी विवेचन पृ० १७८ टि० १।

४ **वर्तनापरिणामक्रियाः पर–**स०। **वर्तनापरिणामक्रिया पर–**रा०। ये संपादकों की भ्रान्तिजन्य पाठान्तर मालूम होते हैं। क्योंकि दोनों टीकाकारों ने इस सूत्र में समस्त पद होने की कोई सूचना नहीं की।

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्द्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

संघातभेदे[1]भ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भेदादणुः ॥ २७ ॥

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः[2] ॥ २८ ॥

उत्पा[3]दव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ २९ ॥

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३० ॥

अ[4]र्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३१ ॥

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३२ ॥

न[5] जघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥

---

१ भेदसंघातेभ्य उ–स० रा० श्लो० ।

२ –चाक्षुषः स० रा० श्लो० । सिद्धसेन इस सूत्र के अर्थ करने में किसी का मतभेद दिखाते हैं ।

३ इस सूत्र से पहिले स० और श्लो० में 'सद् द्रव्यलक्षणम्' ऐसा सूत्र है । लेकिन रा० में ऐसा अलग सूत्र नहीं । उसमें तो यह बात उत्थान में ही कही गई है । भाष्य में इसका भाव कथन है ।

४ इस सूत्र की व्याख्या में मतभेद है । हरिभद्र सब से निराला ही अर्थ लेते हैं । हरिभद्र ने जैसी व्याख्या की है वैसी व्याख्या का सिद्धसेन ने मतान्तर रूपसे निर्देश किया है ।

५ बन्ध की प्रक्रिया में श्वे० दि० के मतभेद के लिये देखो, हिन्दी-विवेचन पृ० २०१ ।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥

[1]बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥

गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥ ३७ ॥

कालश्चेत्येके[2] ॥ ३८ ॥

सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४० ॥

तद्भावः परिणामः ॥ ४१ ॥

[3]अनादिरादिमांश्च ॥ ४२ ॥

रूपिष्वादिमान् ॥ ४३ ॥

योगोपयोगौ जीवेषु ॥ ४४ ॥

---

१ बन्धेधिकौ पारिणामिकौ स० श्लो० । रा० में सूत्र के अन्त में 'च' अधिक है । अकलंक ने 'समाधिकौ' पाठ का खण्डन किया है ।

२ देखो हिन्दी विवेचन पृ २०९ टि० १ । कालश्च स० रा० श्लो० ।

३ ये अन्त के तीन सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं । भाष्य के मत का खण्डन राजवार्तिककार ने किया है । विस्तार के लिये देखो हिन्दी विवेचन पृ० २१२ । टि० में इसके पहले 'सद्विविधः' ऐसा सूत्र है ।

षष्ठोऽध्यायः

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

स आस्रवः ॥ २ ॥

शुभः[1] पुण्यस्य ॥ ३ ॥

अशुभः[2] पापस्य ॥ ४ ॥

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ५ ॥

अव्रत[3]कषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशति-
सङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ६ ॥

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावे[4]वीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्त-
द्विशेषः ॥ ७ ॥

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ८ ॥

---

१ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २१५ टि० १ ।

२ यह सूत्ररूप से हा० में नहीं । लेकिन **'शेषं पापम्'** ऐसा सूत्र है । सि० में **'अशुभः पापस्य'** सूत्र रूप से छपा है लेकिन टीका से मालूम होता है कि यह भाष्यवाक्य है । सिद्धसेन को भी **'शेष पापम्'** ही सूत्र रूप से अभिमत मालूम होता है ।

३ **इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः**– हा० सि० टि० । स० रा० श्लो० । भाष्यमान्य पाठ में 'अव्रत' ही पहला है । सिद्धसेन सूत्र की टीका करते हैं तब उनके सामने 'इन्द्रिय'– पाठ प्रथम है । किन्तु सूत्रके भाष्यमें 'अव्रत' पाठ प्रथम है । सिद्धसेन को सूत्र और भाष्य की यह असंगति मालूम हुई है और उन्होंने इसको दूर करने की कोशिश भी की है ।

४ **–भावाधिकरणवीर्यविशे–**स० रा० श्लो० ।

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय-
विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥९॥

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः
परम् ॥१०॥

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्श-
नावरणयोः ॥११॥

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्था-
न्यसद्वेद्यस्य ॥१२॥

भूत[1]व्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादि योगः क्षान्तिः
शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१३॥

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१४॥

कषायोदयात्तीव्रा[2]त्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१५॥

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च[3] नारकस्यायुषः ॥१६॥

माया तैर्यग्योनस्य ॥१७॥

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्व[4]भावमार्दवार्जवं च मानु-
षस्य ॥१८॥

---

१ भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः—स० रा० श्लो०।

२ —तीव्रपरि० स० रा० श्लो०।

३ —त्वं नार—स० रा० श्लो०।

४ इसके स्थानमें 'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य' और 'स्वभावमार्दवं च' ऐसे दो सूत्र दि० परंपरा में हैं। एक ही सूत्र क्यों नहीं बनाया इस शंकाका समाधान भी दि० टीकाकारों ने दिया है।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥*

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२१॥

विपरीतं शुभस्य ॥२॥

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य ॥ २६ ॥

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २४ ॥

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २५ ॥

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २६ ॥

---

१ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २२७ टि० १ ।

२ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २२७ टि० २ ।

*इस के बाद "सम्यक्त्वं च" ऐसा सूत्र टि० में है ।

३ तद्विप–स० रा० श्लो० ।

४ –भीक्ष्णशः–स० रा० श्लो० ।

५ –सी साधुसमाधिर्वै–स० रा० श्लो० ।

६ तीर्थंकरत्वस्य स० रा० श्लो० ।

७ –गुणोच्छा–स० । गुणच्छा–रा० श्लो० । स–वृ० संमत–'गुणच्छा'–है ।

सप्तमोऽध्यायः

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च[1] ॥ ३ ॥

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम्[2] ॥ ४ ॥

दुःखमेव वा[3] ॥ ५ ॥

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्या[4]नि सत्त्वगुणाधिकाक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ६ ॥

---

१ 'पञ्च पञ्चशः' सि–वृ–पा०। अकलंक के सामने 'पञ्चशः' पाठ होने की आशंका की गई है। इस सूत्र के बाद 'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥ शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष (क्ष्य–रा०) शुद्धिसद्धर्मा (सधर्मा–श्लो०) विसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥ ऐसे पाँच सूत्र स० रा० श्लो० में हैं जिनका भाव इसी सूत्र के भाष्य में है।

२ –मुत्रापाया–स० रा० श्लो०।

३ सिद्धसेन कहते हैं कि इसी सूत्र के 'व्याधिप्रतीकारत्वात् कंडूपरिगतत्वाच्चाब्रह्म' तथा 'परिग्रहेष्वप्राप्तप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे चाऽवितृप्तिः' इन भाष्य वाक्यों को कोई दो सूत्ररूप मानते हैं।

४ –माध्यस्थानि च स–स० रा० श्लो०।

जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १० ॥

मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥

मूर्छा परिग्रहः ॥ १६ ॥

निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥

अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥

अणुव्रतोऽगारी ॥ १५ ॥

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥ १६ ॥

मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ॥ १७ ॥

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥ १८ ॥

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥

---

१ –वौ वा सं–स० रा० श्लो० ।

२ –यिकप्रोषधो–स० रा० श्लो० ।

३ –परिभोगातिथि–भा० । सिद्धसेन वृत्ति में जो इस सूत्र का भाष्य है उसमें भी परिमाण शब्द नहीं है । देखो पृ० ९३. पं० १२ ।

४ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २६२ टि० १ ।

५ सल्लेखनां स० रा० श्लो० ।

६ रतीचाराः भा० सि० रा० श्लो० ।

बन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२०॥

मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार-
साकारमन्त्रभेदाः ॥ २१ ॥

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-
मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २२ ॥

परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्री-
डातीव्रकामाभिनिवेशाः ॥ २३ ॥

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति-
क्रमाः ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि ॥२५॥

---

१ –वधच्छेदाति–स० रा० श्लो० ।

२ –रहोभ्या–स० रा० श्लो० ।

३ –रणेत्वरिकापरि–स० रा० श्लो० ।

४ –डाकामतीव्राभि–स० रा० श्लो० ।

५ इस सूत्र के स्थान में कोई–परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृही-तागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशः (शाः) सूत्र मानते हैं, ऐसा सिद्धसेनका कहना है। यह सूत्र दिगम्बर पाठ से कुछ मिलता है। संपूर्ण नहीं। देखो ऊपर की टिप्पणी।

कुछ लोग इसी सूत्र का पदविच्छेद 'परविवाहकरणम् इत्वरिका-गमनं परिगृहीतापरिगृहीतागमनं अनङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशः' इस तरह करते हैं यह बात सिद्धसेन ने कही है। यह आक्षेप भी दिगम्बर व्याख्याओं पर है ऐसा मालूम नहीं होता। इस प्रकार पदच्छेद करने वाला 'इत्वरिका' पद का जो अर्थ करता है वह भी सिद्धसेन को मान्य नहीं।

६ स्मृत्यन्तराधानानि स० रा० श्लो० ।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ २६ ॥

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि ॥ २७ ॥

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २८ ॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २९ ॥

सचित्तसंबद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्काहाराः ॥ ३० ॥

*सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ३१

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकरणानि ॥ ३२ ॥

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३३ ॥

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः ॥ ३४ ॥

---

१ किसी के मत से 'आनायन' पाठ है ऐसा सिद्धसेन कहते हैं।

२ पुद्गलप्रक्षेपः भा० हा०। हा० वृत्ति में तो 'पुद्गलक्षेपाः' ही पाठ है। सि– वृ० में 'पुद्गलप्रक्षेप' प्रतीक है।

३ –कौकुच्य– भा० हा०।

४ –करणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि स० रा० श्लो०।

५ स्मृत्यनुपस्थानानि स० रा० श्लो०।

६ अप्रत्युपेक्षि– हा०।

७ दानसंस्तरो– स० रा० श्लो०।

८ –स्मृत्यनुपस्थानानि– स० रा० श्लो०।

९ –सम्बन्ध– स० रा० श्लो०।

*टि० में यह सूत्र नहीं है।

१० –क्षेपापिधान– स० रा० श्लो०।

११ निदानानि स० रा० श्लो०।

अष्टमोऽध्यायः

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते[1] ॥२॥

स बन्धः ॥ ३ ॥

प्रकृतिस्थित्यनुभाव[2]प्रदेशास्तद्विधयः ॥ ४ ॥

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्क[3]नामगोत्रा-न्तरायाः ॥ ५ ॥

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा[4] यथा-क्रमम् ॥ ६ ॥

मत्यादीनाम्[5] ॥ ७ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला-प्रचलास्त्यानगृद्धि[6]वेदनीयानि[7] च ॥ ८ ॥

---

१ —दत्ते स बन्धः ॥ २ ॥ स० रा० श्लो० ।

२ —त्यनुभव— स० रा० श्लो० ।

३ — नीयायुर्नाम— स० रा० श्लो० ।

४ —भेदो— रा० ।

५ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् स० रा० श्लो० । किन्तु यह पाठ सिद्धसेन को अपार्थक मालूम होता है । अकलङ्क और विद्यानन्द श्वे० परंपरा संमत लघुपाठ की अपेक्षा उपर्युक्त पाठ को ही ठीक समझते हैं ।

६ — स्त्यानर्द्धि— सि० । सि—भा० का पाठ 'स्त्यानगृद्धि' मालूम होता है क्योंकि सिद्धसेन कहते हैं कि— स्त्यानर्द्धिरिति वा पाठः ।

७ —स्त्यानगृद्धयश्च स० रा० श्लो० । सिद्धसेन ने वेदनीय पद का सम-र्थन किया है ।

सदसद्वेद्ये ॥ ९ ॥

दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रि-द्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषा-यनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरण-संज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्य-रत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः ॥ १० ॥

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ ११ ॥

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंह-ननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपो-द्द्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्व-रशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं-च ॥१२॥

---

१ दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चै-कशः क्रोधमानमायालोभाः—स० रा० श्लो० ।

२ किसी को यह इतना लम्बा सूत्र नहीं जँचता उसको पूर्वाचार्य ने जो जवाब दिया है वही सिद्धसेन उद्धृत करते हैं—

"दुर्व्याख्यानो गरीयांश्च मोहो भवति बन्धनः ।
न तत्र लाघवादिष्टं सूत्रकारेण दुर्वचम् ।"

३ —नुपूर्व्यागु—स० रा० श्लो० । सि—वृ० में 'आनुपूर्व्य' पाठ है । अन्य के मत से सिद्धसेन ने 'आनुपूर्वी' पाठ बताया है । दोनों के मत से सूत्र का भिन्न भिन्न आकार कैसा होगा यह भी उन्होंने दिखाया है ।

—देययशस्की(शःकी)र्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च स० रा० श्लो० ।

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १३ ॥

[1]दानादीनाम् ॥ १४ ॥

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटी-
कोट्यः परा स्थितिः ॥ १५ ॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १६ ॥

[2]नामगोत्रयोर्विंशतिः ॥ १७ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्[3]यायुष्कस्य ॥ १८ ॥

अपरा द्वादशमुहूर्ता[4] वेदनीयस्य ॥ १९ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ २० ॥

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् ॥ २१ ॥

विपाकोऽनु[5]भावः ॥ २२ ॥

स यथानाम ॥ २३ ॥

ततश्च निर्जरा ॥ २४ ॥

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढ[6]-
स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २५ ॥

[7]सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि
पुण्यम् ॥ २६ ॥

---

१ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् स० रा० श्लो० ।

२ विंशतिर्नामगोत्रयोः स० रा० श्लो० ।

३ –ण्यायुष स० रा० श्लो० । ४ –मुहूर्ता स० रा० श्लो० ।

५ –नुभवः स० रा० श्लो० । ६ –वगाहस्थि– स० रा० श्लो० ।

७ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २९८ टि० १। इसके स्थान में स० रा० श्लो० में दो सूत्र हैं– "सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।" "अतोऽन्यत् पापम् ।" यह दूसरा सूत्र भाष्य-वाक्यरूप में अन्य टीकाकारोंने माना है ।

नवमोऽध्यायः

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।७।

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ ९ ॥

---

१ उत्तमक्ष– स० रा० श्लो० ।

२ –शुच्यास्रव– स० रा० श्लो० ।

३ "अपरे पठन्ति अनुप्रेक्षा इति अनुप्रेक्षितव्या इत्यर्थः । अपरे अनुप्रेक्षाशब्दमेकवचनान्तमधीयते"– सि– वृ० ।

४ देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३१० टि० १ ।

५ –प्रज्ञाज्ञानसम्यक्त्वानि हा० । हा–भा० में तो अदर्शन पाठ मालूम होता है ।

सूक्ष्मसंपरायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

एकादश जिने ॥ ११ ॥

बादरसंपराये सर्वे ॥ १२ ॥

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कार-पुरस्काराः ॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराय यथाख्यातानि[7] चारित्रम् ॥ १८ ॥

---

१ —साम्पराय— स० रा० श्लो० ।

२ देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३१५ टि० १ ।

३ देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३१५ टि० २ ।

४ —देकान्नविंशतेः हा० । —युगपदेकस्मिन्नेकान्नविंशतेः स० । युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतेः रा० श्लो० । लेकिन दोनों वार्तिकों में स० जैसा ही पाठ है ।

५ —पस्थापनापरि— स० रा० श्लो० ।

६ सूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति वा० स० रा० श्लो० । राजवार्तिककार को यथाख्यात पाठ इष्ट मालूम होता है क्योंकि उन्होंने यथाख्यात को विकल्प में रक्खा है । सिद्धसेन को भी यथाख्यात पाठ इष्ट है । देखो पृ० २३५ पं० १८ ।

७ केचित् विच्छिन्नपदमेव सूत्रमधीयते—सिद्धसेन वृत्ति ।

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-
शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्यु-
त्तरम् ॥ २० ॥

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरि-
हारोपस्थापनानि[3] ॥ २२ ॥

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधुसं-
मनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥ २७ ॥

आ मुहूर्तात् ॥ २८ ॥

आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि ॥ २९ ॥

---

१ –वमोदर्य–स० रा० श्लो० ।

२ –द्विभेदा–स० श्लो० ।

३ –स्थापनाः–स० रा० श्लो० ।

४ –शैक्षग्ला–स० । शैक्ष्यग्ला रा० श्लो० ।

५ –धुमनोज्ञानाम् स० रा० श्लो० ।

६ स० रा० श्लो० में 'ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' है; अतः २८ वाँ सूत्र उनमें अलग नहीं । देखो हिंदी विवेचन पृ० ३२३ टि० १ ।

७ –धर्म्यशु–स० रा० श्लो० ।

परे मोक्षहेतू ॥ ३० ॥

आर्तममनोज्ञानां[1] सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च[2] ॥ ३२ ॥

विपरीतं मनोज्ञानाम्[3] ॥ ३३ ॥

निदानं च ॥ ३४ ॥

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३५ ॥

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३६ ॥

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य[4] ॥ ३७ ॥

---

१ –मनोज्ञस्य स० रा० श्लो० ।

२ इस सूत्र को स० रा० श्लो० में 'विपरीतं मनोज्ञानाम्' के बाद रखा है अर्थात् उनके मत से यह ध्यान का द्वितीय नहीं, तृतीय भेद है ।

३ मनोज्ञस्य स० रा० श्लो० ।

४ –चयाय धर्म्यमप्र–हा० । –चयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥ स० रा० श्लो० । दिगम्बर सूत्रपाठ में स्वामी का विधान करने वाला 'अप्रमत्तसंयतस्य' अंश नहीं है । इतना ही नहीं, बल्कि इस सूत्र के बाद का 'उपशान्तक्षीण–' यह सूत्र भी नहीं है । स्वामी का विधान सर्वार्थसिद्धि में है । उस विधान को लक्ष में रखकर अकलंक ने श्वे० परंपरा संमत सूत्रपाठ विषयक स्वामी का जो विधान है उसका खण्डन भी किया है । उसी का अनुगमन विद्यानन्द ने भी किया है; देखो० हिन्दी विवेचन पृ० २३० ।

उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥ ३८ ॥

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ३९ ॥

परे केवलिनः ॥ ४० ॥

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया-
निर्[2]वृत्तीनि ॥ ४१ ॥

[3]तत्त्र्येककाययोगायोगानाम् ॥ ४२ ॥

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे[4] ॥ ४३ ॥

[5]अविचारं द्वितीयम् ॥ ४४ ॥

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४५ ॥

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४६ ॥

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोप-
शमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽस-
ङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४७ ॥

---

१ देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३३० टि० १। 'पूर्वविदः' यह अंश भा० हा० में न तो इस सूत्र के अंश रूप से छपा है और न अलग सूत्र रूप से। सि० में अलग सूत्र रूप से छपा है लेकिन टीकाकार उसको भिन्न नहीं मानता। दि० टीकाओं में इसी सूत्रके अंशरूप से छपा है।

२ 'निवर्तीनि' हा० सि०। स० रा० श्लो०। स० की प्रत्यन्तरका पाठ निवृत्तीनि भी है।

३ 'तत्' स० रा० श्लो० में नहीं।

४ –तर्कविचारे पूर्वे स०। –तर्कवीचारे पूर्वे रा० श्लो०।

५ संपादक की भ्रान्ति से यह सूत्र सि० में अलग नहीं छपा है। रा० और श्लो० में 'अवीचारं' पाठ है।

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४८ ॥

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४९ ॥

दशमोऽध्यायः

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्[2] ॥ २ ॥

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३ ॥

[3]औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ॥ ५ ॥

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः ॥ ६ ॥

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसङ्ख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ७ ॥

---

१ –लेश्योपपादस्था –स० रा० श्लो० ।

२ –भ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥ स० र० श्लो० ।

३ इसके स्थान में स० रा० श्लो० में 'औपशमिकादिभव्यत्वानां च' और 'अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः' ऐसे दो सूत्र हैं ।

४ 'तद्गतिः' पद स० रा० श्लो० में नहीं है और इस सूत्र के बाद 'आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च' और 'धर्मास्तिकायाऽभावात्' ऐसे दो सूत्र और हैं जिनका मतलब भाष्य में ही आ जाता है । टि० में इसके बाद "धर्मास्तिकायाभावात्" सूत्र है ।

तत्त्वार्थसूत्र-विवेचन

का

विषयानुक्रम

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नववाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

॥ अर्हं ॥

आचार्य उमास्वाति प्रणीत-

॥ तत्त्वार्थ सूत्र ॥

विवेचन सहित

पहला अध्याय

प्रतिपाद्य विषय

प्राणी अनन्त हैं और सभी सुख चाहते हैं। यद्यपि सुख की कल्पना सब की एक-सी नहीं है, तथापि विकास की न्यूनाधिकता या कमी-बेशी के अनुसार संक्षेप में प्राणियों के और उनके सुख के दो वर्ग किये जा सकते हैं। पहले वर्ग में अल्प विकासवाले ऐसे प्राणी संमिलित हैं जिनके सुख की कल्पना बाह्य साधनों तक ही है। दूसरे वर्ग में अधिक विकासवाले ऐसे प्राणी आते हैं, जो बाह्य अर्थात् भौतिक साधनों की सम्पत्ति में सुख न मानकर सिर्फ आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति में ही सुख मानते हैं। दोनों वर्ग के माने हुए सुख में अन्तर यही है कि पहला सुख पराधीन है और दूसरा स्वाधीन। पराधीन सुख को काम और स्वाधीन सुख को मोक्ष कहते हैं। काम और मोक्ष—दो ही पुरुषार्थ हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त और कोई वस्तु प्राणिवर्ग के लिए मुख्य साध्य नहीं है। पुरुषार्थों में अर्थ और धर्म की जो गिनती है वह मुख्य साध्यरूप से नहीं किन्तु काम और मोक्ष के साधन रूप से। अर्थ ही काम का और धर्म ही मोक्ष का प्रधान साधन है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य

प्रतिपाद्य विषय मोक्ष है। इसलिए उसीके साधनभूत धर्म को तीन विभागों में विभक्त करके शास्त्रकार पहले सूत्र में उनका निर्देश करते हैं—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। १।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं।

इस सूत्र में मोक्ष के साधनों का नाम निर्देश मात्र है। यद्यपि उनका स्वरूप और उनके भेद आगे विस्तार से कहे जानेवाले हैं, तथापि यहाँ संक्षेप में स्वरूपमात्र लिख दिया जाता है।

मोक्ष का स्वरूप

बन्ध और बन्ध के कारणों का अभाव होकर परिपूर्ण आत्मिक विकास का नाम मोक्ष है। अर्थात् ज्ञान और वीतरागभाव की पराकाष्ठा ही मोक्ष है।

साधनों का स्वरूप

जिस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्त्व अर्थात् सत्य की प्रतीति हो, अथवा जिससे हेय—छोड़ने योग्य, उपादेय—ग्रहण योग्य तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो—वह सम्यग्दर्शन है। नय[1] और प्रमाण से होनेवाला जीव आदि तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव अर्थात् रागद्वेष और योग[2] की

---

१. जो ज्ञान शब्द में उतारा जाता है अर्थात् जिसमें उद्देश्य और विधेय रूप से वस्तु भासित होती है वह ज्ञान 'नय' है, और जिसमें उद्देश्य विधेय के विभाग के बिना ही अर्थात् अविभक्त वस्तु का सम्पूर्ण या असम्पूर्ण यथार्थ भान हो वह ज्ञान 'प्रमाण' है। विशेष खुलासे के लिए देखो अध्याय १ सूत्र ६; तथा न्यायावतार श्लोक २९-३० का गुजराती अनुवाद।

२. मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया को योग कहते हैं।

निवृत्ति से जो स्वरूप-रमण होता है वही सम्यक्चारित्र[1] है।

उक्त तीनों साधन जब परिपूर्ण रूप में प्राप्त होते हैं तभी सम्पूर्ण मोक्ष संभव है अन्यथा नहीं। जबतक एक भी साधन अपूर्ण रहेगा तब तक परिपूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के परिपूर्ण रूप में प्राप्त हो जाने पर भी सम्यक्चारित्र की अपूर्णता[2] के कारण ही तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण मोक्ष अर्थात् अशरीर-सिद्धि या विदेह-मुक्ति नहीं होती और चौदहवें गुणस्थान में शैलेशी[3]-अवस्था रूप परिपूर्ण चारित्र प्राप्त होते ही तीनों साधनों की परिपूर्णता के बल से पूर्ण मोक्ष हो जाता है।

साधनों का साहचर्य

साहचर्य नियम

उक्त तीनों साधनों में से पहले दो अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य सहचारी[4] होते हैं।

---

१. हिंसादि दोषों का त्याग और अहिंसादि महाव्रतों का अनुष्ठान सम्यक्चरित्र कहलाता है। यह इसलिए कि उसके द्वारा रागद्वेष की निवृत्ति की जाती है, एवं रागद्वेष की निवृत्ति से दोषों का त्याग और महाव्रतों का पालन स्वतः सिद्ध होता है।

२. यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में वीतरागभाव रूप चारित्र तो पूर्ण ही है तथापि यहाँ जो अपूर्णता कही गई है वह वीतरागता और अयोगता—इन दोनों को पूर्ण चारित्र मानकर ही। ऐसा पूर्ण चारित्र चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है और तुरन्त ही अशरीर-सिद्धि होती है।

३. आत्मा की एक ऐसी अवस्था, जिसमें ध्यान की पराकाष्ठा के कारण मेरुसदृश निष्प्रकम्पता व निश्चलता आती है वही शैलेशी अवस्था है। विशेष खुलासे के लिए देखो—हिन्दी 'दूसरा कर्मग्रन्थ' पृष्ठ ३०।

४. एक ऐसा भी पक्ष है जो दर्शन और ज्ञान के अवश्यंभावी साहचर्य को न मानकर वैकल्पिक साहचर्य को मानता है। उसके मतानुसार कभी

जैसे सूर्य का ताप और प्रकाश एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकते वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक दूसरे के बिना नहीं रहते, पर सम्यक्चारित्र के साथ उनका साहचर्य अवश्यंभावी नहीं है, क्योंकि सम्यक्चारित्र के बिना भी कुछ काल तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पाये जाते हैं। फिर भी उत्क्रान्ति (विकास) क्रमानुसार सम्यक्चारित्र का यह नियम है कि जब वह प्राप्त होता है तब उसके पूर्ववर्ती सम्यग्दर्शन आदि दो साधन अवश्य होते हैं।

प्रश्न—यदि आत्मिक गुणों का विकास ही मोक्ष है और सम्यग्दर्शन आदि उसके साधन भी आत्मा के खास खास गुण का विकास ही है तो फिर मोक्ष और उसके साधन में क्या अन्तर हुआ ?

उत्तर—कुछ नहीं।

प्रश्न—यदि अन्तर नहीं है तो मोक्ष साध्य और सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय उसका साधन, यह साध्य-साधनभाव कैसे ? क्योंकि साध्य-साधन-सम्बन्ध भिन्न वस्तुओं में देखा जाता है।

दर्शनकाल में ज्ञान नहीं भी होता। इसका अर्थ यह है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने पर भी देव-नारक-तिर्यञ्च को तथा कुछ मनुष्यों को विशिष्ट श्रुतज्ञान अर्थात् आचाराङ्गादि-अङ्गप्रविष्ट-विषयक ज्ञान नहीं होता। इस मत के अनुसार दर्शन के समय ज्ञान न पाये जाने का मतलब विशिष्ट श्रुतज्ञान न पाये जाने से है। परन्तु दर्शन और ज्ञान को अवश्य सहचारी माननेवाले पक्ष का आशय यह है कि दर्शन प्राप्ति के पहले जो मति आदि अज्ञान जीव में होता है वही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति या मिथ्यादर्शन की निवृत्ति से सम्यग् रूप में परिणत हो जाता है और मति आदि ज्ञान कहलाता है। इस मत के अनुसार जो और जितना विशेष बोध सम्यक्त्व-प्राप्ति काल में विद्यमान हो वही सम्यग्ज्ञान समझना, विशिष्टश्रुत मात्र नहीं।

उत्तर—साधक-अवस्था की अपेक्षा से मोक्ष और रत्नत्रय का साध्य-साधनभाव कहा गया है, सिद्ध-अवस्था की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि साधक का साध्य परिपूर्ण दर्शनादि रत्नत्रय रूप मोक्ष होता है और उसकी प्राप्ति रत्नत्रय के क्रमिक विकास से ही होती है। यह शास्त्र साधक के लिए है, सिद्ध के लिए नहीं। अतः इसमें साधक के लिए उपयोगी साध्य-साधन के भेद का ही कथन है।

प्रश्न—संसार में तो धन-कलत्र-पुत्रादि साधनों से सुख-प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, फिर उसे छोड़कर मोक्ष के परोक्ष सुख का उपदेश क्यों ?

उत्तर—मोक्ष का उपदेश इसलिए है कि उसमें सच्चा सुख मिलता है। संसार में सुख मिलता है सही, पर वह सच्चा सुख नहीं, सुखाभास है।

प्रश्न—मोक्ष में सत्य सुख है और संसार में सुखाभास है सो कैसे ?

उत्तर—सांसारिक सुख इच्छा की पूर्ति से होता है। इच्छा का यह स्वभाव है कि एक इच्छा पूर्ण होते न होते दूसरी सैकड़ों इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन सब इच्छाओं की तृप्ति होना संभव नहीं, अगर हो भी तो तब तक ऐसी हजारों इच्छाएँ पैदा हो जाती हैं जिनका पूर्ण होना संभव नहीं। अतएव संसार में इच्छापूर्तिजन्य सुख के पलड़े से अपूर्ण इच्छाजन्य दुःख का पलड़ा भारी ही रहता है। इसीसे उसमें सुखाभास कहा गया है। मोक्ष की स्थिति ऐसी है कि उसमें इच्छाओं का ही अभाव हो जाता है और स्वभाविक संतोष प्रकट होता है। इससे उसमें संतोषजन्य सुख ही सुख है, यही सत्य सुख है। १।

सम्यग्दर्शन का लक्षण—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । २ ।

यथार्थरूप से पदार्थों का निश्चय करने की रुचि सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु—

तन्निसर्गादधिगमाद्वा । ३ ।

वह (सम्यग्दर्शन) निसर्ग अर्थात् परिणाम मात्र से अथवा अधिगम अर्थात् उपदेशादि बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है ।

जगत के पदार्थों को यथार्थरूप से जानने की रुचि सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की महत्त्वाकांक्षा से होती है । धन, प्रतिष्ठा आदि किसी सांसारिक वासना के कारण जो तत्त्व-जिज्ञासा होती है वह सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि उसका नतीजा मोक्ष न होकर संसार होता है । परन्तु जो तत्त्वनिश्चय की रुचि सिर्फ आत्मिक तृप्ति के लिए, आध्यात्मिक विकास के लिए होती है—वही सम्यग्दर्शन है ।

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से पृथक्करण

आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न एक प्रकार का आत्मिक परिणाम जो ज्ञेयमात्र को तात्त्विक रूप में जानने की, हेय को त्यागने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचि रूप है, वही निश्चय सम्यक्त्व है । और उस रुचि के बल से होनेवाली धर्मतत्त्व-निष्ठा का नाम व्यवहार सम्यक्त्व है ।

सम्यक्त्व के लिङ्ग

सम्यग्दर्शन की पहचान करानेवाले प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य—ये पाँच लिङ्ग माने जाते हैं । १ तत्त्वों के असत् पक्षपात से होनेवाले कदाग्रह आदि दोषों का उपशम ही प्रशम है । २ सांसारिक बन्धनों का भय ही संवेग है । ३ विषयों में आसक्ति का कम हो जाना निर्वेद है । ४ दुःखी प्राणियों के दुःख दूर करने की इच्छा अनुकम्पा है । ५ आत्मा आदि परोक्ष किन्तु युक्ति-प्रमाण सिद्ध पदार्थों का स्वीकार ही आस्तिक्य है ।

सम्यग्दर्शन के योग्य आध्यात्मिक उत्क्रान्ति होते ही सम्यग्दर्शन का आविर्भाव होता है । पर किसी आत्मा को उसके आविर्भाव में बाह्य

हेतुभेद निमित्त की अपेक्षा रहती है और किसी को नहीं। यह बात प्रसिद्ध है कि एक व्यक्ति शिक्षक आदि की मदद से शिल्प आदि किसी कला को सीख लेता है और दूसरा किसी अन्य की मदद के बिना अपने आप सीख लेता है। आन्तरिक कारण की समानता होने पर भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा और अनपेक्षा को लेकर प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्दर्शन के निसर्ग-सम्यग्दर्शन और अधिगम-सम्यग्दर्शन ऐसे दो भेद किए गये हैं। बाह्य निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं। कोई प्रतिमा आदि धार्मिक वस्तु के अवलोकन मात्र से सम्यग्दर्शन लाभ करता है, कोई गुरु का उपदेश सुनकर, कोई शास्त्र पढ़-सुन कर और कोई सत्संग पाकर।

अनादिकालीन संसार-प्रवाह में तरह तरह के दुःखों का अनुभव करते करते योग्य आत्मा में कभी ऐसी परिणामशुद्धि हो जाती है जो उत्पत्ति क्रम उसके लिए अपूर्व होती है। उस परिणामशुद्धि को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण से रागद्वेष की वह तीव्रता मिट जाती है जो तात्त्विक पक्षपात (सत्य में आग्रह) की बाधक है। ऐसी राग-द्वेष की तीव्रता मिटते ही आत्मा सत्य के लिए जागरूक बन जाता है। यह आध्यात्मिक जागरण ही सम्यक्त्व है। २,३।

तात्त्विक अर्थों का नाम निर्देश—

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। ४।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये तत्त्व हैं।

---

१. उत्पत्ति क्रम की स्पष्टता के लिए देखो–हिन्दी 'दूसरा कर्मग्रन्थ' पृ० ७ तथा 'चौथा कर्मग्रन्थ' की प्रस्तावना पृ० १३।

२. बौद्ध दर्शन में जो दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग चार आर्य सत्य हैं, सांख्य तथा योग दर्शन में हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय चतुर्व्यूह है, जिसे न्यायदर्शन में अर्थ-पद कहा है, उनके स्थान में आस्रव से लेकर मोक्ष तक के पाँच तत्त्व जैनदर्शन में प्रसिद्ध हैं।

बहुत से ग्रन्थों में पुण्य और पाप को मिलाकर नव तत्त्व कहा गया है, परन्तु यहाँ पुण्य और पाप दोनों का समावेश आस्रव या बन्धतत्त्व में करके सिर्फ सात ही तत्त्व कहे गये हैं। अन्तर्भाव को इस प्रकार समझना चाहिए—पुण्य-पाप दोनों द्रव्य-भाव रूप से दो दो प्रकार के हैं। शुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपुण्य और अशुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपाप है। इसलिए द्रव्यरूप पुण्य तथा पाप बन्धतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि आत्मसंबद्ध कर्मपुद्गल या आत्मा और कर्मपुद्गल का सम्बन्ध-विशेष ही द्रव्य बन्धतत्त्व कहलाता है। द्रव्य-पुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भावपुण्य है और द्रव्यपाप का कारण अशुभ अध्यवसाय जो भावपाप कहलाता है, दोनों भी बन्धतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि बन्ध का कारणभूत काषायिक अध्यवसाय—परिणाम ही भावबन्ध कहलाता है।

प्र०—आस्रव से लेकर मोक्ष तक के पाँच तत्त्व न तो जीव अजीव की तरह स्वतंत्र ही हैं और न अनादि अनन्त। किन्तु वे यथासंभव सिर्फ जीव या अजीव की अवस्थाविशेष रूप हैं। इसलिए उन्हें जीव अजीव के साथ तत्त्वरूप से क्यों गिना ?

उ०—वस्तुस्थिति वैसी ही है अर्थात् यहाँ तत्त्व शब्द का मतलब अनादि-अनन्त और स्वतंत्र भाव से नहीं है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी होनेवाले ज्ञेय भाव से है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य मोक्ष होने से मोक्ष के जिज्ञासुओं के लिए जिन वस्तुओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है वे ही वस्तुएँ यहाँ तत्त्व रूप से कही गई हैं। मोक्ष तो मुख्य साध्य ही ठहरा, इसलिए उसको तथा उसके कारण को बिना जाने मोक्षमार्ग में मुमुक्षु की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसी तरह यदि मुमुक्षु मोक्ष के विरोधी तत्त्व का और उस विरोधी तत्त्व के कारण का स्वरूप न जाने तो भी वह अपने पथ में अस्खलित प्रवृत्ति नहीं कर सकता। यह तो मुमुक्षु

को सबसे पहले जान लेना पड़ता है कि अगर मैं मोक्ष का अधिकारी हूँ तो मुझ में पाया जानेवाला सामान्य स्वरूप किस किसमें है और किसमें नहीं ? इसी ज्ञान की पूर्ति के लिए सात तत्त्वों का कथन है। जीवतत्त्व के कथन से मोक्ष का अधिकारी कहा गया। अजीवतत्त्व से यह सूचित किया गया कि जगत में एक ऐसा भी तत्त्व है जो जड़ होने के कारण मोक्षमार्ग के उपदेश का अधिकारी नहीं है। बन्धतत्त्व से मोक्ष का विरोधी भाव और आस्रवतत्त्व से उस विरोधी भाव का कारण बतलाया गया। संवरतत्त्व से मोक्ष का कारण और निर्जरातत्त्व से मोक्ष का क्रम बतलाया गया है।४।

निक्षेपों का नामनिर्देश—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।५।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप या विभाग होता है।

सभी व्यवहार या ज्ञान की लेन-देन का मुख्य साधन भाषा है। भाषा शब्दों से बनती है। एक ही शब्द प्रयोजन या प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। हरएक शब्द के कम से कम चार अर्थ पाये जाते हैं। वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थसामान्य के चार विभाग हैं। ऐसे विभाग ही निक्षेप या न्यास कहलाते हैं। इनको जान लेने से वक्ता का तात्पर्य समझने में सरलता होती है। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में वे चार अर्थनिक्षेप बतलाये गये हैं, जिससे यह पृथक्करण स्पष्टरूप से हो सके कि मोक्ष-मार्ग रूप से सम्यग्दर्शन आदि अर्थ और तत्त्वरूप से जीवाजीवादि अर्थ अमुक प्रकार का लेना चाहिए, दूसरे प्रकार का नहीं। वे चार निक्षेप ये हैं: १—जो अर्थ व्युत्पत्ति सिद्ध नहीं है सिर्फ माता, पिता या अन्य लोगों के संकेत बल से जाना जाता है वह अर्थ नामनिक्षेप है; जैसे—एक ऐसा व्यक्ति जिसमें सेवक योग्य कोई गुण नहीं है, पर किसी ने जिसका नाम

सेवक रख दिया है। २–जो वस्तु असली वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र हो अथवा जिसमें असली वस्तु का आरोप किया गया हो–वह स्थापना-निक्षेप है; जैसे—किसी सेवक का चित्र, फोटो या मूर्ति। ३–जो अर्थ भावनिक्षेप का पूर्वरूप या उत्तररूप हो अर्थात् उसकी पूर्व या उत्तर अवस्था रूप हो–वह द्रव्यनिक्षेप है; जैसे—एक ऐसा व्यक्ति जो वर्त्तमान में सेवाकार्य नहीं करता, पर या तो वह सेवा कर चुका है या आगे करने वाला है। जिस अर्थ में शब्द का व्युत्पत्ति या प्रवृत्ति निमित्त बराबर घटित हो वह भावनिक्षेप है; जैसे—एक ऐसा व्यक्ति जो सेवक योग्य कार्य करता है।

सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग के और जीव-अजीवादि तत्त्वों के भी चार चार निक्षेप पाये जा सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में वे भावरूप ही ग्राह्य हैं। ५।

---

१. संक्षेप से नाम दो तरह के होते हैं—यौगिक और रूढ। रसोइया, सुनार इत्यादि यौगिक शब्द हैं। गाय, घोडा इत्यादि रूढ शब्द हैं। रसोई करे वह रसोइया और सुवर्ण का काम करे वह सुनार। यहाँ पर रसोई और सुवर्ण का काम करने की क्रिया ही रसोइया और सुनार—इन शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त है। अर्थात् ये शब्द ऐसी क्रिया के आश्रय से ही बने हैं और इसीलिए वह क्रिया ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त कही जाती है। यदि यही बात संस्कृत शब्दों में लागू करनी हो तो पाचक, कुम्भकार आदि शब्दों में क्रमशः पाक क्रिया और घट निर्माण क्रिया को व्युत्पत्ति निमित्त समझना चाहिए। सारांश यह कि यौगिक शब्दों में व्युत्पत्ति का निमित्त ही उनकी प्रवृत्ति का निमित्त बनता है लेकिन रूढ शब्दों के विषय में ऐसा नहीं है। वैसे शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर व्यवहृत नहीं होते लेकिन रूढ़ि के अनुसार उनका अर्थ होता है। गाय (गो) घोडा (अश्व) आदि शब्दों की कोई खास व्युत्पत्ति होती नहीं लेकिन यदि कोई किसी प्रकार कर भी ले तो भी अन्त में उसका व्यवहार तो रूढ़ि के अनुसार ही देखा जाता है, व्युत्पत्ति

तत्त्वों के जानने के उपाय–

प्रमाणनयैरधिगमः । ६ ।

प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है ।

नय और प्रमाण दोनों ज्ञान ही हैं, परन्तु उनमें अन्तर यह है कि नय वस्तु के एक अंश का बोध कराता है और प्रमाण अनेक अंशों का । अर्थात् वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, उनमें से जब किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाय, जैसे—नित्यत्व धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्य है' ऐसा निश्चय करना नय है । और जब अनेक धर्म द्वारा वस्तु का अनेक रूप से निश्चय किया जाय जैसे—नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्यानित्य आदि अनेक रूप है' ऐसा निश्चय करना प्रमाण है । अथवा दूसरे शब्दों में यों समझना चाहिए कि नय प्रमाण का एक अंश मात्र है और प्रमाण अनेक नयों का समूह है, क्योंकि नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है और प्रमाण अनेक दृष्टियों से ग्रहण करता है । ६ ।

नय और प्रमाण का अन्तर

के अनुसार नहीं । अमुक २ प्रकार की आकृति-जाति ही गाय, घोड़ा आदि रूढ़ शब्दों के व्यवहार का निमित्त है । अतः उस २ आकृति-जाति को वैसे शब्दों का व्युत्पत्ति निमित्त नहीं लेकिन प्रवृत्ति निमित्त ही कहा जाता है ।

जहाँ यौगिक शब्द (विशेषण रूप) हो वहां व्युत्पत्ति निमित्त वाले अर्थ को भाव निक्षेप और जहाँ रूढ शब्द (जाति नाम) हो वहाँ प्रवृत्ति निमित्त वाले अर्थ को भाव निक्षेप समझना चाहिए ।

तत्त्वों के विस्तृत ज्ञान के लिए कुछ विचारणा द्वारों का निर्देश—

निर्देशस्वामित्वसाधनाऽधिकरणस्थितिविधानतः । ७ ।

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालाऽन्तरभावाऽल्पबहुत्वैश्च । ८ ।

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से;

तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व से सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है ।

छोटा या बड़ा कोई भी जिज्ञासु जब पहले पहल किसी विमान आदि नई वस्तु को देखता या उसका नाम सुनता है तब उसकी जिज्ञासा-वृत्ति जाग उठती है, और इससे वह उस अदृष्टपूर्व या अश्रुतपूर्व वस्तु के संबंध में अनेक प्रश्न करने लगता है । वह उस वस्तु के स्वभाव, रूप-रंग, उसके मालिक, उसके बनाने के उपाय, उसके रखने का स्थान, उसके टिकाऊपन की अवधि, उसके प्रकार आदि के संबंध में नानाविध प्रश्न करता है और उन प्रश्नों का उत्तर पाकर अपनी ज्ञानवृद्धि करता है । इसी तरह अन्तर्दृष्टि व्यक्ति भी मोक्षमार्ग को सुनकर या हेय उपादेय आध्यात्मिक तत्त्व सुनकर उसके संबंध में विविध प्रश्नों के द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाता है । यही आशय प्रस्तुत दो सूत्रों में प्रकट किया गया है । उदाहरणार्थ—निर्देश आदि सूत्रोक्त चौदह प्रश्नों को लेकर सम्यग्दर्शन पर संक्षेप में विचार किया जाता है—

---

१. किसी भी वस्तु में प्रवेश करने का मतलब है उसकी जानकारी प्राप्त करना और विचार करना । ऐसा करने का मुख्य साधन उसके विषय में विविध प्रश्न करना ही है । प्रश्नों का जितना खुलासा मिले उतना ही उस वस्तु में प्रवेश समझना चाहिए । अतः प्रश्न ही वस्तु में प्रवेश करने के अर्थात् विचारणा द्वारा उसकी तह तक पहुँचने के द्वार हैं । अतः विचारणा (मीमांसा) द्वार का मतलब प्रश्न समझना चाहिए । शास्त्रों में उनको अनुयोग द्वार कहा गया है । अनुयोग अर्थात् व्याख्या या विवरण, उसके द्वार अर्थात् प्रश्न ।

१. निर्देश–स्वरूप–तत्त्वरुचि यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप है। २. स्वामित्व–अधिकारित्व–सम्यग्दर्शन का अधिकारी जीव ही है, अजीव नहीं क्योंकि वह जीव का ही गुण या पर्याय है। ३. साधन—कारण—दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम और क्षय ये तीन सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग कारण हैं। उसके बहिरङ्ग कारण शास्त्रज्ञान, जातिस्मरण, प्रतिमा-दर्शन, सत्संग आदि अनेक हैं। ४. अधिकरण–आधार–सम्यग्दर्शन का आधार जीव ही है, क्योंकि वह उसका परिणाम होने के कारण उसी में रहता है। सम्यग्दर्शन गुण है, इसलिए यद्यपि उसका स्वामी और अधि-करण जुदा जुदा नहीं है तथापि जीव आदि द्रव्य के स्वामी और अधिकरण का विचार करना हो, वहाँ उन दोनों में जुदाई भी पाई जाती है। जैसे व्यवहारदृष्टि से देखने पर एक जीव का स्वामी कोई दूसरा जीव होगा पर अधिकरण उसका कोई स्थान या शरीर ही कहा जायगा। ५. स्थिति—कालमर्यादा–सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति सादि-अनन्त है। तीनों प्रकार के सम्यक्त्व अमुक समय में उत्पन्न होते हैं इसलिए वे सादि अर्थात् पूर्वावधिवाले हैं। परन्तु उत्पन्न होकर भी औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कायम नहीं रहते इसलिए वे दो तो सान्त अर्थात् उत्तर अवधिवाले भी हैं। पर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद नष्ट नहीं होता इसलिए वह अनन्त है। इसी अपेक्षा से सामान्यतया सम्यग्दर्शन को सादि सान्त और सादि अनन्त समझना चाहिए। ६. विधान–प्रकार–सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायो-पशमिक और क्षायिक ऐसे तीन प्रकार हैं।

७. सत्–सत्ता–यद्यपि सम्यक्त्व गुण सत्तारूप से सभी जीवों में मौजूद है, पर उसका आविर्भाव सिर्फ भव्य जीवों में हो सकता है, अभव्यों में नहीं। ८. संख्या–गिनती–सम्यक्त्व की गिनती उसे पानेवालों की

संख्या पर निर्भर है। आज तक अनन्त जीवों ने सम्यक्त्व-लाभ किया है और आगे अनन्त जीव उसको प्राप्त करेंगे, इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन संख्या में अनन्त है। ९. क्षेत्र–लोकाकाश–सम्यग्दर्शन का क्षेत्र संपूर्ण लोकाकाश नहीं है किन्तु उसका असंख्यातवाँ भाग है। चाहे सम्यग्दर्शनी एक जीव को लेकर या अनन्त जीवों को लेकर विचार किया जाय तो भी सामान्यरूप से सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग समझना चाहिए क्योंकि सभी सम्यग्दर्शन वाले जीवों का निवास क्षेत्र भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य होगा कि एक सम्यक्त्वी जीव के क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त जीवों का क्षेत्र, परिमाण में बड़ा होगा, क्योंकि लोक का असंख्यातवाँ भाग भी तरतम भाव से असंख्यात प्रकार का होता है। १०. स्पर्शन–निवासस्थान रूप आकाश के चारों ओर के प्रदेशों को छूना स्पर्शन है। क्षेत्र में सिर्फ आधारभूत आकाश ही लिया जाता है। और स्पर्शन में आधार क्षेत्र के चारों तरफ के आकाश प्रदेश जो आधेय के द्वारा छुए गए हों वे भी लिये जाते हैं। यही क्षेत्र और स्पर्शन का भेद है। सम्यग्दर्शन का स्पर्शन भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही समझना चाहिए। पर यह भाग उसके क्षेत्र की अपेक्षा कुछ बड़ा होगा, क्योंकि इसमें क्षेत्रभूत आकाश के पर्यन्तवर्ती प्रदेश भी संमिलित हैं। ११. काल–समय–एक जीव की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन का काल विचारा जाय तो वह सादि सान्त या सादि अनन्त होगा पर सब जीवों की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त समझना चाहिए, क्योंकि भूतकाल का ऐसा कोई भी भाग नहीं है जब कि सम्यक्त्वी बिलकुल न रहा हो। भविष्यत् काल के विषय में भी यही बात है अर्थात् अनादि काल से सम्यग्दर्शन के अविर्भाव का क्रम जारी है जो अनन्तकाल तक चलता ही रहेगा। १२. अन्तर–विरहकाल–एक जीव को लेकर सम्यग्-

दर्शन के विरहकाल का विचार किया जाय तो वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अपार्धपुद्गलपरावर्त परिमाण समझना चाहिए; क्योंकि एक बार सम्यक्त्व का वमन-नाश हो जाने पर फिर से वह जल्दी से जल्दी अन्तर्मुहूर्त्त में पाया जा सकता है। और ऐसा न हुआ तो अन्त में अपार्धपुद्गल-परावर्त्त के बाद अवश्य ही पाया जाता है। परन्तु नाना जीवों की अपेक्षा से तो सम्यग्दर्शन का विरह काल बिलकुल नहीं होता, क्योंकि नाना जीवों में तो किसी न किसी को सम्यग्दर्शन होता ही रहता है। १३. भाव-अवस्था विशेष-सम्यक्त्व औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन अवस्थाओं में पाया जाता है। ये भाव सम्यक्त्व के आवरणभूत दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से जनित हैं। इन भावों से सम्यक्त्व की शुद्धि का तारतम्य जाना जा सकता है। [3]औपशमिक की अपेक्षा क्षायो-पशमिक और क्षायोपशमिक की अपेक्षा क्षायिक भाववाला सम्यक्त्व उत्तरोत्तर

---

१. आवली से अधिक और मुहूर्त से न्यून काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। आवली से एक समय अधिक काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, मुहूर्त में एक समय कम उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त और बीच का सब मध्यम काल अन्तर्मुहूर्त समझना। यह दिगम्बर परंपरा है। देखो तिलोयपण्णत्ति ४.२८८। जीव कांड गा० ५७३-५७५। श्वे० परंपरा के अनुसार नव समय का जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। बाकी सब समान है।

२. जीव पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करता है। जब कोई एक जीव जगत में विद्यमान समग्र पुद्गल परमाणुओं को आहारक शरीर के सिवा शेष सब शरीरों के रूप में तथा भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करके उन्हें छोड़ दे-इसमें जितना काल लगता है, उसे पुद्गलपरावर्त कहते हैं। इसमें कुछ ही काल कम हो तो उसे अपार्धपुद्गल परावर्त कहते हैं।

३. यहां जो क्षयोपशमिक को औपशमिक की अपेक्षा शुद्ध कहा है, वह परिणाम की अपेक्षा से नहीं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से समझा जाय।

विशुद्ध, विशुद्धतर होता है। उक्त तीन भावों के सिवा दो भाव और भी हैं—औदयिक तथा पारिणामिक। इन भावों में सम्यक्त्व नहीं होता। अर्थात् दर्शनमोहनीय की उदयावस्था में सम्यक्त्व का आविर्भाव नहीं हो सकता। इसी तरह सम्यक्त्व अनादि काल से जीवत्व के समान अनावृत्त अवस्था में न पाये जाने के कारण पारिणामिक अर्थात् स्वाभाविक भी नहीं है।

१४. अल्पबहुत्व–न्यूनाधिकता–पूर्वोक्त तीन प्रकार के सम्यक्त्व में औपशमिक सम्यक्त्व सबसे अल्प है, क्योंकि ऐसे सम्यक्त्व वाले जीव अन्य प्रकार के सम्यक्त्व वालों से हमेशा थोड़े ही पाये जाते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व असंख्यात गुण और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तगुण है। क्षायिक सम्यक्त्व के अनन्तगुण होने का कारण यह है कि यह सम्यक्त्व समस्त मुक्त जीवों में होता है और मुक्त जीव अनन्त हैं। ७–८।

सम्यग्ज्ञान के भेद—

मतिश्रुताऽवधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम्। ९।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल—ये पांच ज्ञान हैं।

जैसे सम्यग्दर्शन का लक्षण सूत्र में बतलाया है वैसे सम्यग्ज्ञान का नहीं बतलाया। यह इसलिए कि सम्यग्दर्शन का लक्षण जान लेने से सम्यग्ज्ञान का लक्षण अपने आप मालूम किया जा सकता है। वह इस प्रकार कि जीव कभी सम्यग्दर्शन रहित तो होता है, पर ज्ञान रहित नहीं

परिणाम की अपेक्षा से तो औपशमिक ही ज्यादा शुद्ध है। क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में तो मिथ्यात्व का प्रदेशोदय हो सकता है, जब कि औपशमिक सम्यक्त्व के समय किसी तरह के मिथ्यात्व-मोहनीय के उदय का संभव नहीं। तथापि औपशमिक की अपेक्षा क्षायोपशमिक की स्थिति बहुत लंबी होती है। इसी अपेक्षा से इसको विशुद्ध भी कह सकते हैं।

होता। किसी न किसी प्रकार का ज्ञान उसमें अवश्य रहता है। वही ज्ञान सम्यक्त्व का आविर्भाव होते ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान असम्यग्ज्ञान का अन्तर यही है कि पहला सम्यक्त्व सहचरित है और दूसरा सम्यक्त्व रहित अर्थात् मिथ्यात्व सहचरित है।

प्र०—सम्यक्त्व का ऐसा कौन सा प्रभाव है कि उसके अभाव में तो ज्ञान चाहे कितना ही अधिक और अभ्रान्त क्यों न हो, पर वह असम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान कहलाता है; और थोड़ा अस्पष्ट व भ्रमात्मक ज्ञान भी सम्यक्त्व के प्रकट होते ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है ?

उ०—यह अध्यात्म शास्त्र है। इसलिए सम्यग्ज्ञान, असम्यग्ज्ञान का विवेक आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाता है, न्याय या प्रमाण शास्त्र की तरह विषय की दृष्टि से नहीं किया जाता। न्यायशास्त्र में जिस ज्ञान का विषय यथार्थ हो वही सम्यग्ज्ञान-प्रमाण और जिसका विषय अयथार्थ हो वह असम्यग्ज्ञान-प्रमाणाभास कहलाता है। परन्तु इस आध्यात्मिक शास्त्र में न्यायशास्त्र सम्मत सम्यग्ज्ञान, असम्यग्ज्ञान का वह विभाग मान्य होने पर भी गौण है। यहाँ यही विभाग मुख्य है कि जिस ज्ञान से आध्यात्मिक उत्क्रान्ति—विकास हो वही सम्यग्ज्ञान, और जिससे संसार वृद्धि या आध्यात्मिक पतन हो वही असम्यग्ज्ञान। ऐसा संभव है कि सामग्री की कमी के कारण सम्यक्त्वी जीव को कभी किसी विषय में संशय भी हो, भ्रम भी हो, एवं अस्पष्ट ज्ञान भी हो; पर वह सत्यगवेषक और कदाग्रहरहित होने के कारण अपने से महान्, प्रामाणिक, विशेषदर्शी व्यक्ति के आश्रय से अपनी कमी सुधार लेने को सदैव उत्सुक रहता है, तथा उसे सुधार भी लेता है और अपने ज्ञान का उपयोग मुख्यतया वासनापोषण में न कर आध्यात्मिक विकास में ही करता है। सम्यक्त्वशून्य जीव का स्वभाव इससे उल्टा होता है। सामग्री की पूर्णता की बदौलत उसे निश्चयात्मक अधिक और स्पष्ट ज्ञान

होता है तथापि वह कदाग्रही प्रकृति के कारण घमंडी होकर किसी विशेषदर्शी के विचारों को भी तुच्छ समझता है और अन्त में अपने ज्ञान का उपयोग आत्मिक प्रगति में न कर सांसारिक महत्त्वाकांक्षा में ही करता है। ९।

प्रमाण चर्चा—

तत् प्रमाणे ।१०।

आद्ये परोक्षम् ।११।

प्रत्यक्षमन्यत् ।१२।

वह अर्थात् पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाणरूप है।

प्रथम के दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

शेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

प्रमाणविभाग

मति, श्रुत आदि जो ज्ञान के पाँच प्रकार कहे गये हैं, वे प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणों में विभक्त हो जाते हैं।

प्रमाण का सामान्य लक्षण पहले ही कहा जा चुका है कि जो ज्ञान वस्तु को अनेकरूप से जानने वाला हो वह प्रमाण है। उसके विशेष लक्षण ये हैं: जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही सिर्फ आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष; और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है।

प्रमाण लक्षण

उक्त पाँच में से पहले दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण कहलाते हैं, क्योंकि ये दोनों इन्द्रिय तथा मन की मदद से उत्पन्न होते हैं।

अवधि, मनःपर्याय और केवल ये तीनों प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे इन्द्रिय तथा मन की मदद के बिना ही सिर्फ आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होते हैं।

न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण दूसरे प्रकार से किया गया है। उसमें इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और लिङ्ग (हेतु) तथा शब्दादिजन्य ज्ञान को परोक्ष कहा है; परन्तु वह लक्षण यहाँ स्वीकृत नहीं है। यहाँ तो आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से और आत्मा के अलावा इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान परोक्ष रूप से इष्ट है। इसके अनुसार मति और श्रुत दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखनेवाले होने के कारण परोक्ष समझने चाहिएँ। और बाकी के अवधि आदि तीनों ज्ञान इन्द्रिय तथा मन की मदद के बिना ही सिर्फ आत्मिक योग्यता के बल से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष समझने चाहिएँ। इन्द्रिय तथा मनोजन्य मतिज्ञान को कहीं कहीं प्रत्यक्ष कहा है वह पूर्वोक्त न्यायशास्त्र के लक्षणानुसार लौकिक दृष्टि को लेकर समझना चाहिए। १०–१२

मतिज्ञान के एकार्थक शब्द—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। १३।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध–ये शब्द पर्यायभूत–एकार्थ-वाचक हैं।

प्र०–किस ज्ञान को मति कहते हैं?

उ०–उसे जो ज्ञान वर्त्तमान विषयक हो।

प्र०–क्या स्मृति, संज्ञा और चिन्ता भी वर्त्तमान विषयक ही है?

उ०–नहीं, पहले अनुभव की हुई वस्तु के स्मरण का नाम स्मृति है, इसलिए वह अतीत विषयक है। पहले अनुभव की हुई और वर्त्तमान

---

१ प्रमाणमीमांसा आदि तर्क ग्रन्थों में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से इन्द्रिय-मनोजन्य अवग्रह आदि ज्ञान का वर्णन है। विशेष खुलासे के लिए देखो-न्यायावतार, गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में जैन प्रमाणमीमांसा पद्धति का विकासक्रम।

में अनुभव की जानेवाली वस्तु की एकता के अनुसंधान का नाम संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान है; इसलिए वह अतीत और वर्तमान—उभयविषयक है। और चिन्ता, भावी वस्तु की विचारणा का नाम है इसलिए वह अनागत विषयक है।

प्र०—इस कथन से तो मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ये पर्याय शब्द नहीं हो सकते क्योंकि इनके अर्थ जुदे जुदे हैं।

उ०—विषय भेद और कुछ निमित्त भेद होने पर भी मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ज्ञान का अन्तरङ्ग कारण जो मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है वह सामान्य रूप से एक ही यहाँ विवक्षित है इसी अभिप्राय से यहां मति आदि शब्दों को पर्याय कहा है।

प्र०—अभिनिबोध शब्द के विषय में तो कुछ नहीं कहा। वह किस प्रकार के ज्ञान का वाचक है? यह बतलाइए।

उ०—अभिनिबोध शब्द सामान्य है। वह मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता इन सभी ज्ञानों में प्रयुक्त होता है अर्थात् मति-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले सब प्रकार के ज्ञानों के लिए अभिनिबोध शब्द सामान्य है और मति आदि शब्द उस क्षयोपशमजन्य खास खास ज्ञानों के लिए हैं।

प्र०—इसी रीति से तो अभिनिबोध सामान्य हुआ और मति आदि उसके विशेष हुए फिर ये पर्याय शब्द कैसे?

उ०—यहाँ सामान्य और विशेष की भेद-विवक्षा न करके सबको पर्याय शब्द कहा है। १३।

मतिज्ञान का स्वरूप—

तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम्। १४।

मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय रूप निमित्त से उत्पन्न होता है।

प्र०—यहाँ मतिज्ञान के इन्द्रिय और अनिन्द्रिय ये दो कारण बतलाए हैं। इनमें इन्द्रिय तो चक्षु आदि प्रसिद्ध है पर अनिन्द्रिय से क्या मतलब है ?

उ०—अनिन्द्रिय का मतलब मन से है।

प्र०—जब चक्षु आदि तथा मन ये सभी मतिज्ञान के साधन हैं तब एक को इन्द्रिय और दूसरे को अनिन्द्रिय कहने का क्या कारण ?

उ०—चक्षु आदि बाह्य साधन हैं और मन आन्तर साधन है। यही भेद इन्द्रिय और अनिन्द्रिय संज्ञाभेद का कारण है। १४।

मतिज्ञान के भेद—

अवग्रहेहावायधारणाः। १५।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार भेद मतिज्ञान के हैं।

प्रत्येक इन्द्रियजन्य और मनोजन्य मतिज्ञान के चार चार भेद पाये जाते हैं। अतएव पाँच इन्द्रियाँ और एक मन इन छहों के अवग्रह आदि चार चार भेद गिनने से चौबीस भेद मतिज्ञान के होते हैं। उनके नाम यों समझने चाहिए—

स्पर्शन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन	”	”	”	”
घ्राण	”	”	”	”
चक्षु	”	”	”	”
श्रोत्र	”	”	”	”
मन	”	”	”	”

अवग्रह आदि उक्त चारों भेदों के लक्षण

१. नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है। जैसे–गाढ़ अन्धकार में कुछ छू जाने पर यह कुछ है–ऐसा ज्ञान। इस ज्ञान में यह नहीं मालूम होता कि किस चीज का स्पर्श है, इसलिए वह अव्यक्त ज्ञान–अवग्रह है। २. अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये हुए सामान्य विषय को विशेष रूप से निश्चित करने के लिए जो विचारणा होती है–वह ईहा है। जैसे–यह रस्सी का स्पर्श है या साँप का यह संशय होने पर ऐसी विचारणा होती है कि यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिए। क्योंकि यदि साँप होता तो इतना सख्त आघात होने पर वह फुफकार किये बिना न रहता। यही विचारणा संभावना या ईहा कहलाती है। ३. ईहा के द्वारा ग्रहण किये हुए विशेष का कुछ अधिक अवधान–एकाग्रता से जो निश्चय होता है वह अवाय है। जैसे–कुछ काल तक सोचने और जाँच करने से यह निश्चय हो जाना कि यह साँप का स्पर्श नहीं, रस्सी का ही है, अवाय कहलाता है। ४. अवायरूप निश्चय कुछ काल तक कायम रहता है फिर विषयान्तर में मन चला जाने से वह निश्चय लुप्त तो हो जाता है पर ऐसे संस्कार को डाल जाता है कि जिससे आगे कभी कोई योग्य निमित्त मिलने पर उस निश्चित विषय का स्मरण हो आता है। इस निश्चय की सतत धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मरण–यह सब मतिव्यापार–धारणा है।

प्र०–उक्त चार भेद का जो क्रम रक्खा है वह निर्हेतुक है या सहेतुक ?

उ०–सहेतुक है। सूत्रोक्त क्रम से यही सूचित करना है कि जो क्रम सूत्र में है उसी क्रम से अवग्रहादि की उत्पत्ति भी होती है। १५।

अवग्रह आदि के भेद—

बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासन्दिग्धध्रुवाणां सेतराणाम् । १६ ।

सेतर (प्रतिपक्ष सहित) ऐसे बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा रूप मतिज्ञान होते हैं।

पाँच इन्द्रियाँ और एक मन इन छह साधनों से होने वाले मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा आदि रूप से जो चौबीस भेद कहे गए हैं वे क्षयोपशम और विषय की विविधता से बारह बारह प्रकार के होते हैं। जैसे—

बहुग्राही	छह अवग्रह	छह ईहा	छह अवाय	छह धारणा
अल्पग्राही	,,	,,	,,	,,
बहुविधग्राही	,,	,,	,,	,,
एकविधग्राही	,,	,,	,,	,,
क्षिप्रग्राही	,,	,,	,,	,,
अक्षिप्रग्राही	,,	,,	,,	,,
अनिश्रितग्राही	,,	,,	,,	,,
निश्रितग्राही	,,	,,	,,	,,
असंदिग्धग्राही	,,	,,	,,	,,
संदिग्धग्राही	,,	,,	,,	,,
ध्रुवग्राही	,,	,,	,,	,,
अध्रुवग्राही	,,	,,	,,	,,

बहु का मतलब अनेक और अल्प का मतलब एक है। जैसे—दो या दो से अधिक पुस्तकों को जानने वाले अवग्रह, ईहा आदि चारों क्रमभावी मतिज्ञान बहुग्राही अवग्रह, बहुग्राहिणी ईहा, बहुग्राही अवाय और बहुग्राहिणी धारणा कहलाते हैं। और एक पुस्तक को जाननेवाले अल्पग्राही अवग्रह, अल्पग्राहिणी ईहा, अल्पग्राही अवाय, अल्पग्राहिणी धारणा कहलाते हैं।

बहुविध का मतलब अनेक प्रकार से और एकविध का मतलब एक प्रकार से है। जैसे—आकार-प्रकार, रूप-रंग या मोटाई आदि में विविधता रखने वाली पुस्तकों को जानने वाले उक्त चारों ज्ञान क्रम से बहुविधग्राही अवग्रह, बहुविधग्राहिणी ईहा, बहुविधग्राही अवाय तथा बहुविधग्राहिणी धारणा; और आकार-प्रकार, रूप-रंग तथा मोटाई आदि में एक ही प्रकार की पुस्तकों को जानने वाले वे ज्ञान एकविधग्राही अवग्रह, एकविधग्राहिणी ईहा आदि कहलाते हैं। बहु तथा अल्प का मतलब व्यक्ति की संख्या से है और बहुविध तथा एकविध का मतलब प्रकार, किस्म या जाति की संख्या से है। यही दोनों का अन्तर है।

शीघ्र जानने वाले चारों मतिज्ञान क्षिप्रग्राही अवग्रह आदि और विलंब से जानने वाले अक्षिप्रग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। यह देखा जाता है कि इंद्रिय, विषय आदि सब बाह्य सामग्री बराबर होने पर भी सिर्फ क्षयोपशम की पटुता के कारण एक मनुष्य उस विषय का ज्ञान जल्दी कर लेता है और क्षयोपशम की मन्दता के कारण दूसरा मनुष्य देर से कर पाता है।

अनिश्रित[1] का मतलब लिंग-अप्रमित अर्थात् हेतु द्वारा असिद्ध वस्तु से है और निश्रित का मतलब लिंग-प्रमित वस्तु से है। जैसे पूर्व में अनुभूत

---

१ अनिश्रित और निश्रित शब्द का जो अर्थ ऊपर बतलाया है वह नन्दीसूत्र की टीका में भी है; पर इसके सिवा दूसरा अर्थ भी उस टीका में श्रीमलयगिरजी ने बतलाया है। जैसे—परधर्मों से मिश्रित ग्रहण निश्रितावग्रह और परधर्मों से अमिश्रित ग्रहण अनिश्रितावग्रह है। देखो पृ० १८३, आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित।

दिगम्बर ग्रन्थों में 'अनिःसृत' पाठ है। तदनुसार उनमें अर्थ किया है कि संपूर्णतया आविर्भूत नहीं ऐसे पुद्गलों का ग्रहण 'अनिःसृतावग्रह' और संपूर्णतया आविर्भूत पुद्गलों का ग्रहण 'निःसृतावग्रह' है। देखो इसी सूत्र का राजवार्तिक नं० १५।

शीत, कोमल और स्निग्ध स्पर्शरूप लिंग से वर्तमान में जुई के फूलों को जाननेवाले उक्त चारों ज्ञान क्रम से निश्रितग्राही (सलिंगग्राही) अवग्रह आदि और उक्त लिंग के बिना ही उन फूलों को जाननेवाले अनिश्रितग्राही (अलिंगग्राही) अवग्रह आदि कहलाते हैं।

असंदिग्ध का मतलब निश्चित से और संदिग्ध का मतलब अनिश्चित से है; जैसे यह चन्दन का ही स्पर्श है, फूल का नहीं। इस प्रकार से स्पर्श को निश्चित रूप से जानने वाले उक्त चारों ज्ञान निश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। तथा यह चन्दन का स्पर्श होगा या फूल का, क्योंकि दोनों शीतल होते हैं। इस प्रकार से विशेष की अनुपलब्धि के समय होनेवाले संदेहयुक्त चारों ज्ञान अनिश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

ध्रुव का मतलब अवश्यंभावी और अध्रुव का मतलब कदाचिद् भावी से है। यह देखा गया है कि इन्द्रिय और विषय का संबन्ध तथा मनोयोग

---

१ इसके स्थान में दिगम्बर ग्रन्थों में 'अनुक्त' ऐसा पाठ है। तदनुसार उनमें अर्थ किया है कि एक ही वर्ण निकलने पर पूर्ण अनुच्चारित शब्द को अभिप्रायमात्र से जान लेना कि आप अमुक शब्द बोलने वाले हैं यह अनुक्तावग्रह। अथवा स्वर का संचारण करने से पहले ही वीणा आदि वादित्र की ठनक मात्र से जान लेना कि आप अमुक स्वर निकालने वाले हैं यह अनुक्तावग्रह। इसके विपरीत उक्तावग्रह है। देखो इसी सूत्र का राजवार्तिक नं० १५।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में नन्दीसूत्र में असंदिग्ध ऐसा एक मात्र पाठ है। उसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार ही उसकी टीका में है, देखो पृ० १८३। परन्तु तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति में अनुक्त पाठ भी दिया है। उसका अर्थ पूर्वोक्त राजवार्तिक के अनुसार है। किन्तु वृत्तिकार ने लिखा है कि अनुक्त पाठ रखने से इसका अर्थ सिर्फ शब्द विषयक अवग्रह आदि में ही लागू पड़ सकता है, स्पर्श विषयक अवग्रह आदि में नहीं। इस अपूर्णता के कारण अन्य आचार्यों ने असंदिग्ध पाठ रक्खा है। देखो तत्त्वार्थभाष्य-वृत्ति, पृ० ५८ मनसुख भगुभाई द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद।

रूप सामग्री समान होने पर भी एक मनुष्य उस विषय को अवश्य ही जान लेता है और दूसरा उसे कभी जान पाता है, कभी नहीं। सामग्री होने पर विषय को अवश्य जानने वाले उक्त चारों ज्ञान ध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और सामग्री होने पर भी क्षयोपशम की मन्दता के कारण विषय को कभी ग्रहण करने वाले और कभी न ग्रहण करनेवाले उक्त चारों ज्ञान अध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं।

प्र०— उक्त बारह भेदों में से कितने भेद विषय की विविधता और कितने भेद क्षयोपशम की पटुता-मन्दता रूप विविधता के आधार पर किये गये हैं?

उ०— बहु, अल्प, बहुविध और अल्पविध ये चार भेद विषय की विविधता पर अवलम्बित हैं; शेष आठ भेद क्षयोपशम की विविधता पर।

प्र०— अब तक कुल भेद कितने हुए?

उ०— दो सौ अट्ठासी।

प्र०— कैसे?

उ०— पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छह भेदों के साथ अवग्रह आदि चार चार भेद गुनने से चौबीस और बहु, अल्प आदि उक्त बारह प्रकार के साथ चौबीस गुनने से दो सौ अट्ठासी। १६।

सामान्यरूप से अवग्रह आदि का विषय—

अर्थस्य । १७ ।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चारों मतिज्ञान अर्थ—वस्तु को ग्रहण करते हैं।

अर्थ का मतलब वस्तु से है। वस्तु, द्रव्य–सामान्य और पर्याय–विशेष, दोनों को कहते हैं। इसलिए प्रश्न होता है कि क्या इन्द्रियजन्य

और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान द्रव्यरूप वस्तु को विषय करते हैं या पर्यायरूप वस्तु को ?

उ०—उक्त अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान मुख्यतया पर्याय को ग्रहण करते हैं, संपूर्ण द्रव्य को नहीं। द्रव्य को वे पर्याय द्वारा ही जानते हैं, क्योंकि इन्द्रिय और मन का मुख्य विषय पर्याय ही है। पर्याय, द्रव्य का एक अंश है। इसलिए अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान द्वारा जब इन्द्रियाँ या मन अपने अपने विषयभूत पर्याय को जानते हैं, तब वे उस उस पर्याय रूप से द्रव्य को ही अंशतः जान लेते हैं। क्योंकि द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं रहता और द्रव्य भी पर्याय-रहित नहीं होता। जैसे नेत्र का विषय रूप और संस्थान—आकार आदि हैं, जो पुद्गल द्रव्य के पर्याय विशेष हैं। नेत्र आम्रफल आदि को ग्रहण करता है, इसका मतलब सिर्फ यही है कि वह उसके रूप तथा आकार विशेष को जानता है। रूप और आकार विशेष आम से जुदा नहीं है इसलिए स्थूल दृष्टि से यह कहा जाता है कि नेत्र से आम देखा गया, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उसने संपूर्ण आम को ग्रहण नहीं किया। क्योंकि आम में तो रूप और संस्थान के अलावा स्पर्श, रस, गन्ध आदि अनेक पर्याय हैं जिनको जानने में नेत्र असमर्थ है। इसी तरह स्पर्शन, रसन और घ्राण इन्द्रियाँ जब गरम गरम जलेबी आदि वस्तु को ग्रहण करती हैं तब वे क्रम से उस वस्तु के उष्ण स्पर्श, मधुर रस और सुगंधरूप पर्याय को ही जानती हैं। कोई भी एक इन्द्रिय उस वस्तु के संपूर्ण पर्यायों को जान नहीं सकती। कान भी भाषात्मक पुद्गल के ध्वनि-रूप पर्याय को ही ग्रहण करता है, अन्य पर्याय को नहीं। मन भी किसी विषय के अमुक अंश का ही विचार करता है। एक साथ संपूर्ण अंशों का विचार करने में वह असमर्थ है। इससे यह सिद्ध है कि इन्द्रियजन्य और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि चारों

ज्ञान पर्याय को ही मुख्यतया विषय कहते हैं और द्रव्य को वे पर्याय द्वारा ही जानते हैं।

प्र०—पूर्व सूत्र और इस सूत्र में क्या संबंध है ?

उ०—यह सूत्र सामान्य का वर्णन करता है और पूर्व सूत्र विशेष का। अर्थात् इस सूत्र में पर्याय या द्रव्यरूप वस्तु को अवग्रह आदि ज्ञान का विषय जो सामान्य रूप से बतलाया है उसीको संख्या, जाति आदि द्वारा पृथक्करण करके बहु, अल्प आदि विशेष रूप से पूर्व सूत्र में बतलाया है। १७।

इन्द्रियों की ज्ञानजनन पद्धति संबन्धी भिन्नता के कारण अवग्रह के अवान्तर भेद—

व्यञ्जनस्यावग्रहः । १८ ।

न चक्षुरनिंद्रियाभ्याम् । १९ ।

व्यञ्जन—उपकरणेन्द्रिय का विषय के साथ संयोग–होने पर अवग्रह ही होता है।

नेत्र और मन से व्यञ्जन होकर अवग्रह नहीं होता।

लंगड़े मनुष्य को चलने में लकड़ी का सहारा अपेक्षित है वैसे ही आत्मा की आवृत चेतना शक्ति को पराधीनता के कारण ज्ञान उत्पन्न करने में सहारे की अपेक्षा है। उसे बाहरी सहारा इन्द्रिय और मन का चाहिए। सब इन्द्रिय और मन का स्वभाव एकसा नहीं है, इसलिए उनके द्वारा होने वाली ज्ञानधारा के आविर्भाव का क्रम भी एकसा नहीं होता। यह क्रम दो प्रकार का है, मन्दक्रम और पटुक्रम।

मन्दक्रम में ग्राह्य विषय के साथ उस उस विषय की ग्राहक उपकरणेन्द्रिय[1] का संयोग—व्यञ्जन होते ही ज्ञान का आविर्भाव होता है।

---

१. इसके खुलासे के लिए देखो अ० २ सू० १७।

शुरू में ज्ञान की मात्रा इतनी अल्प होती है कि उससे 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध भी होने नहीं पाता परन्तु ज्यों ज्यों विषय और इन्द्रिय का संयोग पुष्ट होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान की मात्रा भी बढ़ती जाती है। उक्त संयोग–व्यञ्जन की पुष्टि के साथ कुछ काल में तज्जनित ज्ञानमात्रा भी इतनी पुष्ट हो जाती है कि जिससे 'यह कुछ है' ऐसा विषय का सामान्य बोध–अर्थावग्रह होता है। इस अर्थावग्रह का पूर्ववर्ती ज्ञानव्यापार जो उक्त व्यञ्जन से उत्पन्न होता है और उस व्यञ्जन की पुष्टि के साथ ही क्रमशः पुष्ट होता जाता है, वह सब व्यञ्जनावग्रह कहलाता है; क्योंकि उसके होने में व्यञ्जन की अपेक्षा है। यह व्यञ्जनावग्रह नामक दीर्घ ज्ञानव्यापार उत्तरोत्तर पुष्ट होने पर भी इतना अल्प होता है कि उससे विषय का सामान्यबोध तक नहीं होता। इसलिए उसको अव्यक्ततम, अव्यक्ततर, अव्यक्त ज्ञान कहते हैं। जब वह ज्ञानव्यापार इतना पुष्ट हो जाय कि उससे 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध हो सके तब वही सामान्य बोधकारक ज्ञानांश अर्थावग्रह कहलाता है। अर्थावग्रह भी व्यञ्जनावग्रह का एक चरम पुष्ट अंश ही है। क्योंकि उसमें भी विषय और इन्द्रिय का संयोग अपेक्षित है। तथापि उसको व्यञ्जनावग्रह से अलग कहने का और अर्थावग्रह नाम रखने का प्रयोजन यह है कि उस ज्ञानांश से होने वाला विषय का बोध ज्ञाता के ध्यान में आ सकता है। अर्थावग्रह के बाद उसके द्वारा सामान्य रूप से जाने हुए विषय की विशेष रूप से जिज्ञासा, विशेष का निर्णय, उस निर्णय की धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मृति यह सब ज्ञानव्यापार होता है, जो ईहा, अवाय और धारणा रूप से तीन विभागों में पहले बतलाया जा चुका है। यह बात भूलनी न चाहिए कि इस मंदक्रम में जो उपकरणेन्द्रिय और विषय के संयोग की अपेक्षा कही गई है वह व्यञ्जनावग्रह के अंतिम अंश अर्थावग्रह तक ही है। इसके बाद ईहा, अवाय आदि ज्ञानव्यापार में वह संयोग अनिवार्यरूप से अपेक्षित

नहीं है क्योंकि उस ज्ञानव्यापार की प्रवृत्ति विशेष की ओर होने से उस समय मानसिक अवधान की प्रधानता रहती है। इसी कारण अवधारण-युक्त व्याख्यान करके प्रस्तुत सूत्र के अर्थ में कहा गया है कि 'व्यञ्जनस्या-वग्रह एव' व्यञ्जन का अवग्रह ही होता है अर्थात् अवग्रह—अव्यक्त ज्ञान तक ही व्यञ्जन की अपेक्षा है, ईहा आदि में नहीं।

पटुक्रम में उपकरणेन्द्रिय और विषय के संग की अपेक्षा नहीं है। दूर, दूरतर होने पर भी योग्य सन्निधान मात्र से इन्द्रिय उस विषय को ग्रहण कर लेती है और ग्रहण होते ही उस विषय का उस इन्द्रिय द्वारा शुरू में ही अर्थावग्रह रूप सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके बाद क्रमशः ईहा, अवाय आदि ज्ञानव्यापार पूर्वोक्त मंदक्रम की तरह ही प्रवृत्त होता है। सारांश यह है कि पटुक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग हुए बिना ही ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है। जिसका प्रथम अंश अर्थावग्रह और चरम अंश स्मृतिरूप धारणा है। इसके विपरीत मंदक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग होने पर ही ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है। जिसका प्रथम अंश अव्यक्ततम, अव्यक्ततररूप व्यञ्जनावग्रह नामक ज्ञान, दूसरा अंश अर्थावग्रहरूप ज्ञान और चरम अंश स्मृतिरूप धारणा ज्ञान है।

मंदक्रम की ज्ञानधारा, जिसके आविर्भाव के लिए इंद्रिय-विषय संयोग की अपेक्षा है, उसको स्पष्टतया समझने के लिए शराव—सकोरे का दृष्टांत उपयोगी है। जैसे आवाप—भट्ठे में से तुरन्त निकाले हुए अतिरूक्ष

दृष्टांत

शराव में पानी का एक बिंदु डाला जाय तो तुरन्त ही शराव उसे सोख लेता है, यहाँ तक कि उसका कोई नामोनिशान नहीं रहता। इसी तरह आगे भी एक एक कर डाले गए अनेक जलबिंदुओं को वह शराव सोख लेता है। पर अन्त में ऐसा समय आता है जब कि वह जलबिंदुओं को सोखने में असमर्थ होकर उनसे भीग जाता है और उसमें डाले हुए

जलकण समूह रूप में इकट्ठे होकर दिखाई देने लगते हैं। शराव की आर्द्रता पहले पहल जब मालूम होती है इसके पूर्व में भी शराव में जल था पर उसने इस कदर जल को सोख लिया था कि उसमें जल बिलकुल तिरोभूत हो जाने से वह दृष्टि में आने लायक नहीं था, पर उस शराब में वह था अवश्य। जब जल की मात्रा बढ़ी और शराव की सोखने की शक्ति कम हुई तब कहीं आर्द्रता दिखाई देने लगी और जो जल प्रथम शराव के पेट में नहीं समा गया था वही अब उसके ऊपर के तल में इकट्ठा होने लगा और दिखलाई दिया। इसी तरह जब किसी सुषुप्त व्यक्ति को पुकारा जाता है तब वह शब्द उसके कान में गायब सा हो जाता है। दो चार बार पुकारने से उसके कान में जब पौद्गलिक शब्दों की मात्रा काफी रूप में भर जाती है तब जलकणों से पहले पहल आर्द्र होने वाले शराव की तरह उस सुषुप्त व्यक्ति के कान भी शब्दों से परिपूरित होकर उनको सामान्य रूप से जानने में समर्थ होते हैं कि 'यह क्या है' यही सामान्य ज्ञान है जो शब्द को पहले पहल स्फुटतया जानता है। इसके बाद विशेष ज्ञान का क्रम शुरू होता है। अर्थात् जैसे कुछ काल तक जलबिंदु पड़ते रहने ही से रूक्ष शराव क्रमशः आर्द्र बन जाता है और उसमें जल दिखाई देता है, वैसे ही कुछ काल तक शब्दपुद्गलों का संयोग होते रहने से सुषुप्त व्यक्ति के कान परिपूरित हो कर उन शब्दों को सामान्य रूप में जान पाते हैं और पीछे शब्दों की विशेषताओं को जानते हैं। यद्यपि यह क्रम सुषुप्त की तरह जागृत व्यक्ति में भी बराबर लागू पड़ता है पर वह इतना शीघ्रभावी होता है कि साधारण लोगों के ध्यान में मुश्किल से आता है। इसीलिए शराव के साथ सुषुप्त का साम्य दिखलाया जाता है।

पटुक्रम की ज्ञानधारा के लिए दर्पण का दृष्टान्त ठीक है। जैसे दर्पण के सामने कोई वस्तु आई की तुरन्त ही उसका उसमें प्रतिबिंब पड़

जाता है और वह दिखाई देता है। इसके लिए दर्पण के साथ प्रतिबिंबित वस्तु के साक्षात् संयोग की जरूरत नहीं है, जैसे कि कान के साथ शब्दों के साक्षात् संयोग की। सिर्फ प्रतिबिंबग्राही दर्पण और प्रतिबिंबित होनेवाली वस्तु का योग्य देश में सन्निधान आवश्यक है। ऐसा सन्निधान होते ही प्रतिबिंब पड़ जाता है और वह तुरन्त ही दीख पड़ता है। इसी तरह नेत्र के सामने कोई रंगवाली वस्तु आई कि तुरन्त ही वह सामान्य रूप में दिखाई देती है। इसके लिए नेत्र और उस वस्तु का संयोग अपेक्षित नहीं है, जैसा कि कान और शब्द का संयोग अपेक्षित है। सिर्फ दर्पण की तरह नेत्र का और उस वस्तु का योग्य सन्निधान चाहिए इसीसे पटुक्रम में पहले पहल अर्थावग्रह माना गया है।

मन्दक्रमिक ज्ञानधारा में व्यञ्जनावग्रह को स्थान है और पटुक्रमिक ज्ञानधारा में नहीं। इसलिए यह प्रश्न होता है कि व्यञ्जनावग्रह किस किस इन्द्रिय से होता है और किस किस से नहीं? इसीका उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। नेत्र और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता क्योंकि ये दोनों संयोग बिना ही क्रमशः किये हुए योग्य सन्निधान मात्र से और अवधान से अपने अपने ग्राह्य विषय को जान पाते हैं। यह कौन नहीं जानता कि दूर, दूरतरवर्ती वृक्ष पर्वत आदि को नेत्र ग्रहण कर लेता है और मन सुदूरवर्ती वस्तु का भी चिन्तन कर लेता है। इसीसे नेत्र तथा मन अप्राप्यकारी माने गए हैं और उनसे होने वाली ज्ञानधारा को पटुक्रमिक कहा है। कर्ण, जिह्वा, घ्राण और स्पर्शन ये चार इन्द्रियाँ मन्दक्रमिक ज्ञानधारा की कारण हैं। क्योंकि ये चारों प्राप्यकारी अर्थात् ग्राह्य विषयों से संयुक्त होकर ही उनको ग्रहण करती हैं। यह सबका अनुभव है कि जब तक शब्द कान में न पड़े, शक्कर जीभ से न लगे, पुष्प का रजःकण नाक में न घुसे और जल शरीर को न छूए तब तक न तो शब्द ही सुनाई देगा, न शक्कर का ही स्वाद आएगा, न फूल की सुगंध ही मालूम देगी और न जल ही ठंडा या गरम जान पड़ेगा।

प्र०—मतिज्ञान के कुल भेद कितने हैं?

उ०—३३६।

प्र०—कैसे?

उ०—पाँच इन्द्रियाँ और मन इन सबके अर्थावग्रह आदि चार चार भेद गिनने से चौबीस तथा उनमें चार प्राप्यकारी इन्द्रियों के चार व्यञ्जनावग्रह जोड़ने से अट्ठाईस। इन सबके बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध आदि बारह बारह भेद गिनने से ३३६ हुए। यह भेद की गिनती स्थूल दृष्टि से है। वास्तविक रूप में देखा जाय तो प्रकाश आदि की स्फुटता, अस्फुटता, विषयों की विविधता और क्षयोपशम की विचित्रता के आधार पर तरतम-भाव वाले असंख्य भेद होते हैं।

प्र०—पहले जो बहु, अल्प आदि बारह भेद कहे हैं वे विषयगत विशेषों में ही लागू पड़ते हैं; और अर्थावग्रह का विषय तो सामान्य मात्र है। इससे वे अर्थावग्रह में कैसे घट सकते हैं?

उ०—अर्थावग्रह दो प्रकार का माना गया है: व्यावहारिक और नैश्चयिक। बहु, अल्प आदि जो बारह भेद कहे गये हैं वे प्रायः व्यावहारिक अर्थावग्रह के ही समझने चाहिएँ, नैश्चयिक के नहीं। क्योंकि नैश्चयिक अर्थावग्रह में जाति-गुण-क्रिया शून्य सामान्य मात्र प्रतिभासित होता है। इसलिए उसमें बहु, अल्प आदि विशेषों का ग्रहण संभव ही नहीं।

प्र०—व्यावहारिक और नैश्चयिक में क्या अन्तर है?

उ०—जो अर्थावग्रह पहले पहल सामान्यमात्र को ग्रहण करता है वह नैश्चयिक और जिस जिस विशेषग्राही अवायज्ञान के बाद अन्यान्य विशेषों की जिज्ञासा और अवाय होते रहते हैं वे सामान्य-विशेषग्राही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह हैं, वही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह नहीं है

जिसके बाद अन्य विशेषों की जिज्ञासा न हो। अन्य सभी अवायज्ञान जो अपने बाद नये नये विशेषों की जिज्ञासा पैदा करते हैं वे व्यावहारिक अर्थावग्रह हैं।

प्र०—अर्थावग्रह के बहु, अल्प आदि उक्त बारह भेदों के सम्बन्ध में जो यह कहा गया कि वे भेद व्यावहारिक अर्थावग्रह के लेने चाहिएँ, नैश्चयिक के नहीं। इस पर प्रश्न होता है कि यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो फिर उक्त रीति से मतिज्ञान के ३३६ भेद कैसे हो सकेंगे? क्योंकि अट्ठाईस प्रकार के मतिज्ञान के बारह बारह भेद गिनने से ३३६ भेद होते हैं और अट्ठाईस प्रकार में तो चार व्यञ्जनावग्रह भी आते हैं, जो नैश्चयिक अर्थावग्रह के भी पूर्ववर्ती होने से अत्यन्त अव्यक्तरूप हैं। इसलिए उनके बारह बारह-कुल अड़तालीस भेद निकाल देने पड़ेंगे।

उ०—अर्थावग्रह में तो व्यावहारिक को लेकर उक्त बारह भेद स्पष्टतया घटाए जा सकते हैं। इसलिए स्थूल दृष्टि से वैसा उत्तर दिया गया है। वास्तव में नैश्चयिक अर्थावग्रह और उसके पूर्ववर्ती व्यञ्जनावग्रह के भी बारह बारह भेद समझ लेने चाहिएँ। सो कार्यकारण की समानता के सिद्धांत पर अर्थात् व्यावहारिक अर्थावग्रह का कारण नैश्चयिक अर्थावग्रह है और उसका कारण व्यञ्जनावग्रह है। अब यदि व्यावहारिक अर्थावग्रह में स्पष्टरूप से बहु, अल्प आदि विषयगत विशेषों का प्रतिभास होता है तो उसके साक्षात् कारणभूत नैश्चयिक अर्थावग्रह और व्यवहित कारण व्यञ्जनावग्रह में भी उक्त विशेषों का प्रतिभास मानना पड़ेगा, यद्यपि वह प्रतिभास अस्फुट होने से दुर्ज्ञेय है। अस्फुट हो या स्फुट यहाँ सिर्फ संभव की अपेक्षा से उक्त बारह बारह भेद गिनने चाहिएँ। १८, १९।

श्रुतज्ञान का स्वरूप और उसके भेद—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् । २० ।

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। वह दो प्रकारका, अनेक प्रकार का और बारह प्रकार का है।

मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य है, क्योंकि मतिज्ञान से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसीसे उसको मतिपूर्वक कहा है। जिस विषय का श्रुतज्ञान करना हो उस विषय का मतिज्ञान पहले अवश्य होना चाहिए। इसीसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का पालन और पूरण करनेवाला कहलाता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का कारण है पर वह बहिरङ्ग कारण है, अन्तरङ्ग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। क्योंकि किसी विषय का मतिज्ञान हो जाने पर भी यदि उक्त क्षयोपशम न हो तो उस विषय का श्रुतज्ञान नहीं हो सकता।

प्र०—मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में भी इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित है फिर दोनों में अन्तर क्या है? जब तक दोनों का भेद स्पष्टतया न जाना जाय तब तक 'श्रुतज्ञान मतिपूर्वक है' यह कथन कोई खास अर्थ नहीं रखता। इसी तरह मतिज्ञान का कारण मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और श्रुतज्ञान का कारण श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है। इस कथन से भी दोनों का भेद ध्यान में नहीं आता क्योंकि क्षयोपशम भेद साधारण बुद्धिगम्य नहीं है।

उ०—मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, विद्यमान तथा भावी इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। इस विषय-कृत भेद के सिवा दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख[1] नहीं होता और श्रुतज्ञान में होता है। अतएव दोनों का फलित लक्षण यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख सहित है वह श्रुतज्ञान है; और जो शब्दोल्लेख रहित है वह मतिज्ञान है। सारांश यह है

---

१ शब्दोल्लेख का मतलब व्यवहारकाल में शब्द शक्तिग्रह जन्यत्व से

कि दोनों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा होने पर भी समान मति की अपेक्षा श्रुत का विषय अधिक है और स्पष्टता भी अधिक है। क्योंकि श्रुत में मनोव्यापार की प्रधानता होने से विचारांश अधिक व स्पष्ट होता है और पूर्वापर का अनुसंधान भी रहता है। अथवा दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि इन्द्रिय तथा मनोजन्य एक दीर्घ ज्ञानव्यापार का प्राथमिक अपरिपक्व अंश मतिज्ञान और उत्तरवर्ती परिपक्व व स्पष्ट अंश श्रुतज्ञान है। अतः यों भी कहा जाता है कि जो ज्ञान भाषा में उतारा जा सके वह श्रुतज्ञान और जो ज्ञान भाषा में उतारने लायक परिपाक को प्राप्त न हो वह मतिज्ञान। अगर श्रुतज्ञान को खीर कहें तो मतिज्ञान को दूध कहना चाहिए।

प्र०—श्रुत के दो, अनेक और बारह प्रकार कहे सो कैसे ?

उ०—अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट रूप से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। इनमें से अङ्गबाह्य श्रुत उत्कालिक-कालिक भेद से अनेक प्रकार का है। और अङ्गप्रविष्ट श्रुत आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि रूप से बारह प्रकार का है।

प्र०—अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट का अन्तर किस अपेक्षा से है ?

उ०—वक्तृभेद की अपेक्षा से। तीर्थङ्करों द्वारा प्रकाशित ज्ञान को उनके परम मेधावी साक्षात् शिष्य गणधरों ने ग्रहण करके जो द्वादशाङ्गीरूप में सूत्रबद्ध किया वह अङ्गप्रविष्ट; और कालदोषकृत बुद्धि, बल और आयु की कमी को देखकर सर्वसाधारण के हित के लिए उसी द्वादशाङ्गी में से भिन्न भिन्न विषयों पर गणधरों के पश्चाद्वर्ती शुद्धबुद्धि आचार्यों ने जो शास्त्र रचे वे अङ्गबाह्य; अर्थात् जिस शास्त्र के रचयिता

है अर्थात् जैसे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के समय संकेत, स्मरण और श्रुतग्रंथ का अनुसरण अपेक्षित है वैसे ईहा आदि मतिज्ञान की उत्पत्ति में अपेक्षित नहीं है।

गणधर हैं वह अङ्गप्रविष्ट और जिसके रचयिता अन्य आचार्य हैं, वह अङ्गबाह्य।

प्र०—बारह अङ्ग कौन से हैं? और अनेकविध अङ्गबाह्य में मुख्यतया कौन कौन प्राचीन ग्रन्थ गिने जाते हैं?

उ०—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह अङ्ग हैं। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छ आवश्यक तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित[1] आदि शास्त्र अङ्गबाह्य में सम्मिलित हैं।

प्र०—ये भेद तो ज्ञान को व्यवस्थितरूप में संगृहीत करने वाले शास्त्रों के भेद हैं, तो फिर क्या शास्त्र इतने ही हैं?

उ०—नहीं। शास्त्र अनेक थे, अनेक हैं, अनेक बनते हैं और आगे भी अनेक बनेंगे वे सभी श्रुत-ज्ञानान्तर्गत ही हैं। यहाँ सिर्फ वे ही गिनाए हैं जिनके ऊपर प्रधानतया जैन शासन का दारोमदार है। परन्तु उनके अतिरिक्त और भी अनेक शास्त्र बने हैं और बनते जाते हैं। इन सभी को अङ्गबाह्य में सम्मिलित कर लेना चाहिए। शर्त इतनी ही है कि वे शुद्ध-बुद्धि और समभाव पूर्वक रचे गए हों।

प्र०—आजकल जो विविध विज्ञान विषयक तथा काव्य, नाटक आदि लौकिक विषयक अनेक शास्त्र बनते जाते हैं क्या वे भी श्रुत हैं?

उ०—अवश्य, वे भी श्रुत हैं।

प्र०—तब तो वे भी श्रुतज्ञान होने से मोक्ष के लिए उपयोगी हो सकेंगे?

---

१ प्रत्येक बुद्ध आदि ऋषियों द्वारा जो कथन किया गया हो वह ऋषि-भाषित। जैसे—उत्तराध्ययन का आठवाँ कापिलीय अध्ययन इत्यादि।

उ०—मोक्ष में उपयोगी बनना या न बनना यह किसी शास्त्र का नियत स्वभाव नहीं है पर उसका आधार अधिकारी की योग्यता पर है। अगर अधिकारी योग्य और मुमुक्षु है तो लौकिक शास्त्रों को भी मोक्ष में उपयोगी बना सकता है और अधिकारी पात्र न हो तो वह आध्यात्मिक कहे जाने वाले शास्त्रों से भी अपने को नीचे गिराता है। तथापि विषय और प्रणेता की योग्यता की दृष्टि से लोकोत्तर श्रुत का विशेषत्व अवश्य है।

प्र०—श्रुत यह ज्ञान है, फिर भाषात्मक शास्त्रों को या वे जिन पर लिखे जाते हैं उन काग़ज़ आदि को श्रुत क्यों कहा जाता है ?

उ०—उपचार से; असल में श्रुत तो ज्ञान ही है। पर ऐसा ज्ञान प्रकाशित करने का साधन भाषा है और भाषा भी ऐसे ज्ञान से ही उत्पन्न होती है तथा काग़ज़ आदि भी उस भाषा को लिपिबद्ध करके व्यवस्थित रखने के साधन हैं। इसी कारण भाषा या काग़ज़ आदि को उपचार से श्रुत कहा जाता है। २०।

अवधिज्ञान के प्रकार और उनके स्वामी—

द्विविधोऽवधिः २१

तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्। २२।

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्ः । २३ ।

अवधिज्ञान दो प्रकार का है। उन दो में से भवप्रत्यय नारक और देवों को होता है।

यथोक्तनिमित्त—क्षयोपशमजन्य अवधि छ प्रकार का है। जो शेष अर्थात् तिर्यञ्च तथा मनुष्यों को होता है।

अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ऐसे दो भेद हैं। जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है वह भवप्रत्यय अर्थात् जिसके आविर्भाव के लिए व्रत, नियम आदि अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है, वह जन्मसिद्ध अवधिज्ञान भवप्रत्यय कहलाता है। और जो अवधिज्ञान जन्मसिद्ध नहीं

है किन्तु जन्म लेने के बाद व्रत, नियम आदि गुणों के अनुष्ठान के बल से प्रकट किया जाता है वह गुणप्रत्यय या क्षयोपशमजन्य कहलाता है।

प्र०—क्या भवप्रत्यय अवधिज्ञान क्षयोपशम के बिना ही उत्पन्न होता है?

उ०—नहीं, उसके लिए भी क्षयोपशम तो अपेक्षित ही है।

प्र०—तब तो भवप्रत्यय भी क्षयोपशमजन्य ही ठहरा। फिर भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इन दोनों में क्या अन्तर है?

उ०—कोई भी अवधिज्ञान हो, वह योग्य क्षयोपशम के बिना हो ही नहीं सकता। इसलिए अवधि-ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तो अवधिज्ञान मात्र का साधारण कारण है। इस तरह क्षयोपशम सबका समान कारण होने पर भी किसी अवधिज्ञान को भवप्रत्यय और किसी को क्षयोपशमजन्य—गुणप्रत्यय कहा है, सो क्षयोपशम के आविर्भाव के निमित्तभेद की अपेक्षा से समझना चाहिए। देहधारियों की कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनमें जन्म लेते ही योग्य क्षयोपशम और तद्द्वारा अवधिज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। अर्थात् उन जाति वालों को अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए उस जन्म में कोई तप आदि अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। अतएव ऐसी जातिवाले सभी जीवों को न्यूनाधिक रूप में जन्म-सिद्ध अवधिज्ञान अवश्य होता है और वह जीवन पर्यन्त रहता है। इसके विपरीत कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें जन्म लेने के साथ ही अवधिज्ञान प्राप्त होने का नियम नहीं है। ऐसी जाति वालों को अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए तप आदि गुणों का अनुष्ठान करना आवश्यक है। अतएव ऐसी जाति वाले सभी जीवों में अवधिज्ञान संभव नहीं होता। सिर्फ उन्हीं में होता है जिन्होंने उस ज्ञान के लायक गुण पैदा किये हों। इसीसे क्षयोपशम रूप अन्तरङ्ग कारण समान होने पर भी उसके लिए किसी जाति में सिर्फ जन्म की और किसी जाति में तप आदि गुणों की अपेक्षा होने से

सुभीते की दृष्टि से अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ऐसे दो नाम रक्खे गए हैं।

देहधारी जीवों के चार वर्ग किये हैं: नारक, देव, तिर्यञ्च और मनुष्य। इनमें से पहले दो वर्गवाले जीवों में भवप्रत्यय अर्थात् जन्म से ही अवधि-ज्ञान होता है और पिछले दो वर्गवालों में गुणप्रत्यय अर्थात् गुणों से अवधि-ज्ञान होता है।

प्र०—जब सभी अवधिज्ञान वाले देहधारी ही हैं तब ऐसा क्यों है कि किसी को तो प्रयत्न किये बिना ही जन्म से वह प्राप्त हो और किसी को उसके लिए खास प्रयत्न करना पड़े?

उ०—कार्य की विचित्रता अनुभवसिद्ध है। यह कौन नहीं जानता कि पक्षीजाति में जन्म लेने ही से आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और इसके विपरीत मनुष्य जाति में जन्म लेने मात्र से कोई आकाश में उड़ नहीं सकता जब तक कि विमान आदि का सहारा न लिया जाय। अथवा जैसे—कितनों में काव्यशक्ति जन्मसिद्ध होती है और दूसरे कितनों को वह प्रयत्न किये बिना प्राप्त ही नहीं होती।

तिर्यञ्च और मनुष्य में पाये जाने वाले अवधिज्ञान के छह भेद बत-लाए गये हैं। वे ये हैं: आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

१. जैसे जिस स्थान में वस्त्र आदि किसी वस्तु को रंग लगाया हो उस स्थान से उसे हटा लेने पर भी उसका रंग कायम ही रहता है वैसे ही जो अवधिज्ञान उसके उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़ कर दूसरी जगह चले जाने पर भी क़ायम रहता है वह आनुगामिक है।

२. जैसे किसी का ज्योतिष-ज्ञान ऐसा होता है कि जिससे वह प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर अमुक स्थान में ही दे सकता है, दूसरे स्थान में नहीं;

वैसे ही जो अवधिज्ञान उसके उत्पत्ति स्थान को छोड़ देने पर क़ायम नहीं रहता वह अनानुगामिक है।

३. जैसे दियासलाई या अरणि आदि से पैदा होने वाली आग की चिनगारी बहुत छोटी होने पर भी अधिक अधिक सूखे ईंधन आदि को पाकर क्रमशः बढ़ती है वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्तिकाल में अल्प विषयक होने पर भी परिणाम शुद्धि बढ़ने के साथ ही क्रमशः अधिक अधिक विषयक होता जाता है वह वर्धमान है।

४. जैसे परिमित दाह्य वस्तुओं में लगी हुई आग नया दाह्य न मिलने से क्रमशः घटती ही जाती है वैसे जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के समय अधिक विषय होने पर भी परिणाम शुद्धि कम हो जाने से क्रमशः अल्प अल्प विषयक होता जाता है वह हीयमान है।

५. जैसे किसी प्राणी को एक जन्म में प्राप्त हुआ पुरुष आदि वेद या दूसरे अनेक तरह के शुभ-अशुभ संस्कार उसके साथ दूसरे जन्म में जाते हैं या आजन्म क़ायम रहते हैं, वैसे ही जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में क़ायम रहता है या केवल ज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त किंवा आजन्म ठहरता है वह अवस्थित है।

६. जलतरङ्ग की तरह जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत होता है और कभी तिरोहित हो जाता है वह अनवस्थित है।

यद्यपि तीर्थङ्कर मात्र को तथा किसी अन्य मनुष्य को भी अवधिज्ञान जन्मसिद्ध प्राप्त होता है, तथापि उसे गुणप्रत्यय ही समझना चाहिए। क्योंकि योग्य गुण न होने पर वह अवधिज्ञान आजन्म क़ायम नहीं रहता, जैसा कि देव या नरकगति में रहता है[1]। २१,२२,२३।

मनःपर्याय के भेद और उनका अन्तर–

---

१ देखो अ० २, सू० ६।

ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः । २४ ।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः । २५ ।

ऋजुमति और विपुलमति ये दो मनःपर्याय हैं ।

विशुद्धि से और पुनःपतन के अभाव से उन दोनों का अन्तर है।

मनवाले-संज्ञी—प्राणी किसी भी वस्तु का चिन्तन मन से करते हैं। चिन्तन के समय चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार चिन्तनकार्य में प्रवृत्त मन भिन्न भिन्न आकृतियों को धारण करता रहता है। वे आकृतियाँ ही मन के पर्याय हैं और उन मानसिक आकृतियों को साक्षात् जाननेवाला ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान है। इस ज्ञान के बल से चिन्तनशील मन की आकृतियाँ जानी जाती हैं पर चिन्तनीय वस्तुएँ नहीं जानी जा सकतीं।

प्र०—तो फिर क्या चिन्तनीय वस्तुओं को मनःपर्याय ज्ञानी जान नहीं सकता ?

उ०—जान सकता है, पर पीछे से अनुमान द्वारा ।

प्र०—सो कैसे ?

उ०—जैसे कोई मानसशास्त्र का अभ्यासी किसी का चेहरा या हाव-भाव प्रत्यक्ष देखकर उसके आधार पर उस व्यक्ति के मनोगत भावों और सामर्थ्य का ज्ञान अनुमान से करता है वैसे ही मनःपर्याय-ज्ञानी मनःपर्याय-ज्ञान से किसी के मन की आकृतियों को प्रत्यक्ष देखकर बाद में अभ्यासवश ऐसा अनुमान कर लेता है कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिन्तन किया; क्योंकि इसका मन उस वस्तु के चिन्तन के समय अवश्य होनेवाली अमुक प्रकार की आकृतियों से युक्त है।

प्र०—ऋजुमति और विपुलमति का क्या अर्थ है ?

उ०—जो विषय को सामान्य रूप से जानता है वह ऋजुमति मनः पर्याय और जो विशेष रूप से जानता है वह विपुलमतिमनःपर्याय है।

प्र०—जब ऋजुमति सामान्यग्राही है तब तो वह दर्शन ही हुआ, उसे ज्ञान क्यों कहते हो ?

उ०—वह सामान्यग्राही है—इसका मतलब इतना ही है कि वह विशेषों को जानता है, पर विपुलमति जितने विशेषों को नहीं जानता।

ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मनःपर्याय ज्ञान विशुद्धतर होता है; क्योंकि वह ऋजुमति की अपेक्षा सूक्ष्मतर और अधिक विशेषों को स्फुटतया जान सकता है। इसके सिवा दोनों में यह भी अन्तर है कि ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कदाचित् चला भी जाता है, पर विपुलमति चला नहीं जाता; वह केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त अवश्य बना रहता है। २४, २५।

अवधि और मनःपर्याय का अन्तर—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः । २६ ।

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय द्वारा अवधि और मनःपर्याय का अन्तर जानना चाहिए।

यद्यपि अवधि और मनःपर्याय ये दोनों पारमार्थिक विकल—अपूर्ण प्रत्यक्ष रूप से समान हैं तथापि दोनों में कई प्रकार से अन्तर है। जैसे विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत, स्वामिकृत और विषयकृत। १. मनःपर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत विशद रूप से जानता है इसलिए उससे विशुद्धतर है। २. अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है और मनःपर्यायज्ञान का क्षेत्र तो मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त ही है। ३. अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति वाले हो सकते हैं, पर मनःपर्याय के स्वामी सिर्फ संयत मनुष्य हो सकते हैं। ४. अवधि का विषय कतिपय पर्याय सहित रूपी द्रव्य है, पर मनःपर्याय का विषय तो सिर्फ उसका अनन्तवाँ भाग है अर्थात् मात्र मनोद्रव्य है।

---

१ देखो आगे सूत्र २९।

प्र०—विषय कम होने पर भी मनःपर्याय अवधि से विशुद्धतर माना गया, सो कैसे ?

उ०—विशुद्धि का आधार विषय की न्यूनाधिकता पर नहीं है किन्तु विषयगत न्यूनाधिक सूक्ष्मताओं को जानने पर है। जैसे दो व्यक्तियों में से एक ऐसा हो जो अनेक शास्त्रों को जानता हो और दूसरा सिर्फ एक शास्त्र को; तो भी अगर अनेक शास्त्रज्ञ की अपेक्षा एक शास्त्र जानने वाला व्यक्ति अपने विषय की सूक्ष्मताओं को अधिक जानता हो तो उसका ज्ञान पहले की अपेक्षा विशुद्ध कहलाता है। वैसे ही विषय अल्प होने पर भी उसकी सूक्ष्मताओं को अधिक जानने के कारण मनःपर्याय अवधि से विशुद्धतर कहा जाता है। २६।

पाँचों ज्ञानों के ग्राह्य विषय—

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु । २७ ।

रूपिष्ववधेः । २८ ।

तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य । २९ ।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । ३० ।

मति और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति—ग्राह्यता सर्व पर्याय रहित अर्थात् परिमित पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

अवधिज्ञान की प्रवृत्ति सर्व पर्याय रहित सिर्फ रूपी—मूर्त्त द्रव्यों में होती है।

मनःपर्यायज्ञान की प्रवृत्ति उस रूपी द्रव्य के सर्व पर्याय रहित अनन्तवें भाग में होती है।

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सभी द्रव्यों में और सभी पर्यायों में होती है।

मति और श्रुतज्ञान के द्वारा रूपी, अरूपी सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं पर पर्याय उनके कुछ ही जाने जा सकते हैं, सब नहीं।

प्र०—उक्त कथन से जान पड़ता है कि मति और श्रुत के ग्राह्य विषयों में न्यूनाधिकता है ही नहीं, सो क्या ठीक है ?

उ०—द्रव्यरूप ग्राह्य की अपेक्षा से तो दोनों के विषयों में न्यूनाधिकता नहीं है। पर पर्याय रूप ग्राह्य की अपेक्षा से दोनों के विषयों में न्यूनाधिकता अवश्य है। ग्राह्य पर्यायों की कमी-बेशी होने पर भी समानता सिर्फ इतनी है कि वे दोनों ज्ञान द्रव्यों के परिमित पर्यायों को ही जान सकते हैं संपूर्ण पर्यायों को नहीं। मतिज्ञान वर्तमानग्राही होने से इन्द्रियों की शक्ति और आत्मा की योग्यता के अनुसार द्रव्यों के कुछ कुछ वर्तमान पर्यायों को ही ग्रहण कर सकता है; पर श्रुतज्ञान त्रिकालग्राही होने से तीनों काल के पर्यायों को थोड़े बहुत प्रमाण में ग्रहण कर सकता है।

प्र०—मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों से पैदा होता है और वे इन्द्रियाँ सिर्फ मूर्त्त द्रव्य को ही ग्रहण करने का सामर्थ्य रखती हैं। फिर मतिज्ञान के ग्राह्य सब द्रव्य कैसे माने गए ?

उ०—मतिज्ञान इन्द्रियों की तरह मन से भी होता है; और मन स्वानुभूत या शास्त्रश्रुत सभी मूर्त्त, अमूर्त्त द्रव्यों का चिन्तन करता है। इसलिए मनोजन्य मतिज्ञान की अपेक्षा से मतिज्ञान के ग्राह्य सब द्रव्य मानने में कोई विरोध नहीं है।

प्र०—स्वानुभूत या शास्त्रश्रुत विषयों में मन के द्वारा मतिज्ञान भी होगा और श्रुतज्ञान भी, तब दोनों में फ़र्क़ क्या रहा ?

उ०—जब मानसिक चिन्तन, शब्दोल्लेख सहित हो तब श्रुतज्ञान और जब उससे रहित हो तब मतिज्ञान।

परम प्रकर्षप्राप्त परमावधि-ज्ञान जो अलोक में भी लोकप्रमाण असंख्यात खण्डों को देखने का सामर्थ्य रखता है वह भी सिर्फ मूर्त्त द्रव्यों का

साक्षात्कार कर सकता है, अमूर्तों का नहीं। इसी तरह वह मूर्त्त द्रव्यों के भी समग्र पर्यायों को नहीं जान सकता।

मनःपर्याय-ज्ञान भी मूर्त्त द्रव्यों का ही साक्षात्कार करता है पर अवधि-ज्ञान जितना नहीं। क्योंकि अवधिज्ञान के द्वारा सब प्रकार के पुद्गलद्रव्य ग्रहण किये जा सकते हैं; पर मनःपर्याय ज्ञान के द्वारा सिर्फ मनरूप बने हुए पुद्गल और भी वे मानुषोत्तर क्षेत्र के अन्तर्गत ही ग्रहण किये जा सकते हैं। इसीसे मनःपर्यायज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवाँ भाग कहा गया है। मनःपर्याय-ज्ञान भी कितना ही विशुद्ध क्यों न हो; पर अपने ग्राह्य द्रव्यों के संपूर्ण पर्यायों को जान नहीं सकता। यद्यपि मनः-पर्याय ज्ञान के द्वारा साक्षात्कार तो सिर्फ चिन्तनशील मूर्त्त मन का ही होता है; पर पीछे होनेवाले अनुमान से तो उस मन के द्वारा चिन्तन किये गये मूर्त्त, अमूर्त्त सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं।

मति आदि चारों ज्ञान कितने ही शुद्ध क्यों न हों, पर वे चेतनाशक्ति के अपूर्ण विकासरूप होने से एक भी वस्तु के समग्र भावों को जानने में असमर्थ हैं। यह नियम है कि जो ज्ञान किसी एक वस्तु के संपूर्ण भावों को जान सके वह सब वस्तुओं के संपूर्ण भावों को भी ग्रहण कर सकता है, वही ज्ञान पूर्णज्ञान कहलाता है; इसीको केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान चेतनाशक्ति के संपूर्ण विकास के समय प्रकट होता है। इसलिए इसके अपूर्णताजन्य भेद-प्रभेद नहीं हैं। कोई भी वस्तु या भाव ऐसा नहीं है जो इसके द्वारा प्रत्यक्ष न जाना जा सके। इसी कारण केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्य और सब पर्यायों में मानी गई है। २७–३०।

एक आत्मा में एक साथ पाये जानेवाले ज्ञानों का वर्णन–

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः। ३१।

एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार तक ज्ञान भजना से–अनियत रूप से होते हैं।

किसी आत्मा में एक साथ एक, किसी में दो, किसी में तीन और किसी में चार ज्ञान तक संभव है; पर पाँचों ज्ञान एक साथ किसी में नहीं होते। जब एक होता है तब केवलज्ञान समझना चाहिए; क्योंकि केवलज्ञान परिपूर्ण होने से उसके समय अन्य अपूर्ण कोई ज्ञान संभव ही नहीं। जब दो होते हैं तब मति और श्रुत; क्योंकि पाँच ज्ञान में से नियत सहचारी दो ज्ञान ये ही हैं। शेष तीनों एक दूसरे को छोड़कर भी रह सकते हैं। जब तीन ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत और अवधि ज्ञान या मति, श्रुत और मनःपर्याय ज्ञान। क्योंकि तीन ज्ञान अपूर्ण अवस्था में ही संभव हैं और उस समय चाहे अवधिज्ञान हो या मनःपर्यायज्ञान; पर मति और श्रुत–दोनों अवश्य होते हैं। जब चार ज्ञान होते हैं तब मति श्रुत, अवधि और मनःपर्याय; क्योंकि ये ही चारों ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी होने से एक साथ हो सकते हैं। केवलज्ञान का अन्य किसी ज्ञान के साथ साहचर्य इसलिए नहीं है कि वह पूर्ण अवस्थाभावी है और शेष सभी अपूर्ण अवस्थाभावी। पूर्णता तथा अपूर्णता का आपस में विरोध होने से दो अवस्थाएँ एक साथ आत्मा में नहीं होतीं। दो, तीन या चार ज्ञानों को एक साथ संभव कहा गया; सो शक्ति की अपेक्षा से, प्रवृत्ति की अपेक्षा से नहीं।

प्र०—इसका मतलब क्या?

उ०—जैसे मति और श्रुत–दो ज्ञानवाला या अवधि सहित तीन ज्ञानवाला कोई आत्मा जिस समय मतिज्ञान के द्वारा किसी विषय को जानने में प्रवृत्त हो उस समय वह अपने में श्रुत की शक्ति या अवधि की शक्ति होने पर भी उसका उपयोग करके तद्द्वारा उसके विषयों को जान नहीं सकता। इसी तरह वह श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति के समय मति या अवधि शक्ति को भी काम में ला नहीं सकता। यही बात मनःपर्याय की

शक्ति के विषय में समझनी चाहिए। सारांश यह है कि एक आत्मा में एक साथ अधिक से अधिक चार ज्ञान शक्तियाँ हों तब भी एक समय में कोई एक ही शक्ति अपना जानने का काम करती है। अन्य शक्तियाँ उस समय निष्क्रिय रहती हैं।

केवलज्ञान के समय मति आदि चारों ज्ञान नहीं होते। यह सिद्धान्त सामान्य होने पर भी उसकी उपपत्ति दो तरह से की जाती है–कोई आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञान के समय भी मति आदि चारों ज्ञान-शक्तियाँ होती हैं पर वे सूर्यप्रकाश के समय ग्रह, नक्षत्र आदि के प्रकाश की तरह केवलज्ञान की प्रवृत्ति से अभिभूत हो जाने के कारण अपना अपना ज्ञान रूप कार्य कर नहीं सकती। इसीसे शक्तियाँ होने पर भी केवलज्ञान के समय मति आदि ज्ञानपर्याय नहीं होते।

दूसरे आचार्यों का कथन है कि मति आदि चार ज्ञान शक्तियाँ आत्मा में स्वाभाविक नहीं है; किन्तु कर्म-क्षयोपशम रूप होने से औपाधिक अर्थात् कर्म सापेक्ष हैं। इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने पर–जब कि केवलज्ञान प्रकट होता है–उन औपाधिक शक्तियाँ संभव ही नहीं हैं। इसलिए केवलज्ञान के समय कैवल्यशक्ति के सिवा न तो अन्य कोई ज्ञानशक्तियाँ ही हैं और न उनका मति आदि ज्ञानपर्याय रूप कार्य ही। ३१।

विपर्ययज्ञान का निर्धारण और विपर्ययता के हेतु–

मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च । ३२ ।

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् । ३३ ।

मति, श्रुत और अवधि ये तीन विपर्यय–अज्ञानरूप भी हैं।

वास्तविक और अवास्तविक का अन्तर न जानने से यदृच्छोपलब्धि–विचारशून्य उपलब्धि के कारण उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है।

मति, श्रुत आदि पाँचों चेतनाशक्ति के पर्याय हैं। अपने अपने विषय को प्रकाशित करना उनका कार्य है। इसलिए वे सभी ज्ञान कहलाते हैं। परन्तु उनमें से पहले तीन, ज्ञान और अज्ञान रूप माने गए हैं। जैसे मतिज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुतज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अवधिज्ञान, अवधि-अज्ञान अर्थात् विभङ्गज्ञान।

प्र०—मति, श्रुत और अवधि ये तीन पर्याय अपने अपने विषय का बोध कराने के कारण जब ज्ञान कहलाते हैं तब उन्हीं को अज्ञान क्यों कहा जाता है? क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों शब्द परस्पर विरुद्ध अर्थ के वाचक होने से एक ही अर्थ में प्रकाश और अन्धकार शब्द की तरह लागू नहीं हो सकते।

उ०—उक्त तीनों पर्याय लौकिक संकेत के अनुसार तो ज्ञान ही हैं; परन्तु यहाँ जो उन्हें ज्ञान और अज्ञानरूप कहा जाता है सो शास्त्रीय संकेत के अनुसार। आध्यात्मिक शास्त्र का यह संकेत है कि मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अवधि ये तीनों ज्ञानात्मक पर्याय अज्ञान ही हैं और सम्यग्दृष्टि के उक्त तीनों पर्याय ज्ञान ही मानने चाहिएँ।

प्र०—यह संभव नहीं कि सिर्फ सम्यग्दृष्टि आत्मा प्रामाणिक व्यवहार चलाते हों और मिथ्यादृष्टि न चलाते हों। यह भी संभव नहीं कि सम्यग्दृष्टि को संशय-भ्रम रूप मिथ्याज्ञान बिलकुल न होता हो और मिथ्यादृष्टि को होता ही हो। यह भी मुमकिन नहीं कि इन्द्रिय आदि साधन सम्यग्दृष्टि के तो पूर्ण तथा निर्दोष ही हों और मिथ्यादृष्टि के अपूर्ण तथा दुष्ट ही हों। यह भी कौन कह सकता है कि विज्ञान, साहित्य आदि विषयों पर अपूर्व प्रकाश डालने वाले और उनका यथार्थ निर्णय करनेवाले सभी सम्यग्दृष्टि हैं। इसलिए यह प्रश्न होता है कि अध्यात्मशास्त्र के पूर्वोक्त ज्ञान-अज्ञान संबन्धी संकेत का आधार क्या है?

उ०—आध्यात्मिक शास्त्र का आधार आध्यात्मिक दृष्टि है, लौकिक दृष्टि नहीं। जीव दो प्रकार के हैं : मोक्षाभिमुख और संसाराभिमुख। मोक्षाभिमुख आत्मा में समभाव की मात्रा और आत्मविवेक होता है; इसलिए वे अपने सभी ज्ञानों का उपयोग समभाव की पुष्टि में ही करते हैं, सांसारिक वासना की पुष्टि में नहीं। यही कारण है कि चाहे लौकिक दृष्टि से उनका ज्ञान अल्प ही हो पर वह ज्ञान कहा जाता है। इसके विपरीत संसाराभिमुख आत्मा का ज्ञान लौकिक दृष्टि से कितना ही विशाल और स्पष्ट हो पर वह समभाव का पोषक न होकर जितने परिमाण में सांसारिक-वासना का पोषक होता है उतने ही परिमाण में अज्ञान कहलाता है। जैसे कभी उन्मत्त मनुष्य भी सोने को सोना और लोहे को लोहा जानकर यथार्थ ज्ञान लाभ कर लेता है पर उन्माद के कारण वह सत्य-असत्य का अन्तर जानने में असमर्थ होता है। इससे उसका सच्चा-झूठा सभी ज्ञान विचारशून्य या अज्ञान ही कहलाता है। वैसे ही संसाराभिमुख आत्मा कितना ही अधिक ज्ञानवाला क्यों न हो पर आत्मा के विषय में अंधेरा होने के कारण उसका सारा लौकिक ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही है।

सारांश, उन्मत्त मनुष्य को अधिक विभूति हो भी जाय और कभी वस्तु का यथार्थ बोध भी हो जाय तथापि उसका उन्माद ही बढ़ता है, वैसे ही मिथ्या-दृष्टि आत्मा जिसके राग-द्वेष की तीव्रता और आत्मा का अज्ञान होता है वह अपनी विशाल ज्ञानराशि का भी उपयोग सिर्फ सांसारिक वासना की पुष्टि में करता है। इसीसे उसके ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है। इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि आत्मा जिसमें राग-द्वेष की तीव्रता न हो और आत्मज्ञान हो वह अपने थोड़े भी लौकिक ज्ञान का उपयोग आत्मिक तृप्ति में करता है। इसलिए उसके ज्ञान को ज्ञान कहा है, यह आध्यात्मिक दृष्टि है। ३२, ३३।

नय के भेद–

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः । ३४ ।

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ । ३५ ।

नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पाँच नय हैं ।

आद्य अर्थात् पहले—नैगम के दो और शब्द के तीन भेद हैं ।

नय के भेदों की संख्या के विषय में कोई एक निश्चित परंपरा नहीं है । इनकी तीन परंपराएँ देखने में आती हैं । एक परंपरा तो सीधे तौर पर पहले से ही सात भेदों को मानती है; जैसे कि—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत । यह परंपरा जैनागमों और दिगम्बर ग्रन्थों की है । दूसरी परंपरा सिद्धसेन दिवाकर की है । वे नैगम को छोड़कर बाकी के छः भेदों को मानते हैं । तीसरी परंपरा प्रस्तुत सूत्र और उनके भाष्यगत है । इसके अनुसार नय के मूल पाँच भेद हैं और बाद में प्रथम नैगम नय के (भाष्य के अनुसार) देश-परिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी ऐसे दो तथा पाँचवें शब्द नय के सांप्रत, समभिरूढ और एवंभूत ऐसे तीन भेद हैं ।

नयों के निरूपण का भाव क्या है ?

किन्हीं भी एक या अनेक चीजों के बारे में एक या अनेक व्यक्तियों के विचार अनेक तरह के होते हैं । अर्थात् एक ही वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न विचारों की यदि गणना की जाए, तो वे अपरिमित प्रतीत होंगे । अतः तद्विषयक प्रत्येक विचार का बोध करना अशक्य हो जाता है । इसलिए उनका अतिसंक्षिप्त और अतिविस्तृत प्रतिपादन छोड़ करके मध्यम-मार्ग से प्रतिपादन करना—यही नयों का निरूपण है । नयों का निरूपण अर्थात् विचारों का वर्गीकरण । नयवाद का अर्थ है—विचारों की मीमांसा ।

नयवाद में सिर्फ विचारों के कारण, उनके परिणाम या उनके विषयों की ही चर्चा नहीं आती। किन्तु जो विचार परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं, और वास्तव में जिनका विरोध है नहीं—ऐसे विचारों के अविरोध के बीज की गवेषणा करना, यही इस वाद का मुख्य उद्देश्य है। अतः नयवाद की संक्षिप्त व्याख्या इस तरह हो सकती है कि—परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले विचारों के वास्तविक अविरोध के बीज की गवेषणा करके उन विचारों का समन्वय करने वाला शास्त्र। जैसे आत्मा के बारे में ही परस्पर विरुद्ध मन्तव्य मिलते हैं। किसी जगह 'आत्मा एक है' ऐसा कथन है, तो अन्यत्र 'अनेक है' ऐसा भी मिलता है। एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि—इन दोनों का यह विरोध वास्तविक है या नहीं? यदि वास्तविक नहीं, तो क्यों? इसका जवाब नयवाद ने ढूँढ़ निकाला है, और ऐसा समन्वय किया है कि—व्यक्ति रूप से देखा जाय तो आत्मतत्त्व अनेक हैं, किन्तु यदि शुद्ध चैतन्य की ओर दृष्टि दें, तब तो एक ही है। इस तरह का समन्वय करके नयवाद परस्पर विरोधी वाक्यों का भी अविरोध—एकवाक्यता सिद्ध करता है। इसी तरह आत्मा के विषय में परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले—नित्यत्व-अनित्यत्व, कर्तृत्व-अकर्तृत्व आदि मतों का भी अविरोध नयवाद से ही सिद्ध होता है। ऐसे अविरोध का बीज विचारक की दृष्टि—तात्पर्य—में ही है। इसी दृष्टि के लिए प्रस्तुत शास्त्र में 'अपेक्षा' शब्द है। अतः नयवाद अपेक्षावाद भी कहा जाता है।

नयवाद की देशना अलग क्यों, और उससे विशेषता कैसे?

प्रथम किए गए ज्ञान निरूपण में श्रुत[1] की चर्चा आ चुकी है। श्रुत विचारात्मक ज्ञान है और नय भी एक तरह का विचारात्मक ज्ञान होने से श्रुत में ही समा जाता है। इसीसे प्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रुत का

१. देखो अ० १ सू० २०।

निरूपण हो जाने के बाद नयों को उससे भिन्न करके नयवाद की देशना अलग क्यों की जाती है ? जैन तत्त्वज्ञान की एक विशेषता नयवाद के कारण मानी जाती है; लेकिन नयवाद तो श्रुत है, और श्रुत कहते हैं आगम प्रमाण को। जैनेतर दर्शनों में भी प्रमाण चर्चा और उसमें भी आगम-प्रमाण का निरूपण है ही। अतः सहज ही दूसरा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आगम-प्रमाण की चर्चा इतर दर्शनों में भी मौजूद है, तब आगम-प्रमाण में समाविष्ट ऐसे नयवाद की सिर्फ अलग देशना करने से ही जैन-दर्शन की तत्कृत विशेषता कैसे मानी जाय ? अथवा यों कहना चाहिए कि श्रुतप्रमाण के अतिरिक्त नयवाद की स्वतंत्र देशना करने में जैन-दर्शन के प्रवर्तकों का क्या उद्देश्य था ?

श्रुत और नय ये दोनों विचारात्मक ज्ञान तो हैं ही। फिर भी दोनों में फर्क यह है कि—किसी भी विषय को सर्वांश में स्पर्श करने वाला अथवा सर्वांश से स्पर्श करने का प्रयत्न करने वाला विचार श्रुत है और उसी विषय के किसी एक अंश को स्पर्श करके बैठ जानेवाला विचार नय है। इसी कारण नय को स्वतंत्र रूप से प्रमाण नहीं कह सकते फिर भी वह अप्रमाण नहीं है। जैसे अंगुली के अग्रभाग को अंगुली नहीं कह सकते, वैसे ही उसको 'अंगुली नहीं है' ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि वह अंगुली का अंश तो है ही। इसी तरह नय भी श्रुत प्रमाण का अंश है। विचार की उत्पत्ति का क्रम और तत्कृत व्यवहार—इन दो दृष्टियों से नय का निरूपण—श्रुत प्रमाण से भिन्न करके किया गया है। किसी भी वस्तु के विभिन्न अंशों के विचार ही अन्त में विशालता या समग्रता में परिणत होते हैं। विचार जिस क्रम से उत्पन्न होते हैं, उसी क्रम से तत्त्वबोध के उपायरूप से उनका वर्णन होना चाहिए। इस बात के मान लेने से ही स्वाभाविक तौर से नय का निरूपण श्रुत प्रमाण से अलग करना प्राप्त हो जाता है, और किसी एक

विषय का कितना भी समग्ररूप से ज्ञान हो तब भी व्यवहार में तो उस ज्ञान का उपयोग एक एक अंश को लेकर ही होता है। और इसीलिए समग्र विचारात्मक श्रुत से अंश विचारात्मक नय का निरूपण भिन्न करना प्राप्त होता है।

यद्यपि जैनेतर दर्शनों में आगम-प्रमाण की चर्चा है तथापि उसी प्रमाण में समाविष्ट ऐसे नयवाद की जो जैन-दर्शन ने जुदी प्रतिष्ठा की है, उसका कारण निम्नोक्त है; और यही कारण इसकी विशेषता के लिये पर्याप्त है। सामान्यतः मनुष्य की ज्ञानवृत्ति अधूरी होती है और अस्मिता–अभिनिवेश अत्यधिक होता है। फलतः जब वह किसी भी विषय में कुछ भी सोचता है, तब वह उसको ही अन्तिम व सम्पूर्ण मानने को प्रेरित होता है। और इसी प्रेरणा के वश वह दूसरे के विचारों को समझने की धीरज खो बैठता है। अन्ततः वह अपने आंशिक ज्ञान में ही संपूर्णता का आरोप कर लेता है। इस आरोप के कारण एक ही वस्तु के बारे में सच्चे लेकिन भिन्न-भिन्न विचार रखने वालों के बीच सामंजस्य नहीं रहता। फलतः पूर्ण और सत्य ज्ञान का द्वार बन्द हो जाता है।

आत्मा आदि किसी भी विषय में अपने आप्त पुरुष के आंशिक विचार को ही जब कोई एक दर्शन संपूर्ण मान कर चलता है तब वह विरोधी होने पर भी यथार्थ विचार रखने वाले दूसरे दर्शनों को अप्रमाणभूत कह कर उनकी अवगणना करता है। इसी तरह दूसरा दर्शन उसकी और फिर दोनों किसी तीसरे की अवगणना करते हैं। फलतः समता की जगह विषमता और विवाद खड़े हो जाते हैं। इसी से सत्य और पूर्ण ज्ञान का द्वार खोलने और विवाद दूर करने के लिए ही नयवाद की प्रतिष्ठा की गई है। और उससे यह सूचित किया गया है कि प्रत्येक विचारक को चाहिए कि अपने विचार को आगमप्रमाण कहने से पूर्व यह देख ले कि

वह विचार प्रमाण-कोटिमें आने योग्य सर्वांशी है या नहीं। ऐसी सूचना करना यही नयवाद के द्वारा जैन-दर्शन की विशेषता है।

सामान्य लक्षण — किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करने वाला विचार नय है।

संक्षेप में नय के दो भेद किये गए हैं: द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

जगत में छोटी या बड़ी सभी वस्तुएँ एक दूसरे से न तो सर्वथा असमान ही होती हैं न सर्वथा समान ही। इनमें समानता और असमानता— दोनों अंश बने रहते हैं। इसी से वस्तुमात्र सामान्य-विशेष—उभयात्मक है, ऐसा कहा जाता है। मनुष्य की बुद्धि कभी तो वस्तुओं के सामान्य अंश की ओर झुकती है और कभी विशेष अंश की ओर। जब वह सामान्य अंश को ग्रहण करती है, तब उसका वह विचार—द्रव्यार्थिक नय, और जब वह विशेष अंश को ग्रहण करती है, तब वही विचार पर्यायार्थिक नय कहलाता है। सभी सामान्य और विशेष दृष्टियाँ भी एक सी नहीं होतीं, उनमें भी अन्तर रहता है। इसी को बतलाने के लिए इन दो दृष्टियों के फिर संक्षेप में भाग किये गए हैं। द्रव्यार्थिक के तीन और पर्यायार्थिक के चार—इस तरह कुल सात भाग बनते हैं, और ये ही सात नय हैं। द्रव्यदृष्टि में विशेष—पर्याय, और पर्यायदृष्टि में द्रव्य—सामान्य आता ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह दृष्टिविभाग तो सिर्फ गौण-प्रधान भाव की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

प्र०—ऊपर कहे हुए दोनों नयों को सरल उदाहरणों से समझाइए।

उ०—कहीं भी, कभी भी और किसी भी अवस्था में रह कर समुद्र की तरफ दृष्टि डालने पर—जब जल के रंग, स्वाद, उसकी गहराई या छिछलापन, उसके विस्तार व सीमा इत्यादि विशेषताओं की ओर ध्यान

न आकर सिर्फ जल ही जल ध्यान में आता है, तब वह एक मात्र जल का सामान्य विचार कहलाता है; और यही जल विषयक द्रव्यार्थिक नय है।

इसके विपरीत जब रंग, स्वाद आदि विशेषताओं की ओर ध्यान जाय, तब वह विचार जल की विशेषताओं का होने से जलविषयक पर्यायार्थिक नय कहलाएगा।

जैसे जल के विषय में कहा गया है, वैसे ही दूसरी सभी भौतिक वस्तुओं के बारे में भी समझा जा सकता है। विभिन्न स्थलों में फैली हुई जल जैसी एक ही तरह की नाना वस्तुओं के विषय में जिस प्रकार सामान्य और विशेषात्मक विचार संभव हैं; वैसे ही भूत, वर्तमान और भविष्य इस त्रिकाल रूप अपार पट पर फैले हुए आत्मादि किसी एक पदार्थ के बारे में भी सामान्य और विशेषात्मक विचार सर्वथा संभव है। काल तथा अवस्था-भेद कृत चित्रों पर ध्यान न देकर जब केवल शुद्ध चैतन्य की ओर ही ध्यान जाता है, तब वह उसके विषय का द्रव्यार्थिक नय कहलाएगा। तथा चैतन्य की देश-कालादि कृत विविध दशाओं पर यदि ध्यान जाएगा, तब वह चैतन्य विषयक पर्यायार्थिक समझा जायगा।

विशेष भेदों का स्वरूप

१. जो विचार लौकिक रूढ़ि अथवा लौकिक संसार के अनुसरण में से पैदा होता है, वह नैगमनय है।

श्री उमास्वाति द्वारा सूचित नैगम के दो भेदों की व्याख्या इस प्रकार है:—घट-पट जैसे सामान्य बोधक नाम से जब एकाध घट-पट जैसी अर्थवस्तु ही विचार में ली जाती है तब वह विचार देश-परिक्षेपी नैगम कहलाता है, और जब उस नाम से विवक्षित होने वाले अर्थ की सारी जाति विचार में ली जाती है तब वह विचार सर्वपरिक्षेपी नैगम कहलाता है।

२. जो विचार भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं को तथा अनेक व्यक्तियों को किसी भी सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित कर लेता है, वह संग्रहनय है।

३. जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में संकलित वस्तुओं का व्यावहारिक प्रयोजन के अनुसार पृथक्करण करता है वह व्यवहारनय है।

इन तीनों नयों का उद्गम द्रव्यार्थिक की भूमिका में रहा हुआ है; अतः ये तीनों द्रव्यार्थिक प्रकृति वाले कहलाते हैं।

प्र०—शेष नयों की व्याख्या देने से पहले ऊपर के तीन नयों को ही उदाहरणों द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट कीजिए।

उ०—देश-काल एवं लोक-स्वभाव सम्बन्धी भेदों की विविधता के

नैगमनय

कारण लोक-रूढ़ियाँ तथा तज्जन्य संस्कार भी अनेक तरह के होते हैं, अतः उनसे उद्‌भूत नैगमनय भी अनेक तरह का होता है जिससे उसके उदाहरण विविध प्रकार के मिल जाते हैं; और वैसे ही दूसरे नये उदाहरण भी बनाए जा सकते हैं।

किसी काम के संकल्प से जाने वाले से कोई पूछता है कि—आप कहाँ जा रहे हैं? तब जवाब में वह कहता है कि—'मैं कुल्हाड़ी या कलम लेने जा रहा हूँ।'

जवाब देने वाला वास्तव में तो कुल्हाड़ी के हाथे के लिए लकड़ी अथवा कलम के लिए किलक लेने ही जा रहा है, तब भी वह ऊपर का ही जवाब देता है, और पूछने वाला भी चट से उसके मतलब को समझ लेता है; यह एक तरह की लोकरूढ़ि है।

जात-पाँत छोड़ कर भिक्षु बने हुए व्यक्ति का परिचय जब कोई पूर्वाश्रम के ब्राह्मण वर्ण द्वारा कराता है, तब भी 'यह ब्राह्मण श्रमण है' यह कथन तत्काल स्वीकार कर लिया जाता है। इसी तरह चैत्र शुक्ला नवमी व त्रयोदशी के दिनों के आते ही हजारों वर्ष पहले के रामचन्द्र व महावीर के जन्मदिन के रूप में उन दिनों को लोग मानते हैं। तथा उन्हें जन्मदिन

मान कर वैसे ही उत्सवादि भी मनाते हैं। यह भी एक तरह की लोक-रूढ़ि ही है।

जब कभी खास खास मनुष्य समूहरूप में लड़ने लगते हैं, तब दूसरे लोग उनकी निवास-भूमि को ही लड़ने वाली मान कर बहुधा कहने लगते हैं—'हिन्दुस्तान लड़ रहा है' 'चीन लड़ रहा है'—इत्यादि; ऐसे कथन का आशय सुनने वाले भी समझ लेते हैं।

इस प्रकार लोक-रूढ़ियों से पड़े हुए संस्कारों के कारण जो विचार उत्पन्न होते हैं, वे सभी नैगमनय के नाम से पहली श्रेणी में गिन लिये जाते हैं।

जड़, चेतन रूप अनेक व्यक्तियों में जो सद्रूप एक सामान्य तत्त्व है; उसी पर दृष्टि रखकर दूसरे विशेषों को ध्यान में न लाते हुए—सभी व्यक्तियों को एक रूप मान कर ऐसा विचार करना कि—संपूर्ण जगत सद्रूप है; क्योंकि सत्ता रहित कोई वस्तु है ही नहीं—वही संग्रहनय है। इसी तरह वस्त्रों की विविध किस्मों और भिन्न-भिन्न वस्त्रों की ओर लक्ष्य न देकर एक मात्र वस्त्र रूप सामान्य तत्त्व को ही दृष्टि में रखकर विचार करना कि—इस जगह सिर्फ वस्त्र है, इसीका नाम संग्रहनय है।

संग्रहनय

सामान्य तत्त्व के अनुसार तरतमभाव को लेकर संग्रहनय के अनन्त उदाहरण बन सकते हैं। जितना विशाल सामान्य होगा, संग्रहनय भी उतना ही विशाल समझना चाहिए। तथा जितना ही छोटा सामान्य होगा, संग्रहनय भी उतना ही संक्षिप्त होगा। सारांश यह है कि जो जो विचार सामान्य तत्त्व के आश्रय से विविध वस्तुओं का एकीकरण करके प्रवृत्त होते हैं, वे सभी संग्रहनय की श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं।

विविध वस्तुओं को एक रूप में संकलित करने के बाद भी जब उनका विशेष रूप में बोध कराना हो, या व्यवहार में उपयोग करने का

प्रसंग आवे; तब उनका विशेष रूप से भेद करके पृथक्करण करना पड़ता है।

व्यवहारनय — वस्त्र कहने मात्र से भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों का अलग अलग बोध नहीं हो सकता। जो सिर्फ खादी चाहता है, वह वस्त्रों का विभाग किये बिना उसे नहीं पा सकता, क्योंकि वस्त्र तो कई प्रकार के हैं। इसी से खादी का कपड़ा, मिल का कपड़ा इत्यादि भेद भी करने पड़ते हैं। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान के प्रदेश में सद्रूप वस्तु भी जड़ और चेतन रूप से दो प्रकार की है। चेतन तत्त्व भी संसारी और मुक्त रूप से दो प्रकार का है—इत्यादि रूप से पृथक्करण करना पड़ता है। ऐसे ऐसे पृथक्करणोन्मुख सभी विचार व्यवहारनय की श्रेणी में आते हैं।

ऊपर के उदाहरणों में देखा जा सकता है कि नैगमनय का आधार लोक-रूढ़ि है, लोक-रूढ़ि आरोप पर आश्रित है, और आरोप है—सामान्य-तत्त्वाश्रयी। ऐसा होने से नैगमनय सामान्यग्राही है, यह बात भी बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। संग्रहनय तो स्पष्टरूप से एकीकरण रूप बुद्धि-व्यापार होने से सामान्यग्राही है ही। व्यवहारनय में पृथक्करणोन्मुख बुद्धि-व्यापार होने पर भी उसकी क्रिया का आधार सामान्य होने से उसे भी सामान्यग्राही ही समझना चाहिए। इसी कारण ये तीनों नय द्रव्यार्थिक नय के भेद माने जाते हैं।

प्र०—इन तीनों नयों का पारस्परिक भेद और उनका संबन्ध क्या है?

उ०—नैगमनय का विषय सबसे अधिक विशाल है, क्योंकि वह सामान्य और विशेष—दोनों का ही लोक-रूढ़ि के अनुसार कभी तो गौण रूप से और कभी मुख्य रूप से अवलंबन करता है। सिर्फ सामान्यलक्षी होने से संग्रह का विषय नैगम से कम है, और व्यवहार का विषय तो संग्रह से भी कम है; क्योंकि वह संग्रह द्वारा संकलित विषय का ही खास खास विशेषताओं के आधार पर पृथक्करण करने वाला होने से सिर्फ विशेषगामी है।

इस तरह तीनों का विषय-क्षेत्र उत्तरोत्तर कम होने से इनका पारस्परिक पौर्वापर्य सम्बन्ध है। सामान्य, विशेष और उन दोनों के सम्बन्ध की प्रतीति नैगमनय कराता है। इसीमें से संग्रह का उद्भव होता है, और संग्रह की भित्ति पर ही व्यवहार का चित्र खींचा जाता है।

प्र०–पूर्वोक्त प्रकार से शेष चार नयों की व्याख्या कीजिए, उनके उदाहरण दीजिये, और दूसरी जानकारी कराइये।

उ०–१. जो विचार भूत और भविष्यत् काल का ख्याल न करके केवल वर्तमान को ही ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र है।

२. जो विचार शब्दप्रधान होता हुआ कितनेक शाब्दिक धर्मों की ओर झुक कर तदनुसार ही अर्थ-भेद की कल्पना करता है वह शब्दनय है।

श्री उमास्वाति द्वारा सूत्र में सूचित शब्दनय के तीन भेदों में से प्रथम भेद सांप्रत है। अर्थात् शब्द नय ऐसा सामान्य पद साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवंभूत इन तीनों भेदों को व्याप्त कर लेता है; परंतु प्रचलित सब परम्पराओं में साम्प्रत नामक पहले भेद में ही 'शब्दनय' यह सामान्य पद रूढ़ हो गया है और साम्प्रत नय पद का स्थान शब्द नय पद ने ले लिया है। इसलिए यहाँ पर सांप्रत नय की सामान्य व्याख्या नहीं दे कर आगे विशेष स्पष्टीकरण करते समय शब्द नय पद का ही व्यवहार किया है। और उसका जो स्पष्टीकरण किया है, उसे ही भाष्यकथित सांप्रत नय का स्पष्टीकरण समझना चाहिए।

३. जो विचार शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ-भेद की कल्पना करता है वह समभिरूढनय है।

४. जो विचार शब्द से फलित होने वाले अर्थ के घटने पर ही वस्तु को उस रूप में मानता है, अन्यथा नहीं वह एवंभूतनय है।

यद्यपि मनुष्य की कल्पना भूत और भविष्य की सर्वथा उपेक्षा करके नहीं चल सकती, तथापि मनुष्य की बुद्धि कई बार तात्कालिक परिणाम की ओर झुक कर सिर्फ वर्तमान में ही प्रवृत्ति करने लगती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य-बुद्धि ऐसा मानने लगती है कि जो उपस्थित है, वही सत्य है, वही कार्यकारी है, और भूत तथा भावी वस्तु वर्तमान में कार्य साधक न होने से शून्यवत् है। वर्तमान समृद्धि ही सुख का साधन होने से समृद्धि कही जा सकती है। लेकिन भूत-समृद्धि का स्मरण या भावी-समृद्धि की कल्पना वर्तमान में सुख को साधने वाली न होने से समृद्धि ही नहीं कही जा सकती। इसी तरह पुत्र मौजूद हो, और माता-पिता की सेवा करे, तब तो वह पुत्र है। किन्तु जो पुत्र अतीत हो या भावी हो, पर मौजूद न हो वह तो पुत्र ही नहीं। इस तरह के सिर्फ वर्तमानकाल से सम्बन्ध रखने वाले विचार ऋजुसूत्रनय की कोटि में रक्खे जाते हैं।

ऋजुसूत्रनय

जब विचार की गहराई में उतरनेवाली बुद्धि एक बार भूत और भविष्यत् काल की जड़ काटने पर उतारू हो जाती है, तब वह दूसरी बार उससे भी आगे बढ़ कर किसी दूसरी जड़ को भी काटने पर तैयार होने लगती है। इसी से वह कभी सिर्फ शब्द को ही पकड़ कर प्रवृत्त होती है, और ऐसा विचार करने लगती है कि यदि भूत या भावी से पृथक् होने के कारण सिर्फ वर्तमान काल मान लिया जाय, तब तो एक ही अर्थ में व्यवहृत होने वाले भिन्न भिन्न लिङ्ग, काल, संख्या, कारक, पुरुष और उपसर्गयुक्त शब्दों के अर्थ भी अलग अलग क्यों न माने जायँ? जैसे तीनों कालों में कोई सूत्र रूप एक वस्तु नहीं है, किन्तु वर्तमान स्थित वस्तु ही एक मात्र वस्तु कहलाती है, वैसे ही भिन्न भिन्न लिङ्ग, संख्या और कालादि से युक्त शब्दों द्वारा

शब्दनय

कही जाने वाली वस्तुएँ भी भिन्न भिन्न ही मानी जानी चाहिएँ। ऐसा विचार करके काल और लिङ्गादि के भेद से अर्थ में भी भेद बुद्धि मानने लगती है।

उदाहरणार्थ : शास्त्र में एक ऐसा वाक्य मिलता है कि–'राजगृह नाम का नगर था' इस वाक्य का अर्थ मोटे रूप से ऐसा होता है कि राजगृह नाम का नगर भूतकाल में था, वर्तमान में नहीं, जब कि वास्तव में लेखक के समय में भी राजगृह मौजूद है। यदि वर्तमान में मौजूद है, तब उसको 'था' क्यों लिखा ? इस प्रश्न का जवाब शब्दनय देता है। वह कहता है कि वर्तमान में मौजूद राजगृह से भूतकाल का राजगृह तो भिन्न ही है, और उसी का वर्णन प्रस्तुत होने से 'राजगृह था' ऐसा कहा गया है। यह कालभेद से अर्थभेद का उदाहरण हुआ।

लिङ्गभेद से अर्थभेद : जैसे कि कुआँ, कुई। यहाँ पहला शब्द नर जाति का और दूसरा नारी जाति का है। इन दोनों का कल्पित अर्थभेद भी व्यवहार में प्रसिद्ध है। कितने ही ताराओं को नक्षत्र के नाम से पुकारा जाता है, फिर भी इस शब्दनय के अनुसार 'अमुक तारा नक्षत्र है' अथवा 'यह मघा नक्षत्र है' ऐसा शब्द व्यवहार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस नय के अनुसार लिङ्गभेद से अर्थभेद माने जाने के कारण 'तारा और नक्षत्र' एवं 'मघा और नक्षत्र' इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं कर सकते।

संस्थान (आकार) प्रस्थान (गमन) उपस्थान (उपस्थिति) इसी प्रकार आराम, विराम इत्यादि शब्दों में एक ही धातु होने पर भी उपसर्ग के लग जाने से जो अर्थ-भेद हो जाता है, वही शब्दनय की भूमिका को बनाता है।

इस तरह विविध शाब्दिक धर्मों के आधार पर जो अर्थ-भेद की अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं, वे सभी शब्दनय की श्रेणी की हैं।

समभिरूढ़नय

शाब्दिक धर्मभेद के आधार पर अर्थभेद करने वाली बुद्धि ही जब और भी आगे बढ़ कर व्युत्पत्ति भेद का आश्रय लेने लगती है, और ऐसा मानने पर उतारू हो जाती है कि जहाँ पर अनेक जुदे जुदे शब्दों का एक ही अर्थ मान लिया जाता है, वहाँ पर भी वास्तव में उन सभी शब्दों का एक अर्थ नहीं हो सकता, किन्तु जुदा जुदा ही अर्थ है। उसकी दलील यह है कि यदि लिङ्गभेद और संख्याभेद आदि से अर्थभेद मान सकते हैं, तब शब्दभेद भी अर्थ का भेदक क्यों नहीं मान लिया जाता? ऐसा कह कर वह बुद्धि–राजा, नृप, भूपति आदि एकार्थक शब्दों का भी व्युत्पत्ति के अनुसार जुदा जुदा अर्थ करती है; और कहती है कि राजचिह्नों से शोभित हो वह–'राजा', मनुष्यों का रक्षण करने वाला–'नृप' तथा पृथ्वी का पालन-संवर्धन करनेवाला ही 'भूपति' है। इस तरह से उक्त तीनों नामों से कहे जाने वाले एक ही अर्थ में व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थभेद की मान्यता रखनेवाला विचार समभिरूढ़नय कहलाता है। पर्याय भेद से की जानेवाली अर्थभेद की सभी कल्पनाएँ इसी नय की श्रेणी में आ जाती हैं।

एवंभूतनय

सविशेष रूप से गहराई में जाने की आदतवाली बुद्धि जब अन्त तक गहराई में पहुँच जाती है, तब वह विचार करती है कि यदि व्युत्पत्ति भेद से अर्थभेद माना जा सकता है, तब तो ऐसा भी मानना चाहिए कि जब व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार करना चाहिए; तथा उस शब्द के द्वारा उस अर्थ का प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा नहीं। इस कल्पना के अनुसार किसी समय राजचिह्नों से शोभित होने की योग्यता को धारण करना, किंवा मनुष्य रक्षण के उत्तरदायित्व को प्राप्त कर लेना—इतना मात्र ही 'राजा' या 'नृप' कहलाने के लिए पर्याप्त नहीं। किन्तु इससे आगे

बढ़कर 'राजा' तो उसी समय कहला सकता है, जब कि सचमुच राजदण्ड को धारण करता हुआ उससे शोभायमान हो रहा हो; इसी तरह 'नृप' तब कहना चाहिए, जब वह मनुष्यों का रक्षण कर रहा हो। सारांश यह है कि किसी व्यक्ति के लिए राजा या नृप शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक होगा, जब कि उसमें शब्द का व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ भी घटित हो रहा हो।

इसी तरह जब कोई सचमुच सेवा कर रहा हो, उसी समय या उतनी बार ही उसे 'सेवक' नाम से पुकारा जा सकता है। जब वास्तव में कोई क्रिया हो रही हो, उसी समय उससे संबन्ध रखने वाले विशेषण या विशेष्य नाम का व्यवहार करने वाली मान्यताएँ एवंभूतनय की कहलाती हैं।

पूर्वोक्त चार प्रकार की विचार श्रेणियों में जो अन्तर है, वह तो उदाहरणों से ही स्पष्ट हो सकता है। अतः उसे अब पृथक लिखने की जरूरत नहीं। हां, इतना जान लेना चाहिए कि पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। अतएव उत्तर-उत्तर नय का विषय पूर्व-पूर्व नय के विषय पर ही अवलम्बित रहता है। इन चारों नयों का मूल पर्यायार्थिक नय है। यह बात इसलिए कही गई है कि ऋजुसूत्र सिर्फ वर्तमान को ही स्वीकार करता है, भूत और भविष्यत् को नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि इसका विषय सामान्य न रह कर विशेष रूप से ही ध्यान में आता है; अर्थात् वास्तव में ऋजुसूत्र से ही पर्यायार्थिक नय—विशेषगामिनी दृष्टि का आरम्भ माना जाता है। ऋजुसूत्र के बाद के तीन नय तो उत्तरोत्तर और भी अधिक विशेषगामी बनते जाते हैं। इससे उनका पर्यायार्थिक होना तो स्पष्ट ही है।

शेष वक्तव्य

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि इन चार नयों में भी, जब कि उत्तर नय को पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्म कहा जाता है, तब वह पूर्व नय

उतने अंश में तो उत्तर की अपेक्षा सामान्यगामी है ही। इसी तरह द्रव्यार्थिक नय की भूमिका पर स्थित नैगमादि तीन नय भी—पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्म होने से उतने अंश में तो पूर्व की अपेक्षा विशेषगामी समझने ही चाहिएँ।

इतने पर भी पहले के तीन नयों को द्रव्यार्थिक और बादके चार नयों को पर्यायार्थिक कहने का तात्पर्य इतना ही है कि प्रथम तीनों में सामान्य तत्त्व और उसका विचार अधिक स्पष्ट है, क्योंकि वे तीनों अधिक स्थूल हैं। बाद के चार नय विशेष सूक्ष्म हैं, उनमें विशेष तत्त्व व उसका विचार भी ज्यादा स्पष्ट है। सामान्य और विशेष की इसी स्पष्टता अथवा अस्पष्टता के कारण तथा उनकी मुख्यता-गौणता को ध्यान में रख कर ही सात नयों के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ऐसे दो विभाग किये गए हैं। पर जब वास्तविक विचार करते हैं, तब सामान्य और विशेष—ये दोनों एक ही वस्तु के अविभाज्य दो पहलू होने से एकान्त रूप में एक नय के विषय को दूसरे नय के विषय से सर्वथा अलग नहीं कर सकते।

नयदृष्टि, विचारसरणि, या सापेक्ष अभिप्राय—इन सभी शब्दों का एक ही अर्थ है। पूर्वोक्त वर्णन से इतना पता अवश्य लगेगा कि किसी भी एक विषय को लेकर विचारसरणियाँ अनेक हो सकती हैं। विचारसरणियाँ चाहे जितनी हों, पर उन्हें संक्षिप्त करके अमुक दृष्टि से सात ही भाग किये गए हैं। उनमें भी पहली विचारसरणि की अपेक्षा दूसरी में, और दूसरी की अपेक्षा तीसरी में उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्मत्व आता जाता है। एवंभूत नाम की अन्तिम विचारसरणि में सबसे अधिक सूक्ष्मत्व दीख पड़ता है। इसीलिए उक्त चार विचारसरणियों के अन्य प्रकार से भी दो भाग किये गए हैं—व्यवहारनय और निश्चयनय। व्यवहार अर्थात् स्थूलगामी अथवा उपचार-प्रधान और निश्चय अर्थात् सूक्ष्मगामी अथवा तत्त्वस्पर्शी। वास्तव में एवंभूत ही निश्चय की पराकाष्ठा है।

एक तीसरे प्रकार से भी सात नयों के दो विभाग किये जाते हैं—शब्दनय और अर्थनय। जिसमें अर्थ का विचार प्रधान रूप से किया जाय वह अर्थनय और जिसमें शब्द का प्राधान्य हो वह शब्दनय। ऋजुसूत्र पर्यन्त पहले के चार अर्थनय हैं, और बाकी के तीन शब्दनय हैं।

पूर्वोक्त दृष्टियों के अलावा और भी बहुत सी दृष्टियाँ हैं। जीवन के दो भाग हैं। एक तो सत्य को पहचानने का और दूसरा सत्य को पचाने का। जो भाग सिर्फ सत्य का विचार करता है, अर्थात् तत्त्वस्पर्शी होता है, वह ज्ञानदृष्टि–ज्ञाननय है। तथा जो भाग तत्त्वानुभव को पचाने में ही पूर्णता समझता है, वह क्रियादृष्टि–क्रियानय है।

ऊपर वर्णित सातों नय तत्त्व-विचारक होने से ज्ञाननय में समा जाते हैं। तथा उन नयों के द्वारा शोधित सत्यको जीवन में उतारनेकी दृष्टि वही क्रियादृष्टि है। क्रिया का अर्थ है–जीवन को सत्यमय बनाना।

३४,३५।

दूसरा अध्याय

पहले अध्याय में सात पदार्थों का नामनिर्देश किया गया है। अगले नव अध्यायों में क्रमशः उनका विशेष विचार करना है। अतएव सबसे पहले इस अध्याय में जीव पदार्थ का तत्त्व—स्वरूप बतलाते हुए उसके भेद-प्रभेद आदि विषयों का वर्णन चौथे अध्याय तक करते हैं।

पाँच भाव, उनके भेद और उदाहरण

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च । १ ।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् । २।

सम्यक्त्वचारित्रे । ३ ।

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च । ४ ।

ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः यथाक्रमं सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च । ५ ।

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः । ६ ।

जीवभव्याभव्यत्वादीनि च । ७ ।

औपशमिक, क्षायिक और मिश्र—क्षायोपशमिक, ये तीन तथा औदयिक, पारिणामिक ये दो, कुल पाँच भाव हैं। सो जीव के स्वरूप हैं।

उक्त पाँच भावों के अनुक्रम से दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं।

सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिक हैं।

ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग वीर्य तथा सम्यक्त्व और चारित्र ये नव क्षायिक हैं।

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र—सर्वविरति और संयमासंयम—देशविरति ये अठारह क्षायोपशमिक हैं।

चार गतियाँ, चार कषाय, तीन लिङ्ग—वेद, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धभाव और छह लेश्याएँ—ये इक्कीस औदयिक हैं।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन तथा अन्य भी पारिणामिक भाव हैं।

आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैनदर्शन का अन्य दर्शनों के साथ क्या मन्तव्य भेद है यही बतलाना प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है। सांख्य और वेदान्त दर्शन आत्मा को कूटस्थनित्य मानकर उसमें कोई परिणाम नहीं मानते। ज्ञान, सुख दुःखादि परिणामों को वे प्रकृति या अविद्या के ही मानते हैं। वैशेषिक और नैयायिक ज्ञान आदि को आत्मा का गुण मानते हैं सही, पर ऐसा मानकर भी वे आत्मा को एकान्तनित्य—अपरिणामी मानते हैं। नवीन मीमांसक का मत वैशेषिक और नैयायिक जैसा ही है। बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा एकान्तक्षणिक अर्थात् [1]निरन्वय परिणामों का प्रवाह मात्र है। जैन दर्शन का कथन है कि जैसे प्राकृतिक जड़ पदार्थों में

---

१. भिन्न-भिन्न क्षणों में सुख-दुःख अथवा थोडे बहुत भिन्न विषयक ज्ञानादि परिणामों का जो अनुभव होता है, सिर्फ उन्हीं परिणामों को मानना और उनके बीच सूत्ररूप किसी भी अखण्ड स्थिर तत्त्व को स्वीकार न करना—इसीको निरन्वय परिणामों का प्रवाह कहते हैं।

न तो कूटस्थनित्यता है और न एकान्तक्षणिकता किन्तु परिणामिनित्यता है, वैसे ही आत्मा भी परिणामी नित्य है। अतएव ज्ञान सुख, दुःख आदि पर्याय आत्मा के ही समझने चाहिएँ।

आत्मा के सभी पर्याय एक ही अवस्था वाले नहीं पाये जाते, कुछ पर्याय किसी एक अवस्था में, तो दूसरे कुछ पर्याय किसी दूसरी अवस्था में पाये जाते हैं। पर्यायों की वे ही भिन्न भिन्न अवस्थाएँ भाव कहलाती हैं। आत्मा के पर्याय अधिक से अधिक पाँच भाव वाले हो सकते हैं। वे पांच भाव ये हैं— १ औपशमिक २ क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४ औदयिक और ५ पारिणामिक।

भावों का स्वरूप

१. औपशमिक भाव वह है जो उपशम से पैदा होता हो। उपशम एक प्रकार की आत्म शुद्धि है, जो सत्तागत कर्म का उदय बिलकुल रुक जाने पर वैसे ही होती है जैसे मल नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता होती है।

२. क्षायिक भाव वह है जो क्षय से पैदा होता हो। क्षय आत्मा की वह परम विशुद्धि है, जो कर्म का सम्बन्ध बिलकुल छूट जाने पर वैसे ही प्रकट होती है जैसे सर्वथा मल निकाल देने पर जल में स्वच्छता आती है।

३. क्षायोपशमिक भाव वह है जो क्षय और उपशम से पैदा होता हो। क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का

---

१. हथोडे की चाहे जितनी चोटें लगें, तब भी घन (एरन) जैसे स्थिर ही रहता है, वैसे ही देश, कालादि सम्बन्धी विविध परिवर्तनों के होने पर भी जिसमें किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता वही कूटस्थनित्यता है।

२. तीनों कालों में मूल वस्तु के कायम रहने पर भी देश, कालादि के निमित्त से यदि परिवर्तन होता रहता है-वह परिणामिनित्यता है।

प्रदेशोदय द्वारा क्षय होते रहने पर प्रकट होती है। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित है जैसे धोने से मादक शक्ति के कुछ क्षीण हो जाने और कुछ रह जाने पर कोदों की शुद्धि।

४. औदयिक भाव वह है जो उदय से पैदा होता हो। उदय एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य–मालिन्य है, जो कर्म के विपाकानुभव से वैसे ही होता है जैसे मल के मिल जाने पर जल में मालिन्य होता है।

५. पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है, जो सिर्फ द्रव्य के अस्तित्व से आप ही आप हुआ करता है अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन ही परिणामिक भाव कहलाता है।

ये ही पाँच भाव आत्मा के स्वरूप हैं अर्थात् संसारी या मुक्त कोई भी आत्मा हो उसके सभी पर्याय उक्त पाँच भावों में से किसी न किसी भाव वाले अवश्य होंगे। अजीव में उक्त पाँचों भाव वाले पर्याय सम्भव नहीं है, इस लिए वे पाँचों अजीव के स्वरूप नहीं हो सकते। उक्त पाँचों भाव सभी जीवों में एक साथ पाये जाएँ यह भी नियम नहीं है। समस्त मुक्त जीवों में सिर्फ दो भाव होते हैं, क्षायिक और पारिमाणिक। संसारी जीवों में कोई तीन भाव वाला कोई चार भाव वाला कोई पाँच भाव वाला होता है, पर दो भाव वाला कोई नहीं होता अर्थात् मुक्त आत्मा के पर्याय उक्त दो भाव में और संसारी के पर्याय तीन से लेकर पाँच भाव वाले तक पाये जाते हैं। अतएव पाँच भावों को जीव का स्वरूप कहा है सो जीवराशि की अपेक्षा से या किसी जीव विशेष में सम्भव की अपेक्षा से समझना चाहिए।

---

१. नीरस किये हुए कर्मदलिकों का वेदन प्रदेशोदय है और रस विशिष्ट दलिकों का विपाकवेदन विपाकोदय है।

जो पर्याय औदयिक भाव वाले हों वे वैभाविक और शेष चारों भाव वाले पर्याय स्वाभाविक हैं। १।

उक्त पाँच भावों के कुल त्रेपन भेद इस सूत्र में गिनाए हैं, जो अगले सूत्रों में नाम पूर्वक क्रमशः बतलाये गए हैं कि किस भाव वाले कितने कितने पर्याय हैं और वे कौन से हैं। २।

औपशमिक भाव के भेद

दर्शन-मोहनीय कर्म के उपशम से सम्यक्त्व का और चारित्र्य-मोहनीय कर्म के उपशम से चारित्र का अविर्भाव होता है। इसलिए सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही पर्याय औपशमिक भाव वाले समझने चाहिएँ। ३।

क्षायिक भाव के भेद

केवल ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शन पंचविध अन्तराय के क्षय से दान, लाभ, भोग, उपभोग, और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ, दर्शन-मोहनीय कर्म के क्षय से सम्यक्त्व, और चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षय से चारित्र का अविर्भाव होता है। इसीसे केवल ज्ञानादि नवविध पर्याय क्षायिक कहलाते हैं। ४।

क्षायोपशमिक भाव के भेद

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण और मनःपर्याय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञान का आविर्भाव होता है। मति-अज्ञानावरण, श्रुत अज्ञानावरण और विभङ्ग ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान का अविर्भाव होता है। चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन का आविर्भाव होता है। पंचविध अन्तराय के क्षयोपशम से दान, लाभ आदि उक्त पाँच लब्धियों का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क तथा दर्शनमोहनीय के

क्षयोपशम से सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के कषाय के क्षयोपशम से चारित्र—सर्वविरति का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि अष्टविध कषाय के क्षयोपशम से संयमासंयम—देशविरति का आविर्भाव होता है। इसलिए मतिज्ञान आदि उक्त अठारह प्रकार के ही पर्याय क्षायोपशमिक हैं। ५।

औदयिक भाव के भेद

गति नाम-कर्म के उदय का फल नरक, तिर्यञ्ज, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ हैं। कषायमोह के उदय से क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय पैदा होते हैं। वेदमोहनीय के उदय से स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद होता है। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से मिथ्यादर्शन—तत्त्व का अश्रद्धान होता है। अज्ञान—ज्ञानाभाव, ज्ञानावरणीय के उदय का फल है। असंयतत्व—विरति का सर्वथा अभाव, अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के चारित्र-मोहनीय के उदय का परिणाम है। असिद्धत्व-शरीरधारण वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म के उदय का नतीजा है। कृष्ण, नील, कापोत, तेजः, पद्म और शुक्ल ये छह प्रकार की लेश्याएँ—कषायोदय रञ्जित योगपरिणाम—कषाय के उदय अथवा योगजनक शरीरनाम कर्म के उदय का फल है। अतएव गति आदि उक्त इक्कीस पर्याय औदयिक कहे जाते हैं। ६।

पारिणामिक भाव के भेद

जीवत्व—चैतन्य, भव्यत्व—मुक्ति की योग्यता, अभव्यत्व—मुक्ति की अयोग्यता, ये तीन भाव स्वाभाविक हैं अर्थात् न तो वे कर्म के उदय से, न उपशम से, न क्षय से या न क्षयोपशम से पैदा होते हैं; किन्तु अनादिसिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध हैं, इसीसे वे पारिणामिक हैं।

प्र०—क्या पारिणामिक भाव तीन ही हैं।

उ०—नहीं और भी हैं।

प्र०—कौन से ?

उ०—अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्त्व, प्रदेशवत्त्व, असंख्यातप्रदेशत्व, असर्वगतत्व, अरूपत्व आदि अनेक हैं।

प्र०—फिर तीन ही क्यों गिनाए गए ?

उ०—यहाँ जीव का स्वरूप बतलाना है सो उसके असाधारण भावों के द्वारा ही बतलाया जा सकता है। इसलिये औपशमिक आदि के साथ पारिणामिक भाव भी वे ही बतलाए हैं जो सिर्फ जीव के असाधारण हैं। अस्तित्व आदि पारिणामिक हैं सही; पर वे जीव की तरह अजीव में भी हैं। इसलिए वे जीव के असाधारण भाव नहीं हैं। इसीसे यहाँ उनका निर्देश नहीं किया गया, तथापि अन्त में आदि शब्द रक्खा है सो उन्हीं को सूचित करने के लिए; और दिगम्बर सम्प्रदाय में यही अर्थ 'च' शब्द से निकाला गया है। ७।

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम् । ८ ।

उपयोग यह जीव का लक्षण है।

जीव जिसको आत्मा और चेतन भी कहते हैं वह अनादिसिद्ध, स्वतन्त्र द्रव्य है। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता, पर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि से किया जा सकता है। तथापि साधारण जिज्ञासुओं के लिए एक ऐसा लक्षण बतला देना चाहिए जिससे कि आत्मा की पहचान की जा सके। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत सूत्र में उसका लक्षण बतलाया है। आत्मा लक्ष्य—ज्ञेय है और उपयोग लक्षण—जानने का उपाय है। जगत् अनेक जड़-चेतन पदार्थों का मिश्रण है। उसमें से जड़ और चेतन का विवेक पूर्वक निश्चय करना हो तो उपयोग के द्वारा ही हो सकता है; क्योंकि उपयोग

तरतम भाव से सभी आत्माओं में अवश्य पाया जाता है। जड़ वही है जिसमें उपयोग न हो।

प्र०—उपयोग क्या वस्तु है ?

उ०—बोध रूप व्यापार ही उपयोग है।

प्र०—आत्मा में बोध की क्रिया होती है और जड़ में नहीं, सो क्यों ?

उ०—बोध का कारण चेतनाशक्ति है। वह जिसमें हो, उसी में बोध-क्रिया हो सकती है, दूसरे में नहीं। चेतनाशक्ति आत्मा में ही है, जड़ में नहीं।

प्र०—आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, इसलिए उसमें अनेक गुण होने चाहिएँ, फिर उपयोग को ही लक्षण क्यों कहा ?

उ०—निःसन्देह आत्मा में अनन्त गुण-पर्याय हैं, पर उन सब में उपयोग ही मुख्य है; क्योंकि स्व-परप्रकाश रूप होनेसे उपयोग ही अपना तथा इतर पर्यायों का ज्ञान करा सकता है। इसके सिवा आत्मा जो कुछ अस्ति-नास्ति जानता है, ननु-नच करता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है वह सब उपयोग से। अतएव उपयोग ही सब पर्यायों में प्रधान है।

प्र०—क्या लक्षण स्वरूप से भिन्न है ?

उ०—नहीं।

प्र०—तब तो पहले जो पाँच भावों को जीव का स्वरूप कहा है, वे भी लक्षण हुए, फिर दूसरा लक्षण बतलाने का क्या प्रयोजन ?

उ०—असाधारण धर्म भी सब एक से नहीं होते। कुछ तो ऐसे होते हैं जो लक्ष्य में होते हैं सही, पर कभी होते हैं कभी नहीं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो समग्र लक्ष्य में नहीं रहते और कुछ ऐसे भी होते हैं जो तीनों काल में समग्र लक्ष्य में रहते हैं। समग्र लक्ष्य में तीनों काल में पाया जाने वाला उपयोग ही है। इसलिए लक्षणरूप से उसीका पृथक

कथन किया और तद्द्वारा यह सूचित किया है कि औपशमिक आदि भाव जीव के स्वरूप हैं सही, पर वे न तो सब आत्माओं में पाये जाते हैं और न त्रिकालवर्त्ती ही हैं। त्रिकालवर्त्ती और सब आत्माओं में पाया जाने वाला एक जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ही है, जिसका फलित अर्थ उपयोग ही होता है। इसलिए उसी को अलग करके यहाँ लक्षण रूप से कहा है। दूसरे सब भाव कादाचित्क—कभी होनेवाले कभी नहीं होने वाले, कतिपय लक्ष्यवर्त्ती और कर्म सापेक्ष होने से जीव के उपलक्षण हो सकते हैं, लक्षण नहीं। उपलक्षण और लक्षण का अन्तर यह है कि जो प्रत्येक लक्ष्य में सर्वात्मभाव से तीनों काल में पाया जाय—जैसे अग्नि में उष्णत्व—वह लक्षण, और जो किसी लक्ष्य में हो किसी में न हो, कभी हो कभी न हो, और स्वभावसिद्ध न हो वह उपलक्षण, जैसे अग्नि के लिए धूम। जीवत्व को छोड़कर भावों के बावन भेद आत्मा के उपलक्षण ही हैं। ८।

उपयोग की विविधता

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः। ९।

वह उपयोग दो प्रकार का है तथा आठ प्रकार का और चार प्रकार का है।

जानने की शक्ति—चेतना समान होने पर भी, जानने की क्रिया—बोधव्यापार या उपयोग—सब आत्माओं में समान नहीं देखी जाती। यह उपयोग की विविधता, बाह्य-आभ्यन्तर कारणकलाप की विविधता पर अवलम्बित है। विषय भेद, इन्द्रिय आदि साधन भेद, देश-काल भेद इत्यादि विविधता बाह्य सामग्री की है। आवरण की तीव्रता-मन्दता का तारतम्य आन्तरिक सामग्री की विविधता है। इस सामग्री-वैचित्र्य की बदौलत एक ही आत्मा भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न प्रकार की बोधक्रिया करता है और अनेक आत्मा एक ही समय में भिन्न भिन्न बोध करते हैं।

यह बोध की विविधता अनुभवगम्य है। इसको संक्षेप में वर्गीकरण द्वारा बतलाना ही इस सूत्र का उद्देश्य है।

उपयोगराशि के सामान्यरूप से दो विभाग किये जाते हैं- १. साकार, २. अनाकार। विशेषरूप से साकार-उपयोग के आठ और अनाकार-उपयोग के चार विभाग किये हैं। इस तरह उपयोग के कुल बारह भेद होते हैं।

साकार के आठ भेद ये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गज्ञान। अनाकार उपयोग के चार भेद ये हैं—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

प्र०—साकार और अनाकार का मतलब क्या है?

उ०—जो बोध ग्राह्यवस्तु को विशेष रूप से जानने वाला हो वह साकार उपयोग; और जो बोध ग्राह्यवस्तु को सामान्य रूप से जानने वाला हो वह अनाकार उपयोग है। साकार को ज्ञान या सविकल्पक बोध और अनाकार को दर्शन या निर्विकल्पक बोध भी कहते हैं।

प्र०—उक्त बारह भेद में से कितने भेद पूर्ण विकसित चेतनाशक्ति के कार्य हैं और कितने अपूर्ण विकसित चेतनाशक्ति के कार्य?

उ०—केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो पूर्ण विकसित चेतना के व्यापार और शेष सब अपूर्ण विकसित चेतना के व्यापार हैं।

प्र०—विकास की अपूर्णता के समय तो अपूर्णता की विविधता के कारण उपयोग भेद सम्भव है पर विकास की पूर्णता के समय उपयोग भेद कैसे!

उ०—विकास की पूर्णता के समय केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप से जो उपयोग भेद माना जाता है इसका कारण सिर्फ ग्राह्य विषय की द्विरूपता है अर्थात् प्रत्येक विषय सामान्य और विशेष रूप से उभयस्वभाव है इसलिए उसको जानने वाला चेतनाजन्य व्यापार भी ज्ञान और दर्शन रूप से दो प्रकार का होता है।

प्र०—साकार के आठ भेद में ज्ञान और अज्ञान का क्या अन्तर है ?

उ०—और कुछ नहीं, सिर्फ सम्यक्त्व के सद्भाव, असद्भाव का।

प्र०—तो फिर शेष दो ज्ञानों के प्रतिपक्षी अज्ञान और दर्शन के प्रतिपक्षी अदर्शन क्यों नहीं ?

उ०—मनःपर्याय और केवल ये दो ज्ञान सम्यक्त्व के बिना होते ही नहीं, इस लिए उनके प्रतिपक्ष का संभव नहीं। दर्शनों में केवलदर्शन सम्यक्त्व के सिवा नहीं होता; पर शेष तीन दर्शन सम्यक्त्व के अभाव में भी होते हैं; तथापि उनके प्रतिपक्षी तीन अदर्शन न कहने का कारण यह है कि दर्शन यह सामान्यमात्र का बोध है। इस लिए सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के दर्शन के बीच कोई भेद नहीं बतलाया जा सकता।

प्र०—उक्त बारह भेदों की व्याख्या क्या है ?

उ०—ज्ञान के आठ भेदों का स्वरूप पहले ही बतलाया जा चुका है।[1] दर्शन के चार भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—१. जो सामान्य बोध नेत्रजन्य हो वह चक्षुर्दर्शन, २. नेत्र के सिवा अन्य किसी इन्द्रिय से या मन से होने वाला सामान्य बोध अचक्षुर्दर्शन, ३. अवधिलब्धि से मूर्त पदार्थों का सामान्य बोध अवधिदर्शन, ४. और केवललब्धि से होने वाला समस्त पदार्थों का सामान्य बोध केवलदर्शन कहलाता है। ९।

जीवराशि के विभाग

संसारिणो मुक्ताश्च। १०।

संसारी और मुक्त ऐसे दो विभाग हैं।

जीव अनन्त हैं। चैतन्य रूप से वे सब समान हैं। यहाँ उनके दो विभाग किये गये हैं सो पर्याय विशेष के सद्भाव-असद्भाव की अपेक्षा से,

---

१. देखो अ० १, सू० ९ से ३३ तक

अर्थात् एक संसार रूप पर्याय वाले और दूसरे संसार रूप पर्याय से रहित। पहले प्रकार के जीव संसारी और दूसरे प्रकार के मुक्त कहलाते हैं।

प्र०—संसार क्या वस्तु है?

उ०—द्रव्य और भाव बन्ध ही संसार है। कर्मदल का विशिष्ट सम्बन्ध द्रव्य है। राग-द्वेष आदि वासनाओं का सम्बन्ध भावबन्ध है। १०।

संसारी जीव के भेद-प्रभेद

समनस्काऽमनस्काः। ११।

संसारिणस्त्रसस्थावराः। १२।

पृथिव्यऽम्बुवनस्पतयः स्थावराः। १३।

तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः। १४।

मनवाले और मनरहित ऐसे संसारी जीव हैं।

तथा वे त्रस और स्थावर हैं।

पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय ये तीन स्थावर हैं।

तेजःकाय, वायुकाय और द्वीन्द्रिय आदि त्रस हैं।

संसारी जीव भी अनन्त हैं। संक्षेप में उनके दो विभाग किये हैं, सो भी दो तरह से। पहला विभाग मन के संबन्ध और असंबन्ध पर निर्भर है, अर्थात् मनवाले और मनरहित इस तरह दो विभाग किये हैं, जिनमें सकल संसारी का समावेश हो जाता है। दूसरा विभाग त्रसत्व और स्थावरत्व के आधार पर किया है अर्थात् एक त्रस और दूसरे स्थावर। इस विभाग में भी सकल संसारी जीवों का समावेश हो जाता है।

प्र०—मन किसे कहते हैं?

उ०—जिससे विचार किया जा सके ऐसी आत्मिक शक्ति मन है और इस शक्ति से विचार करने में सहायक होनेवाले एक प्रकार के सूक्ष्म परमाणु भी मन कहलाते हैं। पहला भावमन और दूसरा द्रव्यमन कहा जाता है।

प्र०—त्रसत्व और स्थावरत्व का मतलब क्या है?

उ०—उद्देश्य पूर्वक एक जगह से दूसरी जगह जाने या हिलने चलने की शक्ति यह त्रसत्व, और ऐसी शक्ति का न होना यह स्थावरत्व।

प्र०—जो जीव मनरहित कहे गये हैं क्या उनके द्रव्य, भाव किसी प्रकार का मन नहीं होता?

उ०—होता है, पर सिर्फ भावमन।

प्र०—तब तो सभी मनवाले हुए, फिर मनवाले और मनरहित यह विभाग कैसे?

उ०—द्रव्यमन की अपेक्षा से अर्थात् जैसे बहुत बूढ़ा आदमी पाँव और चलने की शक्ति होने पर भी लकड़ी के सहारे के बिना नहीं चल सकता; इसी तरह भावमन होने पर भी द्रव्यमन के बिना स्पष्ट विचार नहीं किया जा सकता। इसी कारण द्रव्यमन की प्रधानता मानकर उसके भाव और अभाव की अपेक्षा से मनवाले और मनरहित ऐसा विभाग किया है।

प्र०—क्या दूसरा विभाग करने का यह तो मतलब नहीं है कि सभी त्रस समनस्क और स्थावर सभी अमनस्क हैं।

उ०—नहीं; त्रस में भी कुछ ही समनस्क होते हैं, सब नहीं। और स्थावर तो सभी अमनस्क ही होते हैं। ११, १२।

स्थावरके पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय ये तीन भेद हैं और त्रस के तेजःकाय, वायुकाय ये दो भेद तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ऐसे भी चार भेद हैं।

प्र०—त्रस और स्थावरका मतलब क्या है?

उ०—जिसके त्रस नाम-कर्म का उदय हो वह त्रस, और स्थावर नाम-कर्म का उदय हो वह स्थावर।

प्र०—त्रस नाम-कर्म के उदय की और स्थावर नाम-कर्म के उदय की पहचान क्या है?

उ०—दुःख को त्यागने और सुख को पाने की प्रवृत्ति का स्पष्ट रूप में दिखाई देना और न दिखाई देना यही क्रमशः त्रस नाम-कर्म के उदय की और स्थावर नाम-कर्म के उदय की पहचान है।

प्र०—क्या द्वीन्द्रिय आदि की तरह तेजःकायिक और वायुकायिक जीव भी उक्त प्रवृत्ति करते हुए स्पष्ट दिखाई देते हैं, जिससे उनको त्रस माना जाय?

उ०—नहीं।

प्र०—तो फिर पृथिवी कायिक आदि की तरह उनको स्थावर क्यों न कहा गया?

उ०—उक्त लक्षण के अनुसार वे असल में स्थावर ही हैं। यहाँ द्वीन्द्रिय आदि के साथ सिर्फ गति का सादृश्य देखकर उनको त्रस कहा है अर्थात् त्रस दो प्रकार के हैं—लब्धित्रस और गतित्रस। त्रस नाम-कर्म के उदय वाले लब्धित्रस हैं, ये ही मुख्य त्रस हैं; जैसे द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव। स्थावर नाम-कर्म का उदय होनेपर भी त्रस की सी गति होने के कारण जो त्रस कहलाते हैं वे गतित्रस। ये उपचार मात्र से त्रस हैं; जैसे तेजःकायिक और वायुकायिक। १३, १४।

इन्द्रियों की संख्या, उनके भेद-प्रभेद और नाम निर्देश

पञ्चेन्द्रियाणि। १५।
द्विविधानि। १६।
निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। १७।
[लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। १८।
उपयोगः स्पर्शादिषु। १९।
स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। २०।

इन्द्रियाँ पाँच हैं।

वे प्रत्येक दो दो प्रकार की है।

द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरण रूप है।

भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप है।

उपयोग स्पर्श आदि विषयों में होता है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियों के नाम हैं।

यहाँ इन्द्रियों की संख्या बतलाने का उद्देश्य यह है कि उसके आधार पर यह मालूम किया जा सकता है कि संसारी जीवों के कितने विभाग हो सकते हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं। सभी संसारियों के पाँचों इन्द्रियाँ नहीं होतीं। किन्हीं के एक, किन्हीं के दो, इसी तरह एक-एक बढ़ाते-बढ़ाते किन्हीं के पाँच तक होती हैं। जिनके एक इन्द्रिय हो वे एकेन्द्रिय, जिनके दो हों वे द्वीन्द्रिय, इसी तरह त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय—ऐसे पाँच भेद संसारी जीवों के होते हैं।

प्र०—इन्द्रिय का मतलब क्या है ?

उ०—जिससे ज्ञान लाभ हो सके वह इन्द्रिय है।

प्र०—क्या पाँच से अधिक इन्द्रियाँ नहीं हैं ?

उ०—नहीं, ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं। यद्यपि सांख्य आदि शास्त्रों में वाक्, पाणि, पाद, पायु—गुदा, और उपस्थ—लिङ्ग अर्थात् जननेन्द्रिय को भी इन्द्रिय कहा गया है; परन्तु वे कर्मेन्द्रियाँ हैं। यहाँ सिर्फ ज्ञानेन्द्रियोंको बतलाना है, जो पाँच से अधिक नहीं हैं।

प्र०—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का मतलब क्या है ?

उ०—जिससे मुख्यतया जीवन यात्रोपयोगी ज्ञान हो सके वह ज्ञानेन्द्रिय और जीवन यात्रोपयोगी आहार, विहार, निहार आदि क्रिया जिससे हो वह कर्मेन्द्रिय। १५।

पाँचों इन्द्रियों के द्रव्य और भाव रूप से दो-दो भेद हैं। पुद्गलमय जड़ इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय है, और आत्मिक परिणामरूप इन्द्रिय भावेन्द्रिय है।१६।

द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरण रूप से दो प्रकार की है। शरीर के ऊपर दीखने वाली इन्द्रियों की आकृतियाँ जो पुद्गलस्कन्धों की विशिष्ट रचना रूप हैं, उनको निर्वृत्ति-इन्द्रिय और निर्वृत्ति-इन्द्रिय की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक शक्ति, जिसके बिना निर्वृत्ति-इन्द्रिय ज्ञान पैदा करने में असमर्थ है; उसको उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। १७।

भावेन्द्रिय भी लब्धि और उपयोग रूप से दो प्रकार की है। मतिज्ञानावरणीय कर्म आदि का क्षयोपशम जो एक प्रकार का आत्मिक परिणाम है–वह लब्धीन्द्रिय है। और लब्धि, निर्वृत्ति तथा उपकरण इन तीनों के मिलने से जो रूपादि विषयों का सामान्य और विशेष बोध होता है वह उपयोगेन्द्रिय है। उपयोगेन्द्रिय मतिज्ञान तथा चक्षु, अचक्षु दर्शनरूप है। १८।

मतिज्ञान रूप उपयोग जिसे भावेन्द्रिय कहा है वह अरूपी (अमूर्त्त) पदार्थों को जान सकता है पर उनके सकल गुण, पर्यायों को नहीं जान सकता सिर्फ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर्यायों को ही जान सकता है।

प्र०—प्रत्येक इन्द्रिय के द्रव्य-भाव रूप से दो दो और द्रव्य के तथा भाव के भी अनुक्रम से निर्वृत्ति-उपकरण रूप तथा लब्धि-उपयोग रूप दो दो भेद बतलाए; अब यह कहिये कि इनका प्रतिक्रम कैसा है?

उ०—लब्धीन्द्रिय होने पर ही निर्वृत्ति संभव है। निर्वृत्ति के बिना उपकरण नहीं अर्थात् लब्धि प्राप्त होने पर निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग हो सकते हैं। इसी तरह निर्वृत्ति प्राप्त होने पर उपकरण और उपयोग तथा उपकरण प्राप्त होने पर उपयोग संभव है। सारांश यह कि पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त होनेपर उत्तर-उत्तर इन्द्रिय का प्राप्त होना संभव

है। पर ऐसा नियम नहीं है कि उत्तर-उत्तर इन्द्रिय की प्राप्ति होने पर ही पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त हो। १९।

इन्द्रियों के नाम

१. स्पर्शनेन्द्रिय–त्वचा, २. रसनेन्द्रिय–जिह्वा, ३. घ्राणेन्द्रिय–नासिका, ४. चक्षुरिन्द्रिय–आँख, ५. श्रोत्रेन्द्रिय–कान। इन पाँचों के लब्धि, निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग रूप चार चार प्रकार हैं अर्थात् इन चार चार प्रकारों की समष्टि ही स्पर्शन आदि एक एक पूर्ण इन्द्रिय है। इस समष्टि में जितनी न्यूनता है उतनी ही इन्द्रिय की अपूर्णता।

प्र०—उपयोग तो ज्ञान विशेष है जो इन्द्रिय का फल है; उसको इन्द्रिय कैसे कहा गया ?

उ०—यद्यपि उपयोग वास्तव में लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीन की समष्टि का कार्य है; तथापि यहाँ उपचार से अर्थात् कार्य में कारण का आरोप करके उसे भी इन्द्रिय कहा गया है। २०।

इन्द्रियों के ज्ञेय अर्थात् विषय–

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः। २१।

श्रुतमनिन्द्रियस्य। २२।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण–रूप और शब्द ये पाँच क्रम से उनके अर्थात् पूर्वोक्त पाँच इन्द्रियों के अर्थ–ज्ञेय हैं।

अनिन्द्रिय—मन का विषय श्रुत है।

जगत् के सब पदार्थ एक से नहीं हैं। कुछ मूर्त हैं और कुछ अमूर्त। जिनमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि हों वे मूर्त हैं। मूर्त

---

१. इनके विशेष विचार के लिए देखो हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ पृ० ३६ 'इन्द्रिय' शब्द विषयक परिशिष्ट।

पदार्थ ही इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं, अमूर्त नहीं। पाँचों इन्द्रियों के विषय जो जुदा जुदा बतलाए गए हैं वे आपस में सर्वथा भिन्न और मूलतत्त्व—द्रव्यरूप नहीं; किन्तु एक ही द्रव्य के भिन्न भिन्न अंश—पर्याय हैं अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ एक ही द्रव्य की पारस्परिक भिन्न भिन्न अवस्था विशेषों को जानने में प्रवृत्त होती हैं। अतएव इस सूत्र में पाँच इन्द्रियों के जो पाँच विषय बतलाए हैं उन्हें स्वतंत्र अलग अलग वस्तु न समझकर एक ही मूर्त—पौद्गलिक द्रव्य के अंश समझना चाहिए। जैसे एक लड्डू को पाँचों इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न रूप से जानती हैं। अंगुली छूकर उसके शीत, उष्ण आदि स्पर्श को बतला सकती है। जीभ चखकर उसके खट्टे मीठे आदि रस को बतलाती है। नाक सूँघ कर उसकी खुशबू या बदबू को बतलाता है। आँख देखकर उसके लाल, सफेद आदि रंग को बतलाती है। कान उस कड़े लड्डू को खाने आदि से उत्पन्न होनेवाले शब्दों को जानता है। यह नहीं कि उस एक ही लड्डू में स्पर्श, रस, गन्ध आदि उक्त पाँचों विषयों का स्थान अलग अलग रहता है। किन्तु वे सभी उसके सब भागों में एक साथ रहते हैं, क्योंकि वे सभी एक ही द्रव्य की अविभाज्य पर्याय हैं। उनका विभाग सिर्फ बुद्धि द्वारा किया जा सकता है जो इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियों की शक्ति जुदा जुदा है। वे कितनी ही पटु क्यों न हों; पर अपने ग्राह्य विषय के अलावा अन्य विषय को जानने में समर्थ नहीं होतीं। इसी कारण पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय असंकीर्ण—पृथक् पृथक् हैं।

प्र०—स्पर्श आदि पाँचों अवश्य सहचरित हैं तब ऐसा क्यों है कि किसी किसी वस्तु में उन पाँचों की उपलब्धि न होकर सिर्फ एक या दो की होती है; जैसे सूर्य आदि की प्रभा का रूप तो मालूम होता है पर स्पर्श, रस, गन्ध आदि नहीं। इसी तरह पुष्पादि से अमिश्रित वायु का स्पर्श मालूम पड़ने पर भी रस, गन्ध आदि मालूम नहीं पड़ते।

उ०—प्रत्येक भौतिक द्रव्य में स्पर्श आदि उक्त सभी पर्याय होती हैं पर जो पर्याय उत्कट हो वही इन्द्रियग्राह्य होती है। किसी में स्पर्श आदि पाँचों पर्याय उत्कटतया अभिव्यक्त होते हैं और किसी में एक दो आदि। शेष पर्याय अनुत्कट अवस्था में होने के कारण इन्द्रियों से जाने नहीं जाते; पर होते हैं अवश्य। इन्द्रिय की पटुता—ग्रहणशक्ति—भी सब जाति के प्राणियों की एक सी नहीं होती। एक जातीय प्राणियों में भी इन्द्रिय की पटुता विविध प्रकार की देखी जाती है। इसलिए स्पर्श आदि की उत्कटता, अनुत्कटता का विचार इन्द्रिय की पटुता तरतम भाव पर भी निर्भर है। २१।

उक्त पाँचों इन्द्रियों के अलावा एक और भी इन्द्रिय है जिसे मन कहते हैं। मन ज्ञान का साधन है, पर स्पर्शन आदि की तरह बाह्य साधन न होकर आन्तरिक साधन है; इसीसे उसे अन्तःकरण भी कहते हैं। मन का विषय बाह्य इन्द्रियों की तरह परिमित नहीं है। बाह्य इन्द्रियाँ सिर्फ मूर्त्त पदार्थ को ग्रहण करती हैं और वह भी अंश रूप से; जब कि मन मूर्त्त, अमूर्त्त सभी पदार्थों को ग्रहण करता है, सो भी अनेक रूप से। मन का कार्य विचार करने का है, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए गए और नहीं ग्रहण किए गए सभी विषयों में विकास—योग्यता के अनुसार विचार कर सकता है। यह विचार ही श्रुत है। इसी से कहा गया है कि अनिन्द्रिय का विषय श्रुत है अर्थात् मूर्त्त-अमूर्त्त सभी तत्त्वों का स्वरूप मन का प्रवृत्ति क्षेत्र है।

प्र०—जिसे श्रुत कहते हो वह यदि मन का कार्य है और वह एक प्रकार का स्पष्ट तथा विशेषग्राही ज्ञान है, तो फिर मन से मतिज्ञान क्यों नहीं होता ?

उ०—होता है; पर मन के द्वारा पहले पहल जो सामान्य रूप से वस्तु का ग्रहण होता है तथा जिसमें शब्दार्थ सम्बन्ध, पौर्वापर्य—आगे पीछे का अनुसन्धान और विकल्प रूप विशेषता न हो वही मतिज्ञान है। इसके बाद होनेवाली उक्त विशेषतायुक्त विचारधारा श्रुतज्ञान है, अर्थात् मनोजन्य ज्ञान व्यापार की धारा में प्राथमिक अल्प अंश मतिज्ञान है और पीछे का अधिक अंश श्रुतज्ञान है। सारांश यह है कि स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों से सिर्फ मतिज्ञान होता है, पर मन से मति, श्रुत दोनों। इनमें भी मति की अपेक्षा श्रुत ही प्रधान है। इसी से यहाँ मन का विषय श्रुत कहा गया है।

प्र०—मन को अनिन्द्रिय क्यों कहा गया है?

उ०—यद्यपि वह भी ज्ञान का साधन होने से इन्द्रिय ही है, परन्तु रूप आदि विषयों में प्रवृत्त होने के लिए उसको नेत्र आदि इन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है। इसी पराधीनता के कारण उसे अनिन्द्रिय या नोइन्द्रिय—ईषदिन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय जैसा कहा है।

प्र०—क्या मन भी नेत्र आदि की तरह शरीर के किसी खास स्थान में ही रहता है या सर्वत्र?

उ०—वह शरीर के अन्दर सर्वत्र[1] वर्तमान है, किसी खास स्थान में नहीं; क्योंकि शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों में वर्तमान इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गए सभी विषयों में मन की गति है; जो उसे देहव्यापी माने बिना घट नहीं सकती; इसी से यह कहा जाता है कि 'यत्र पवनस्तत्र मनः'। २१, २२।

इन्द्रियों के स्वामी—

वाय्वन्तानामेकम्। २३।

---

१. यह मत श्वेताम्बर परम्परा का है; दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्रव्य-मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर नहीं है, सिर्फ हृदय है।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि । २४ ।

संज्ञिनः समनस्काः । २५ ।

वायुकाय तक के जीवों के एक इन्द्रिय है।

कृमि, पिपीलिका–चींटी, भ्रमर–भौंरा और मनुष्य वगैरह के क्रम से एक एक इन्द्रिय अधिक होती है।

संज्ञी मनवाले होते हैं।

तेरहवें और चौदहवें सूत्र में संसारी जीवों के स्थावर और त्रस रूप से दो विभाग बतलाए हैं। उनके नव निकाय—जातियाँ हैं; जैसे–पृथिवीकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय, तेजःकाय, वायुकाय ये पाँच तथा द्वीन्द्रिय आदि चार। इनमें से वायुकाय तक के पाँच निकायों के सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

कृमि, जलौका आदि के दो इन्द्रियाँ होती हैं, एक स्पर्शन और दूसरी रसन। चींटी, कुंथु, खटमल आदि के उक्त दो और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भौंरे, मक्खी, बिच्छू, मच्छर आदि के उक्त तीन तथा आँख ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी तथा देव-नारक के उक्त चार और कान ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

प्र०— यह संख्या द्रव्येन्द्रिय की है या भावेन्द्रिय की अथवा उभयेन्द्रिय की?

उ०—उक्त संख्या सिर्फ द्रव्येन्द्रिय की समझनी चाहिए, भावेन्द्रियाँ तो सभी के पाँचों होती हैं।

प्र०—तो फिर क्या कृमि आदि भावेन्द्रिय के बल से देख या सुन लेते हैं?

उ०—नहीं, सिर्फ भावेन्द्रिय काम करने में समर्थ नहीं; उस द्रव्येन्द्रिय का सहारा चाहिए। अतएव सब भावेन्द्रियों के होने पर भी

कृमि या चींटी आदि नेत्र तथा कर्ण रूप द्रव्येन्द्रिय न होने से देखने, सुनने में असमर्थ हैं; फिर भी वे अपनी अपनी द्रव्येन्द्रिय की पटुता के बल से जीवन-यात्रा का निर्वाह कर ही लेते हैं।

पृथिवीकाय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त के आठ निकायों के तो मन होता ही नहीं; पंचेन्द्रियों में भी सब के नहीं होता। पंचेन्द्रिय के चार वर्ग हैं: देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच। इनमें से पहले दो वर्गों में तो सभी के मन होता है और पिछले दो वर्गों में उन्हीं के होता है जो गर्भोत्पन्न हों; अर्थात् मनुष्य और तिर्यंच-गर्भोत्पन्न तथा संमूर्छिम इस तरह दो दो प्रकार के होते हैं, जिनमें संमूर्छिम मनुष्य और तिर्यंच के मन नहीं होता। सारांश यह कि पंचेन्द्रियों में सब देव, सब नारक और गर्भज मनुष्य तथा गर्भज तिर्यंच के ही मन होता है।

प्र०—अमुक के मन है और अमुक के नहीं, इसकी क्या पहचान ?

उ०—इसकी पहचान संज्ञा का होना या न होना है।

प्र०—संज्ञा, वृत्ति को कहते हैं और वृत्ति न्यूनाधिक रूप से किसी न किसी प्रकार की सभी में देखी जाती है; क्योंकि कृमि, चींटी आदि जन्तुओं में भी आहार, भय आदि की वृत्तियाँ देखी जाती हैं, फिर उन जीवों के मन क्यों नहीं माना जाता ?

उ०—यहाँ संज्ञा का मतलब साधारण वृत्ति से नहीं, [1]विशिष्ट वृत्ति से है। वह विशिष्ट वृत्ति गुण-दोष की विचारणा है, जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार हो सके। इस विशिष्ट वृत्ति को शास्त्र में संप्रधारण संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा मन का कार्य है जो देव,

१ इसके खुलासे के लिए देखो हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ पृ० ३८ में 'संज्ञा' शब्द का परिशिष्ट।

नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च में ही स्पष्ट रूप से देखी जाती है। इसलिए वे ही मनवाले माने जाते हैं।

प्र०—क्या कृमि, चींटी आदि जीव अपने अपने इष्ट को पाने तथा अनिष्ट को त्यागने का प्रयत्न नहीं करते?

उ०—करते हैं।

प्र०—तब फिर उनमें संप्रधारण संज्ञा और मन क्यों नहीं माने जाते?

उ०—कृमि आदि में भी अत्यन्त सूक्ष्म मन मौजूद है, इसीसे वे हित में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति कर लेते हैं। पर उनका वह कार्य सिर्फ देह-यात्रोपयोगी है, इससे अधिक नहीं। यहाँ इतना पुष्ट मन विवक्षित है जिससे निमित्त मिलने पर देह-यात्रा के अलावा और भी अधिक विचार किया जा सके, अर्थात् जिससे पूर्व जन्म का स्मरण तक हो सके—इतनी विचार की योग्यता ही संप्रधारण संज्ञा कहलाती है। इस संज्ञावाले उक्त देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च ही हैं। अतएव उन्हीं को यहाँ समनस्क कहा है। २२–२५।

अन्तराल गति संबन्धी विशेष जानकारी के लिए योग आदि पाँच बातों का वर्णन—

विग्रहगतौ कर्मयोगः । २६ ।

अनुश्रेणि गतिः । २७ ।

अविग्रहा जीवस्य । २८ ।

---

१ देखो ज्ञानबिन्दु प्रकरण (यशोविजय जैन ग्रन्थमाला) पृ० १४४।

२ इस विषयको विशेष स्पष्टतापूर्वक समझने के लिए देखो हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ में 'अनाहारक' शब्द का परिशिष्ट पृ० १४३।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः । २९ ।
एकसमयोऽविग्रहः । ३० ।
एकं द्वौ वाऽनाहारकः । ३१ ।

विग्रहगति में कर्मयोग—कार्मणयोग ही होता है।

गति, श्रेणि—सरलरेखा के अनुसार होती है।

जीव—मुच्यमान आत्मा की गति विग्रहरहित ही होती है।

संसारी आत्मा की गति अविग्रह और सविग्रह होती है।

विग्रह चार से पहले अर्थात् तीन तक हो सकते हैं।

विग्रह का अभाव एक समय परिमित है अर्थात् विग्रहाभाववाली गति एक समय परिमाण है।

एक या दो समय तक जीव अनाहारक रहता है।

पुनर्जन्म मानने वाले प्रत्येक दर्शन के सामने अन्तराल गति संबन्धी निम्नलिखित पाँच प्रश्न उपस्थित होते हैं :

१. जन्मान्तर के लिए या मोक्ष के लिए जब जीव गति करता है तब अर्थात् अन्तराल गति के समय स्थूल शरीर न होने से जीव किस तरह प्रयत्न करता है ?

२. गतिशील पदार्थ गतिक्रिया करते हैं, वह किस नियम से ?

३. गतिक्रिया के कितने प्रकार हैं और कौन-कौन जीव किस-किस गतिक्रिया के अधिकारी हैं ?

४. अन्तराल गति का जघन्य या उत्कृष्ट कालमान कितना है और यह कालमान किस नियम पर अवलम्बित है ?

५. अन्तराल गति के समय जीव आहार करता है या नहीं, अगर नहीं तो जघन्य या उत्कृष्ट कितने काल तक और अनाहारक स्थिति का कालमान किस नियम पर अवलम्बित है ?

इन पाँच प्रश्नों पर आत्मा को व्यापक मानने वाले दर्शनों को भी विचार करना चाहिए; क्योंकि उन्हें भी पुनर्जन्म की उपपत्ति के लिए सूक्ष्म शरीर का गमन और अन्तराल गति माननी ही पड़ती है; परन्तु देहव्यापी आत्मवादी होने से जैन दर्शन को तो उक्त प्रश्नों पर अवश्य विचार करना चाहिए। यही विचार यहाँ क्रमशः किया गया है, जो इस प्रकार है—

अन्तराल गति दो प्रकार की है: ऋजु और वक्र। ऋजुगति से स्थानान्तर को जाते हुए जीव को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता; क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व शरीरजन्य वेग मिलता है; जिससे वह दूसरे प्रयत्न के बिना ही धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नये स्थान को पहुँच जाता है। दूसरी गति वक्र–घुमाव वाली होती है, इसलिए इस गति से जाते हुए जीव को नये प्रयत्न की अपेक्षा होती है; क्योंकि पूर्व शरीरजन्य प्रयत्न वहाँ तक ही काम करता है जहाँ से जीव को घूमना पड़े। घूमने का स्थान आते ही पूर्व देहजनित प्रयत्न मन्द पड़ जाता है; इसलिए वहाँ से सूक्ष्म शरीर जो जीव के साथ उस समय भी है उसी से प्रयत्न होता है। वही सूक्ष्म शरीरजन्य प्रयत्न कार्मणयोग कहलाता है। इसी आशय से सूत्र में कहा गया है कि विग्रह गति में कार्मणयोग ही होता है। सारांश यह है कि वक्रगति से जाने वाला जीव सिर्फ पूर्व शरीरजन्य प्रयत्न से नये स्थान को नहीं पहुँच सकता, इसके लिए नया प्रयत्न कार्मण-सूक्ष्म शरीर से ही साध्य है; क्योंकि उस समय दूसरा कोई स्थूल शरीर नहीं है। स्थूल शरीर न होने से उस समय मनोयोग और वचनयोग भी नहीं होते। २६।

योग

गतिशील पदार्थ दो ही प्रकार के हैं: जीव और पुद्गल। इन दोनों में गतिक्रिया की शक्ति है, इसलिए वे निमित्त वश गतिक्रिया में परिणत

होकर गति करने लगते हैं। बाह्य उपाधि से वे भले ही वक्रगति करें, पर स्वाभाविक गति तो उनकी सीधी ही होती है। सीधी

गति का नियम

गति का मतलब यह है कि पहले जिस आकाश क्षेत्र में जीव या परमाणु स्थित हों, वहाँ से गति करते हुए वे उसी आकाश क्षेत्र की सरल रेखा में चाहे ऊँचे, नीचे या तिरछे चले जाते हैं। इसी स्वाभाविक गति को लेकर सूत्र में कहा गया है कि गति अनुश्रेणि होती है। श्रेणि का मतलब पूर्वस्थान प्रमाण आकाश की अन्यूनाधिक सरल रेखा से है। इस स्वाभाविक गति के वर्णन से सूचित हो जाता है कि जब कोई प्रतिघातकारक कारण हो तब जीव या पुद्गल श्रेणि–सरल रेखा को छोड़कर वक्र-रेखा से भी गमन करते हैं। सारांश यह है कि गतिशील पदार्थों की गतिक्रिया प्रतिघातक निमित्त के अभाव में पूर्वस्थान प्रमाण सरल रेखा से ही होती है और प्रतिघातक निमित्त होने पर वक्ररेखा से होती है। २७।

पहले कहा गया है कि ऋजु और वक्र इस तरह गति दो प्रकार की होती है। ऋजु गति वह है जिसमें पूर्व स्थान से नये स्थान तक जाने में सरल रेखा का भंग न हो अर्थात् एक भी घुमाव न करना

गति का प्रकार

पड़े। वक्रगति वह है जिसमें पूर्व स्थान से नये स्थान तक जाने में सरलरेखा का भंग हो अर्थात् कम से कम एक घुमाव अवश्य हो। यह भी कहा गया है कि जीव, पुद्गल दोनों उक्त दोनों गतियों के अधिकारी हैं। यहाँ मुख्य प्रश्न जीव का है। पूर्व शरीर छोड़ कर स्थानान्तर को जाने वाले जीव दो प्रकार के हैं: एक तो वे जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर को सदा के लिए छोड़कर स्थानान्तर को जाते हैं, वे जीव मुच्यमान– मोक्ष जाने वाले कहलाते हैं। दूसरे वे जो पूर्व स्थूल शरीर को छोड़कर नये स्थूल शरीर को प्राप्त करते हैं। वे अन्तराल गति के समय सूक्ष्म शरीर से अवश्य वेष्टित होते हैं, ऐसे जीव संसारी कहलाते हैं। मुच्यमान

जीव मोक्ष के नियत स्थान पर ऋजुगति से ही जाते हैं, वक्रगति से नहीं; क्योंकि वे पूर्व स्थान की सरलरेखा वाले मोक्ष स्थान में ही प्रतिष्ठित होते हैं; थोड़ा भी इधर उधर नहीं। परन्तु संसारी जीव के उत्पत्ति स्थान का कोई नियम नहीं। कभी तो उनको जहाँ उत्पन्न होना हो वह नया स्थान पूर्व स्थान की बिलकुल सरलरेखा में होता है और कभी वक्ररेखा में; क्योंकि पुनर्जन्म के नवीन स्थान का आधार पूर्वकृत कर्म पर है, और कर्म विविध प्रकार का होता है; इसलिए संसारी जीव ऋजु और वक्र दोनों गतियों के अधिकारी हैं। सारांश यह कि मुक्तिस्थान में जाने वाले आत्मा की एक मात्र सरल गति होती है, और पुनर्जन्म के लिए स्थानान्तर में जानेवाले जीवों की सरल तथा वक्र दोनों गतियाँ होती हैं। ऋजुगति का दूसरा नाम इषुगति भी है, क्योंकि वह धनुष के वेग से प्रेरित बाण की गति की तरह पूर्व शरीरजनित वेग के कारण सीधी होती है। वक्रगति के पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका और गोमूत्रिका ऐसे तीन नाम हैं; जिसमें एक बार सरलरेखा का भङ्ग हो वह पाणिमुक्ता, जिसमें दो बार हो वह लाङ्गलिका और जिसमें तीन बार हो वह गोमूत्रिका। कोई भी ऐसी वक्रगति जीव की नहीं होती, जिसमें तीन से अधिक घुमाव करने पड़ें; क्योंकि जीव का नया उत्पत्ति स्थान कितना ही विश्रेणिपातित– वक्ररेखा स्थित क्यों न हो, पर वह तीन घुमाव में तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। पुद्गल की वक्रगति में घुमाव की संख्या का कोई भी नियम नहीं है, उसका आधार प्रेरक निमित्त पर है। २८,२९।

अन्तराल गति का कालमान जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट चार समय का है। जब ऋजुगति हो तब एक ही समय और जब वक्रगति हो तब दो, तीन या चार समय समझने चाहिएँ। समय की संख्या की

१. ये पाणिमुक्ता आदि संज्ञाएँ दिगम्बर व्याख्या ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

वृद्धि का आधार घुमाव की संख्या की वृद्धि पर अवलम्बित है। जिस वक्रगति में एक घुमाव हो उसका कालमान दो समय का, जिसमें दो घुमाव हों उसका कालमान तीन समय का, और जिसमें तीन घुमाव हों उसका कालमान चार समय का है। सारांश यह कि एक विग्रह की गति से उत्पत्ति स्थान में जब जाना हो तब पूर्व स्थान से घुमाव के स्थान तक पहुँचने में एक समय और घुमाव के स्थान से उत्पत्ति स्थान तक पहुंचने में दूसरा समय लग जाता है। इसी नियम के अनुसार दो विग्रह की गति में तीन समय और तीन विग्रह की गति में चार समय लग जाते हैं। यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि ऋजुगति से जन्मान्तर करने वाले जीव के पूर्व शरीर त्यागते समय ही नये आयुष और गति कर्म का उदय हो जाता है; और वक्रगति वाले जीव के प्रथम वक्र स्थान से नवीन आयु, गति और आनुपूर्वी नाम कर्म का यथा-संभव उदय हो जाता है, क्योंकि प्रथम वक्रस्थान तक ही पूर्वभवीय आयु आदि का उदय रहता है। ३०।

गति का कालमान

मुच्यमान जीव के लिए तो अन्तराल गति में आहार का प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि वह सूक्ष्म, स्थूल सब शरीरों से मुक्त है। पर संसारी जीव के लिए आहार का प्रश्न है; क्योंकि उसके अन्तराल गति में भी सूक्ष्म शरीर अवश्य होता है। आहार का मतलब है स्थूल शरीर योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना। ऐसा आहार संसारी जीवों में अन्तराल गति के समय में पाया भी जाता है और नहीं भी पाया जाता। जो ऋजुगति से या दो समय की एक विग्रह वाली गति से जाने वाले हों वे अनाहारक नहीं होते; क्योंकि ऋजुगति वाले जिस समय में पूर्व शरीर छोड़ते हैं उसी समय में नया स्थान प्राप्त करते हैं, समयान्तर नहीं होता। इसलिए उनकी ऋजुगति का समय त्यागे हुए

अनाहार का कालमान

पूर्वभवीय शरीर के द्वारा ग्रहण किये गए आहार का या नवीन जन्मस्थान में ग्रहण किये आहार का समय है। यही हाल एक विग्रह वाली गति का है; क्योंकि इसके दो समयों में से पहला समय पूर्व शरीर के द्वारा ग्रहण किये हुए आहार का है और दूसरा समय नये उत्पत्ति स्थान में पहुंचने का है; जिसमें नवीन शरीर धारण करने के लिए आहार किया जाता है। परन्तु तीन समय की दो विग्रह वाली और चार समय की तीन विग्रह वाली गति में अनाहारक स्थिति पाई जाती है; यह इसलिए कि इन दोनों गतियों के क्रम से तीन और चार समयों में से पहला समय त्यक्त शरीर के द्वारा लिए हुए आहार का और अन्तिम समय उत्पत्तिस्थान में लिए हुए आहार का है। पर इन प्रथम तथा अन्तिम दो समयों को छोड़कर बीच का काल आहारशून्य होता है। अतएव द्विविग्रह गति में एक समय और त्रिविग्रह गति में दो समय तक जीव अनाहारक माने गए हैं। यही भाव प्रस्तुत सूत्र में प्रकट किया गया है। सारांश यह है कि ऋजुगति और एकविग्रह गति में आहारक दशा ही रहती है और द्विविग्रह तथा त्रिविग्रह गति में प्रथम और चरम इन दो समयों को छोड़कर अनुक्रम से मध्यवर्ती एक तथा दो समय पर्यन्त अनाहारक दशा रहती है। कहीं कहीं तीन समय भी अनाहारक दशा के माने गये हैं; सो पाँच समय की चार विग्रह वाली गति के संभव की अपेक्षा से।

प्र०—अन्तराल गति में शरीर पोषक आहाररूप से स्थूल पुद्गलों के ग्रहण का अभाव तो मालूम हुआ, पर यह कहिये कि उस समय कर्मपुद्गल ग्रहण किये जाते हैं या नहीं?

उ०—किये जाते हैं।

प्र०—सो कैसे?

उ०—अन्तराल गति में भी संसारी जीवों के कार्मण शरीर अवश्य होता है। अतएव यह शरीरजन्य आत्मप्रदेश-कम्पन, जिसको कार्मण योग

कहते हैं, वह भी अवश्य होता है। जब योग है तब कर्मपुद्गल का ग्रहण भी अनिवार्य है; क्योंकि योग ही कर्मवर्गणा के आकर्षण का कारण है। जैसे जल की वृष्टि के समय फेंका गया संतप्त बाण जलकणों को ग्रहण करता व उन्हें सोखता हुआ चला जाता है, वैसे ही अन्तराल गति के समय कार्मण योग से चञ्चल जीव भी कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता और उन्हें अपने साथ मिलाता हुआ स्थानान्तर को जाता है। ३१।

जन्म और योनि के भेद तथा उनके स्वामी—

सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म । ३२ ।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः । ३३ ।

जराय्वण्डपोतजानां गर्भः । ३४ ।

नारकदेवानामुपपातः । ३५ ।

शेषाणां सम्मूर्छनम् । ३६ ।

सम्मूर्छन, गर्भ, और उपपात के भेद से तीन प्रकार का जन्म है।

सचित्त, शीत और संवृत ये तीन; तथा इन तीनों की प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण और विवृत; तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत—कुल नव उसकी अर्थात् जन्म की योनियाँ हैं।

जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भ जन्म होता है।

नारक और देवों का उपपात जन्म होता है।

शेष सब प्राणियों का सम्मूर्छन जन्म होता है।

पूर्व भव समाप्त होने पर संसारी जीव नया भव धारण करते हैं, इसके लिए उन्हें जन्म लेना पड़ता है; पर जन्म सबका एक सा नहीं होता यही बात यहाँ बतलाई गई है। पूर्व भव का स्थूल शरीर छोड़ने के बाद अन्तराल गति से सिर्फ कार्मण शरीर

जन्म भेद

के साथ आकर नवीन भव के योग्य स्थूल शरीर के लिए पहले पहल योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना जन्म कहलाता है। इसके सम्मूर्छन, गर्भ और उपपात ऐसे तीन भेद हैं। माता-पिता के संबन्ध के बिना ही उत्पत्ति स्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों को पहले पहल शरीर रूप में परिणत करना सम्मूर्छन जन्म है; उत्पत्ति स्थान में स्थित शुक्र और शोणित के पुद्गलों को पहले पहल शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भ जन्म है। उत्पत्ति स्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले पहल शरीर रूप में परिणत करना उपपात जन्म है। ३२।

जन्म के लिए कोई स्थान चाहिए। जिस स्थान में पहले पहल स्थूल शरीर के लिए ग्रहण किए गए पुद्गल कार्मण शरीर के साथ गरम लोहे में पानी की तरह मिल जाते हैं, वही स्थान योनि है।

योनि भेद

योनि के नव प्रकार हैं: सचित्त, शीत, संवृत; अचित्त, उष्ण, विवृत; सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत।

१. सचित्त—जो योनि जीव प्रदेशों से अधिष्ठित हो, २. अचित्त—जो अधिष्ठित न हो, ३. मिश्र—और जो कुछ भाग में अधिष्ठित हो तथा कुछ भाग में न हो, ४. शीत—जिस उत्पत्ति स्थान में शीत स्पर्श हो, ५. उष्ण—जिसमें उष्ण स्पर्श हो, ६. मिश्र—और जिसके कुछ भाग में शीत तथा कुछ भाग में उष्ण स्पर्श हो, ७. संवृत—जो उत्पत्ति स्थान ढका या दबा हो, ८. विवृत—जो ढका न हो, खुला हो, ९. मिश्र—और जो कुछ ढका तथा कुछ खुला हो।

किस-किस योनि में कौन-कौन से जीव उत्पन्न होते हैं, इसका ब्यौरा इस प्रकार है—

जीव	योनि
नारक और देव	अचित्त
गर्भज मनुष्य और तिर्यंच	मिश्र—सचित्ताचित्त

शेष सब अर्थात् पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य	त्रिविध– सचित्त, अचित्त, तथा मिश्र
गर्भज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव[1]	मिश्र– शीतोष्ण
तेजःकायिक– अग्निकाय	उष्ण
शेष सब अर्थात् चार स्थावर, तीन– विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य तथा नारक	त्रिविध– शीत, उष्ण, मिश्र– शीतोष्ण
नारक, देव और एकेन्द्रिय	संवृत
गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य	मिश्र– संवृतविवृत
शेष सब अर्थात् तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच	विवृत

प्र०—योनि और जन्म में क्या भेद है ?

उ०—योनि आधार है और जन्म आधेय है, अर्थात् स्थूल शरीर के लिए योग्य पुद्गलों का प्राथमिक ग्रहण जन्म है; और वह ग्रहण जिस जगह हो वह योनि है।

प्र०—योनियाँ तो चौरासी लाख कही जाती हैं, तो फिर यहाँ नव ही क्यों कही गईं ?

१. दिगम्बर टीका ग्रन्थों में शीत और उष्ण योनियों के स्वामी देव और नारक माने गए हैं। तदनुसार वहाँ शीत, उष्ण आदि त्रिविध योनियों के स्वामीयों में नारक को न गिनकर गर्भज मनुष्य और तिर्यंच को गिनना चाहिए।

उ०—चौरासी लाख का कथन विस्तार की अपेक्षा से है। पृथिवीकाय आदि जिस जिस निकाय के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के तरतम भाव वाले जितने जितने उत्पत्ति स्थान हैं उस उस निकाय की उतनी उतनी योनियाँ चौरासी लाख में गिनी गई हैं। यहाँ उन्हीं चौरासी लाख के सचित्त आदि रूप से संक्षेप में विभाग करके नव भेद बतलाए गए हैं।३२।

जन्म के स्वामी

ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के जन्म में से कौन कौन जन्म किन किन जीवों का होता है; इसका विभाग नीचे लिखे अनुसार है :

जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भजन्म होता है। देव और नारकों का उपपात जन्म होता है। शेष सब अर्थात् पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य का सम्मूर्छन जन्म होता है। जरायुज वे हैं जो जरायु से पैदा हों; जैसे मनुष्य, गाय, भैंस, बकरी आदि जाति के जीव। जरायु एक प्रकार का जाल जैसा आवरण है, जो रक्त और मांस से भरा होता है, और जिसमें पैदा होनेवाला बच्चा लिपटा रहता है। जो अण्डे से पैदा होने वाले अण्डज हैं, जैसे—साँप, मोर, चिड़िया, कबूतर आदि जाति के जीव। जो किसी प्रकार के आवरण से वेष्टित न होकर ही पैदा होते हैं वे पोतज हैं; जैसे हाथी, शशक, नेवला, चूहा आदि जाति के जीव। ये न तो जरायु से ही लिपटे हुए पैदा होते हैं और न अण्डे से; किन्तु खुले अङ्ग पैदा होते हैं। देवों और नारकों में जन्म के लिए खास नियत स्थान होता है जो उपपात कहलाता है। देवशय्या के ऊपर वाला दिव्यवस्त्र से आच्छन्न भाग देवों का उपपात क्षेत्र है, और वज्रमय भीत का गवाक्ष—कुंभी ही नारकों का उपपात क्षेत्र है; क्योंकि इस उपपात क्षेत्र में स्थित वैक्रियपुद्गलों को वे शरीर के लिए ग्रहण करते हैं। ३४—३६।

शरीरों के संबन्ध में वर्णन-

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ३७।
परं परं सूक्ष्मम् । ३८ ।
प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् । ३९ ।
अनन्तगुणे परे । ४० ।
अप्रतिघाते । ४१ ।
अनादिसम्बन्धे च । ४२ ।
सर्वस्य । ४३ ।
तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः । ४४ ।
निरुपभोगमन्त्यम् । ४५ ।
गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् । ४६।
वैक्रियमौपपातिकम् । ४७ ।
लब्धिप्रत्ययं च । ४८ ।
शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ।४९।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पाँच प्रकार के शरीर हैं ।

---

१. यहाँ प्रदेश शब्द का अर्थ भाष्य की वृत्ति में 'अनन्ताणुक स्कन्ध' किया है; परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि में 'परमाणु' अर्थ लिया है ।

२. इस सूत्र के बाद 'तैजसमपि' ऐसा सूत्र दिगम्बर परंपरा में है, श्वेताम्बर परंपरा में नहीं है। सर्वार्थसिद्धि आदि में उसका अर्थ इस प्रकार है – तैजस शरीर भी लब्धिजन्य है, अर्थात् जैसे वैक्रिय शरीर लब्धि से उत्पन्न किया जा सकता है, वैसे ही लब्धि से तैजस शरीर भी बनाया जा सकता है; इस अर्थ से यह फलित नहीं होता कि तैजस शरीर लब्धिजन्य ही है।

उक्त पाँच प्रकारों में जो शरीर पर पर अर्थात् आगे आगे का है, वह पूर्व पूर्व से सूक्ष्म है।

तैजस के पूर्ववर्ती तीन शरीरों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर शरीर प्रदेशों—स्कन्धों से असंख्यात गुण होता है।

और परवर्ती दो अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर प्रदेशों से अनन्त गुण होते हैं।

तैजस और कार्मण दोनों शरीर प्रतिघात रहित हैं।

आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध वाले हैं।

और सब संसारी जीवों के होते है।

एक साथ एक जीव के शरीर—तैजस, कार्मण से लेकर चार तक—विकल्प से होते हैं।

अन्तिम अर्थात् कार्मण शरीर ही उपभोग—सुखदुःखादि के अनुभव से रहित है।

पहला अर्थात् औदारिक शरीर सम्मूर्छनजन्म और गर्भजन्म से ही पैदा होता है।

वैक्रियशरीर उपपात जन्म से पैदा होता है।

तथा वह लब्धि से भी पैदा होता है।

आहारक शरीर शुभ—प्रशस्त पुद्गल द्रव्य जन्य, विशुद्ध—निष्पाप कार्यकारी, और व्याघात—बाधा रहित होता है, तथा वह चौदह पूर्व वाले मुनि के ही पाया जाता है।

जन्म ही शरीर का आरम्भ है, इसलिए जन्म के बाद शरीर का वर्णन किया गया है; जिसमें उससे संबन्ध रखनेवाले अनेक प्रश्नों पर नीचे लिखे अनुसार क्रमशः विचार किया है।

—देहधारी जीव अनन्त हैं, उनके शरीर भी अलग-अलग होने से वे व्यक्तिशः अनन्त हैं। पर कार्य, कारण आदि के सादृश्य की दृष्टिसे संक्षेप

शरीर के प्रकार और उनकी व्याख्या

में विभाग करके उनके पाँच प्रकार बतलाए गए हैं; जैसे—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

जीव के क्रिया करने के साधन को शरीर कहते हैं। १. जो शरीर जलाया जा सके व जिसका छेदन, भेदन हो सके वह औदारिक है। २. जो शरीर कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी पतला, कभी मोटा, कभी एक, कभी अनेक इत्यादि अनेक रूपोंको धारण कर सके वह वैक्रिय है। ३. जो शरीर सिर्फ चतुर्दशपूर्वी मुनिके द्वारा ही रचा जा सके वह आहारक है। ४. जो शरीर तेजोमय होने से खाए हुए आहार आदि के परिपाक का हेतु और दीप्ति का निमित्त हो वह तैजस है। और ५. कर्मसमूह ही कार्मण शरीर है। ३७।

स्थूल-सूक्ष्म भाव

उक्त पाँच शरीर में सबसे अधिक स्थूल औदारिक शरीर है, वैक्रिय उससे सूक्ष्म है; आहारक वैक्रिय से भी सूक्ष्म है; इसी तरह आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण सूक्ष्म, सूक्ष्मतर है।

प्र०—यहाँ स्थूल और सूक्ष्म का मतलब क्या है?

उ०—स्थूल और सूक्ष्म का मतलब रचना की शिथिलता और सघनता से है, परिमाण से नहीं। औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, पर आहारक से स्थूल है। इसी तरह आहारक आदि शरीर भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्म और उत्तर-उत्तर की अपेक्षा स्थूल हैं; अर्थात् यह स्थूल-सूक्ष्म भाव अपेक्षा कृत है। इसका मतलब यह है कि जिस शरीर की रचना जिस दूसरे शरीर की रचना से शिथिल हो वह उससे स्थूल और दूसरा उससे सूक्ष्म। रचना की शिथिलता और सघनता पौद्गलिक परिणति पर निर्भर है। पुद्गलों में अनेक प्रकार के परिणमन की शक्ति है, इससे वे परिमाण में थोड़ा होने पर भी जब शिथिल रूप में परिणत होते हैं तब स्थूल कहलाते हैं और परिणाम में बहुत होने पर भी जैसे-जैसे सघन होते जाते हैं

वैसे-वैसे वे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर कहलाते हैं। उदाहरणार्थ– भिंडीकी फली और हाथी का दाँत ये दोनों बराबर परिमाणवाले लेकर देखें जायँ, तो भिंडी की रचना शिथिल होगी और दाँत की रचना उससे निबिड़; इसीसे परिणाम बराबर होने पर भी भिंडी की अपेक्षा दाँत का पौद्गलिक द्रव्य अधिक है।३८।

आरम्भक–उपादान द्रव्य का परिणाम

स्थूल, सूक्ष्म भाव की उक्त व्याख्या के अनुसार उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भक द्रव्य पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा परिमाण में अधिक होता है, यह बात मालूम हो जाती है; पर वह परिमाण जितना-जितना पाया जाता है, उसीको दो सूत्रों में बतलाया गया है।

परमाणुओं से बने हुए जिन स्कन्धों से शरीर का निर्माण होता है वे ही स्कन्ध शरीर के आरम्भक द्रव्य हैं। जब तक परमाणु अलग-अलग हों तब तक उनसे शरीर नहीं बनता। परमाणुपुंज जो स्कन्ध कहलाते हैं उन्हीं से शरीर बनता है। वे स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओं के बने हुए होने चाहिएँ। औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्धों से वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध असंख्यात गुण होते हैं, अर्थात् औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्ध अनन्त परमाणुओं के होते हैं और वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओं के; पर वैक्रिय शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या, औदारिक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या से असंख्यात गुण अधिक होती है। यही: अधिकता वैक्रिय और आहारक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या में समझनी चाहिए।

आहारक स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या से तैजस के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या अनन्तगुण होती है, इसी तरह तैजस से कार्मण के स्कन्धगत परमाणु भी अनन्तगुण अधिक हैं। इस प्रकार देखने से यह स्पष्ट है कि पूर्व पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तर-उत्तर

शरीर का आरम्भक द्रव्य अधिक अधिक होता है। फिर भी परिणमन की विचित्रता के कारण ही उत्तर-उत्तर शरीर निबिड़, निबिड़तर, निबिड़तम बनता जाता है, और सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम कहलाता है।

प्र०—औदारिक के स्कन्ध भी अनन्त परमाणुवाले और वैक्रिय आदि के स्कन्ध भी अनन्त परमाणु वाले हैं, तो फिर उन स्कन्धों में न्यूनाधिकता क्या हुई ?

उ०—अनन्त संख्या अनन्त प्रकार की है। इसलिए अनन्तरूप से समानता होने पर भी औदारिक आदि के स्कन्ध से वैक्रिय आदि के स्कन्ध का असंख्यात गुण अधिक होना असम्भव नहीं है। ३९,४०।

अन्तिम दो शरीरों का स्वभाव, कालमर्यादा और स्वामी

उक्त पाँच शरीरों में से पहले तीन की अपेक्षा पिछले दो में कुछ विशेषता है; जो यहाँ तीन बातों के द्वारा क्रमशः तीन सूत्रों में बतलाई गई है।

तैजस और कार्मण ये दो शरीर सारे लोक में कहीं भी प्रतिघात नहीं पाते अर्थात् वज्र जैसी कठिन वस्तु भी उन्हें प्रवेश करने से रोक नहीं सकती; क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं। यद्यपि एक मूर्त वस्तु का दूसरी मूर्त वस्तु से प्रतिघात देखा जाता है तथापि यह प्रतिघात का नियम स्थूल वस्तुओं में लागू पड़ता है, सूक्ष्म में नहीं। सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश कर पाती है जैसे लोहपिण्ड में अग्नि।

स्वभाव

प्र०—तब तो सूक्ष्म होने से वैक्रिय और आहारक को भी अप्रतिघाती ही कहना चाहिए ?

उ०—अवश्य, वे भी बिना प्रतिघात के प्रवेश कर लेते हैं। पर यहाँ अप्रतिघात का मतलब लोकान्त पर्यन्त अव्याहत गति से है। वैक्रिय और आहारक अव्याहत गति वाले हैं, पर तैजस, कार्मण की तरह सारे लोक में नहीं, किन्तु लोक के खास भाग में अर्थात् त्रसनाड़ी में ही।

तैजस और कार्मण का संबन्ध आत्मा के साथ प्रवाह रूप से जैसा अनादि है वैसा पहले तीन शरीरों का नहीं है; क्योंकि वे तीनों शरीर

कालमर्यादा

अमुक काल के बाद कायम नहीं रह सकते। इसलिए औदारिक आदि तीनों शरीर कदाचित्—अस्थायी संबन्ध वाले कहे जाते हैं और तैजस, कार्मण अनादि संबन्ध वाले।

प्र०—जब कि वे जीव के साथ अनादि संबद्ध हैं, तब तो उनका अभाव कभी न होना चाहिए; क्योंकि अनादिभाव का नाश नहीं होता?

उ०—उक्त दोनों शरीर व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं, पर प्रवाह की अपेक्षा से अनादि हैं। अतएव उनका भी अपचय, उपचय हुआ करता है। जो भावात्मक पदार्थ व्यक्तिरूप से अनादि होता है वही नष्ट नहीं होता, जैसे परमाणु।

स्वामी

तैजस और कार्मण शरीर को सभी संसारी धारण करते हैं; पर औदारिक, वैक्रिय और आहारक को नहीं। अतएव तैजस, कार्मण के स्वामी सभी संसारी हैं, और औदारिक आदि के स्वामी कुछ ही होते हैं।

प्र०—तैजस और कार्मण के बीच कुछ अन्तर बतलाइए?

उ०—कार्मण यह सारे शरीरों की जड़ है; क्योंकि वह कर्म स्वरूप है और कर्म ही सब कार्यों का निमित्त कारण है। वैसे तैजस सब का कारण नहीं, वह सब के साथ अनादिसंबद्ध रहकर भुक्त आहार के पाचन आदि में सहायक होता है। ४१–४२।

एक साथ लभ्य शरीरों की संख्या

तैजस और कार्मण ये दो शरीर सभी संसारी जीवों के संसारकाल पर्यंत अवश्य होते हैं; पर औदारिक आदि बदलते रहते हैं, इससे वे कभी होते हैं और कभी नहीं। अतएव यह प्रश्न होता है कि प्रत्येक जीव के कम से कम और अधिक से अधिक कितने

१ इस बात का प्रतिपादन गीता में भी है—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः, अध्याय २, श्लो० १६।

शरीर हो सकते हैं ? इसका उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। एक साथ एक संसारी जीव के कम से कम दो और अधिक से अधिक चार शरीर तक हो सकते हैं, पाँच कभी नहीं होते। जब दो होते हैं तब तैजस और कार्मण; क्योंकि ये दोनों यावत्-संसार भावी हैं। ऐसी स्थिति अन्तराल गति में ही पाई जाती है; क्योंकि उस समय अन्य कोई भी शरीर नहीं होता। जब तीन होते हैं तब तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रिय। पहला प्रकार मनुष्य, तिर्यञ्च में और दूसरा प्रकार देव, नारक में जन्मकाल से लेकर मरण पर्यन्त पाया जाता है। जब चार होते हैं तब तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक। पहला विकल्प वैक्रिय लब्धि के प्रयोग के समय कुछ ही मनुष्य तथा तिर्यंचों में पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दशपूर्वी मुनि में ही होता है। पाँच शरीर एक साथ किसी के भी नहीं होते, क्योंकि वैक्रिय लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ संभव नहीं है।

प्र०—उक्त रीति से दो, तीन या चार शरीर जब हों तब उनके साथ एक ही समय में एक जीव का संबन्ध कैसे घट सकेगा ?

उ०—जैसे एक ही प्रदीप का प्रकाश एक साथ अनेक वस्तुओं पर पड़ सकता है, वैसे एक ही जीव के प्रदेश अनेक शरीरों के साथ अविच्छिन्न रूप से संबद्ध हो सकते हैं।

प्र०—क्या किसी के भी कोई एक ही शरीर नहीं होता ?

उ०—नहीं। सामान्य सिद्धान्त ऐसा है कि तैजस, कार्मण ये दो शरीर कभी अलग नहीं होते। अतएव कोई एक शरीर कभी संभव नहीं, पर [1]किसी आचार्य का ऐसा मत है कि तैजस शरीर कार्मण की तरह यावत्-संसार भावी नहीं है, वह आहारक की तरह लब्धिजन्य ही है।

१. यह मत भाष्य में निर्दिष्ट है, देखो अ० २, सू० ४४।

इस मत के अनुसार अन्तराल गति में सिर्फ कार्मण शरीर होता है । अतएव उस समय एक शरीर का पाया जाना संभव है ।

प्र०—जो यह कहा गया कि वैक्रिय और आहारक इन दो लब्धियों का युगपत्—एक साथ प्रयोग नहीं होता इसका क्या कारण ?

उ०—वैक्रियलब्धि के प्रयोग के समय और लब्धि से शरीर बना लेने पर नियमे से प्रमत्त दशा होती है । परन्तु आहारक के विषय में ऐसा नहीं है; क्योंकि आहारक लब्धि का प्रयोग तो प्रमत्त दशा में होता है । पर उससे शरीर बना लेने के बाद शुद्ध अध्यवसाय संभव होने के कारण अप्रमत्तभाव पाया जाता है; जिससे उक्त दो लब्धियों का प्रयोग एक साथ विरुद्ध है। सारांश यह है कि युगपत् पाँच शरीरों का न होना कहा गया है, सो आविर्भाव की अपेक्षा से। शक्ति रूपसे तो पाँच भी हो सकते हैं; क्योंकि आहारक लब्धि वाले मुनि के वैक्रिय लब्धि होना भी संभव है।[1] ४४।

प्रयोजन

प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई प्रयोजन होता है । इसलिए शरीर भी सप्रयोजन होने ही चाहिए; पर उनका मुख्य प्रयोजन क्या है और वह सब शरीरों के लिए समान है या कुछ विशेषता भी है ? यह प्रश्न होता है । इसीका उत्तर यहाँ दिया गया है । शरीर का मुख्य प्रयोजन उपभोग है जो पहले चार शरीरों से सिद्ध होता है । सिर्फ अन्तिम—कार्मण शरीर से सिद्ध नहीं होता, इसीसे उसको निरुपभोग कहा है ।

प्र०—उपभोग का मतलब क्या है ?

उ०—कर्ण आदि इन्द्रियों से शुभ-अशुभ शब्द आदि विषय ग्रहण करके सुख-दुःख का अनुभव करना; हाथ, पाँव आदि अवयवों से दान, हिंसा आदि शुभ-अशुभ कर्म का बंध करना; बद्धकर्म के शुभ-अशुभ विपाक

---

१. यह विचार अ० २, सूत्र ४४ की भाष्यवृत्ति में है ।

का अनुभव करना, पवित्र अनुष्ठान द्वारा कर्म की निर्जरा—क्षय करना यह सब उपभोग कहलाता है।

प्र०—औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर सेन्द्रिय तथा सावयव हैं, इसलिए उक्त प्रकार का उपभोग उनसे साध्य हो सकता है। पर तैजस शरीर जो न तो सेन्द्रिय है और न सावयव है, उससे उक्त उपभोग का होना कैसे संभव है ?

उ०—यद्यपि तैजस शरीर सेन्द्रिय और सावयव—हस्तपादादि युक्त नहीं है, तथापि उसका उपयोग पाचन आदि ऐसे कार्य में हो सकता है; जिससे सुख-दुःख का अनुभव आदि उक्त उपभोग सिद्ध हो सकता है, उसका अन्य कार्य शाप और अनुग्रह रूप भी है। अर्थात् अन्न-पाचन आदि कार्य में तैजस शरीर का उपयोग तो सब कोई करते हैं; पर जो विशिष्ट तपस्वी तपस्याजन्य खास लब्धि प्राप्त कर लेते हैं वे कुपित होकर उस शरीर द्वारा अपने कोपभाजन को जला तक सकते हैं और प्रसन्न होकर उस शरीर से अपने अनुग्रह पात्र को शान्ति भी पहुँचा सकते हैं। इस तरह तैजस शरीर का शाप, अनुग्रह आदि में उपयोग हो सकने से सुख-दुःख का अनुभव, शुभाशुभ कर्म का बन्ध आदि उक्त उपभोग उसका माना गया है।

प्र०—ऐसी बारीकी से देखा जाय तो कार्मण शरीर जो कि तैजस के समान ही सेन्द्रिय और सावयव नहीं है, उसका भी उपयोग घट सकेगा; क्योंकि वही अन्य सब शरीरों की जड़ है। इसलिए अन्य शरीरों का उपभोग असल में कार्मण का ही उपभोग माना जाना चाहिए फिर उसे निरुपभोग क्यों कहा ?

उ०—ठीक है, उक्त रीति से कार्मण भी सोपभोग अवश्य है। यहाँ उसे निरुपभोग कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जब तक अन्य

शरीर सहायक न हो तब तक अकेले कार्मण शरीर से उक्त प्रकार का उपभोग साध्य नहीं हो सकता; अर्थात् उक्त विशिष्ट उपभोग को सिद्ध करने में साक्षात् साधन औदारिक आदि चार शरीर हैं। इसीसे वे सोपभोग कहे गए हैं; और परम्परया साधन होने से कार्मण को निरुपभोग कहा है। ४५।

जन्मसिद्धता और कृत्रिमता

अन्त में एक यह भी प्रश्न होता है कि कितने शरीर जन्मसिद्ध हैं और कितने कृत्रिम? तथा जन्मसिद्ध में कौनसा शरीर किस जन्म से पैदा होता है और कृत्रिम का कारण क्या है? इसीका उत्तर चार सूत्रों में दिया गया है।

तैजस और कार्मण ये दो न तो जन्मसिद्ध हैं और न कृत्रिम। अर्थात् वे जन्म के बाद भी होनेवाले हैं फिर भी वे अनादि संबद्ध हैं। औदारिक जन्मसिद्ध ही है, जो गर्भ तथा सम्मूर्छन इन दो जन्मों से पैदा होता है तथा जिसके स्वामी मनुष्य और तिर्यंच ही हैं। वैक्रिय शरीर जन्मसिद्ध और कृत्रिम दो प्रकार का है। जो जन्मसिद्ध है वह उपपात जन्म के द्वारा पैदा होता है और देवों तथा नारकों के ही होता है। कृत्रिम वैक्रिय का कारण लब्धि है। लब्धि एक प्रकार की तपोजन्य शक्ति है; जो कुछ ही गर्भज मनुष्यों और तिर्यंचों में संभव है। इसलिए वैसी लब्धि से होने वाले वैक्रिय शरीर के अधिकारी गर्भज मनुष्य और तिर्यंच ही हो सकते हैं। कृत्रिम वैक्रिय की कारणभूत एक दूसरे प्रकार की भी लब्धि मानी गई है, जो तपोजन्य न होकर जन्म से ही मिलती है। ऐसी लब्धि कुछ बादर वायुकायिक जीवों में ही मानी गई है। इससे वे भी लब्धिजन्य—कृत्रिम वैक्रियशरीर के अधिकारी हैं। आहारकशरीर कृत्रिम ही है। इसका कारण विशिष्ट लब्धि ही है; जो

मनुष्य के सिवा अन्य जाति में नहीं होती और मनुष्य में भी विशिष्ट मुनि के ही होती है।

प्र०—कौन से विशिष्ट मुनि ?

उ०—चतुर्दशपूर्वपाठी।

प्र०—वे उस लब्धि का प्रयोग कब और किस लिए करते हैं ?

उ०—किसी सूक्ष्म विषय में संदेह होने पर संदेह निवारण के लिए ही अर्थात् जब कभी किसी चतुर्दशपूर्वी को गहन विषय में संदेह हो और सर्वज्ञ का सन्निधान न हो तब वे औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असंभव समझ कर अपनी विशिष्ट लब्धि का प्रयोग करते हैं और हस्तप्रमाण छोटा-सा शरीर बनाते हैं, जो शुभ पुद्गल-जन्य होने से सुन्दर होता है, प्रशस्त उद्देश्य से बनाये जाने के कारण निरवद्य होता है और अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण अव्याघाती अर्थात् किसी को रोकने वाला या किसी से रुकने वाला नहीं होता। ऐसे शरीर से वे क्षेत्रान्तर में सर्वज्ञ के पास पहुँच कर उनसे संदेह निवारण कर फिर अपने स्थान में वापिस आ जाते हैं। यह कार्य सिर्फ अंतर्मुहूर्त में हो जाता है।

प्र०—और कोई शरीर लब्धिजन्य नहीं है ?

उ०—नहीं।

प्र०—शाप और अनुग्रह के द्वारा तैजस का जो उपभोग बतलाया गया उससे तो वह लब्धिजन्य स्पष्ट मालूम होता है फिर और कोई शरीर लब्धिजन्य नहीं है, सो क्यों ?

उ०—यहाँ लब्धिजन्य का मतलब उत्पत्ति से है, प्रयोग से नहीं। तैजस की उत्पत्ति लब्धि से नहीं होती, जैसे वैक्रिय और आहारक की होती है; पर उसका प्रयोग कभी लब्धि से किया जाता है। इसी आशय से तैजस को यहाँ लब्धिजन्य—कृत्रिम नहीं कहा। ४६–४९।

वेद–लिंग विभाग—

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि । ५० ।

न देवाः । ५१ ।

नारक और संमूर्छिम नपुंसक ही होते हैं ।

देव नपुंसक नहीं होते ।

शरीरों का वर्णन हो चुकने के बाद लिंग का प्रश्न होता है । इसी का स्पष्टीकरण यहाँ किया गया है । लिंग, चिह्न को कहते हैं । वह तीन प्रकार का पाया जाता है । यह बात पहले औदयिक भावों की संख्या बतलाते समय कही जा चुकी है । तीन लिंग ये हैं—पुंलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग । लिंग का दूसरा नाम वेद भी है । ये तीनों वेद [२]द्रव्य और भाव रूप से दो दो प्रकार के हैं । द्रव्यवेद का मतलब ऊपर के चिह्न से है और भाववेद का मतलब अभिलाषा विशेष से है । १. जिस चिह्न से पुरुष की पहचान होती है वह द्रव्य पुरुषवेद है और स्त्री के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव पुरुषवेद है । २. स्त्री की पहचान का साधन द्रव्य स्त्रीवेद और पुरुष के संसर्ग सुख की अभिलाषा का भाव स्त्रीवेद है । ३. जिसमें कुछ स्त्री के चिह्न और कुछ पुरुष के चिह्न हों वह द्रव्य नपुंसकवेद और स्त्री पुरुष दोनों के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव नपुंसकवेद है । द्रव्य-वेद पौद्गलिक आकृति रूप है जो नाम कर्म के उदय का फल है । भाव-वेद एक प्रकार का मनोविकार है, जो मोहनीय कर्म के उदय का फल है । द्रव्यवेद और भाववेद के बीच साध्य-साधन या पोष्य-पोषक का संबन्ध है ।

---

१. देखो अ० २, सू० ६ ।

२. द्रव्य और भाव वेद का पारस्परिक संबन्ध तथा तत्संबन्धी अन्य आवश्यक बातें जानने के लिए देखो, हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ पृ० ५३ की टिप्पणी ।

विभाग नारक और सम्मूर्छिम जीवों के नपुंसक वेद होता है। देवों के नपुंसक वेद नहीं होता, शेष दो होते हैं। बाकी के सब अर्थात् गर्भज मनुष्यों तथा तिर्यंचों के तीनों वेद हो सकते हैं।

विकार की तरतमता पुरुषवेद का विकार सब से कम स्थायी होता है। उससे स्त्रीवेद का विकार अधिक स्थायी और नपुंसक वेद का विकार स्त्रीवेद के विकार से भी अधिक स्थायी होता है। यह बात उपमान के द्वारा इस तरह समझाई गई है—

पुरुषवेद का विकार घास की अग्नि के समान है, जो शीघ्र शान्त हो जाता है और प्रकट भी शीघ्र होता है। स्त्रीवेद का विकार अंगारे के समान है जो जल्दी शान्त नहीं होता और प्रकट भी जल्दी नहीं होता। नपुंसक वेद का विकार संतप्त ईंट के समान है जो बहुत देर में शान्त होता है।

स्त्री में कोमल भाव मुख्य है जिसे कठोर तत्त्व की अपेक्षा रहती है। पुरुष में कठोर भाव मुख्य है जिसे कोमल तत्त्व की अपेक्षा रहती है। पर नपुंसक में दोनों भावों का मिश्रण होने से दोनों तत्त्वों की अपेक्षा रहती है। ५०,५१।

आयुष के प्रकार और उनके स्वामी—

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः। ५२।

औपपातिक (नारक और देव), चरम शरीरी, उत्तम पुरुष और असंख्यातवर्षजीवी ये अनपवर्त्तनीय आयु वाले ही होते हैं।

युद्ध आदि विप्लव में हजारों हट्टे-कट्टे नौजवानों को एक साथ मरते देखकर और बूढ़े तथा जर्जर देह वालों को भी भयानक आफत से बचते

देखकर यह संदेह होता है कि क्या अकाल मृत्यु भी है ? जिस से अनेक व्यक्ति एक साथ मर जाते हैं और कोई नहीं भी मरता; इसका उत्तर हाँ और ना में यहाँ दिया गया है।

आयु दो प्रकार की है—अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय। जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही शीघ्र भोगी जा सके वह अपवर्त्तनीय और जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके वह अनपवर्त्तनीय; अर्थात् जिसका भोगकाल बन्धकालीन स्थितिमर्यादा से कम हो वह अपवर्त्तनीय और जिसका भोगकाल उक्त मर्यादा के बराबर ही हो वह अनपवर्त्तनीय आयु कही जाती है।

अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय आयु का बन्ध स्वाभाविक नहीं है; किन्तु परिणाम के तारतम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्तमान जन्म में निर्माण की जाती है। उस समय अगर परिणाम मन्द हों तो आयुका बन्ध शिथिल हो जाता है जिससे निमित्त मिलने पर बन्धकालीन कालमर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत अगर परिणाम तीव्र हों तो आयु का बन्ध गाढ़ होता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बन्धकालीन कालमर्यादा नहीं घटती और न आयु एक साथ ही भोगी जा सकती है। जैसे, अत्यन्त दृढ़ होकर खड़े हुए पुरुषों की पंक्ति अभेद्य और शिथिल होकर खड़े हुए पुरुषों की पंक्ति भेद्य होती है; अथवा जैसे सघन बोए हुए बीजों के पौधे पशुओं के लिए दुष्प्रवेश्य और विरल विरल बोए हुए बीजों के पौधे उनके लिए सुप्रवेश्य होते हैं; वैसे ही तीव्र परिणाम से गाढ़ रूपसे बद्ध आयु शस्त्र-विष आदि का प्रयोग होने पर भी अपनी नियत कालमर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती और मन्द परिणाम से शिथिल रूप से बद्ध आयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही अंतर्मुहूर्त्त मात्र में भोग ली जाती है। आयु के इस

शीघ्र भोग को ही अपवर्तना या अकाल मृत्यु कहते हैं और नियत स्थितिक भोग को अनपवर्त्तना या कालमृत्यु कहते हैं। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम—उपक्रम सहित ही होती है। तीव्र शस्त्र, तीव्र विष, तीव्र अग्नि आदि जिन निमित्तों से अकाल मृत्यु होती है उन निमित्तों का प्राप्त होना उपक्रम है। ऐसा उपक्रम अपवर्त्तनीय आयु के अवश्य होता है; क्योंकि वह आयु नियम से कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही भोगने योग्य होती है। परन्तु अनपवर्त्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार की होती है अर्थात् उस आयु को अकालमृत्यु लाने वाले उक्त निमित्तों का संनिधान होता भी है और नहीं भी होता। उक्त निमित्तों का संनिधान होने पर भी अनपवर्त्तनीय आयु नियत कालमर्यादा के पहले पूर्ण नहीं होती। सारांश यह कि अपवर्तनीय आयु वाले प्राणियों को शस्त्र आदि कोई न कोई निमित्त मिल ही जाता है; जिससे वे अकाल में ही मर जाते हैं और अनपवर्त्तनीय आयु वालों को कैसा भी प्रबल निमित्त क्यों न मिले पर वे अकाल में नहीं मरते।

उपपात जन्मवाले नारक और देव ही होते हैं। चरमदेह तथा उत्तमपुरुष मनुष्य ही होते हैं। बिना जन्मान्तर किये उसी शरीर से मोक्ष पाने वाले चरमदेह कहलाते हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, आदि उत्तमपुरुष कहलाते हैं। असंख्यात वर्षजीवी कुछ मनुष्य और कुछ तिर्यंच ही होते हैं। इनमें से औपपातिक और असंख्यात वर्षजीवी निरुपक्रम अनपवर्त्तनीय आयु वाले ही होते हैं। चरमदेह और उत्तमपुरुष सोपक्रम अनपवर्त्तनीय तथा निरुपक्रम अनपवर्त्तनीय—दोनों

अधिकारी

१. असंख्यात वर्षजीवी मनुष्य तीस अकर्मभूमियों, छप्पन अन्तर्द्वीपों और कर्मभूमियों में उत्पन्न युगलिक ही हैं। परन्तु असंख्यात वर्षजीवी तिर्यंच तो उक्त क्षेत्रों के अलावा ढाई द्वीप के बाहर के द्वीप-समुद्रों में भी पाये जाते हैं।

तरह की आयु वाले होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी मनुष्य, तिर्यंच अपवर्त्तनीय आयु वाले पाये जाते हैं।

प्र०—नियत कालमर्यादा के पहले आयु का भोग हो जाने से कृतनाश, अकृतागम और निष्फलता ये दोष लगेंगे, जो शास्त्र में इष्ट नहीं हैं; उनका निवारण कैसे होगा?

उ०—शीघ्र भोग होने में उक्त दोष नहीं हैं, क्योंकि जो कर्म चिरकाल तक भोगा जा सकता है, वही एक साथ भोग लिया जाता है, उसका कोई भी भाग बिना विपाकानुभव किये नहीं छूटता। इसलिए न तो कृतकर्म का नाश है और न बद्धकर्म की निष्फलता ही है। इसी तरह कर्मानुसार आने वाली मृत्यु ही आती है; अतएव अकृतकर्म का आगम भी नहीं है। जैसे घास की सघन राशि में एक तरफ से छोटा अग्निकण छोड़ दिया जाय, तो वह अग्निकण एक एक तिनके को क्रमशः जलाते जलाते उस सारी राशि को विलम्ब से जला सकता है। वे ही अग्निकण घास की शिथिल और विरल राशि में चारों ओर से छोड़ दिये जायँ, तो एक साथ उसे जला डालते हैं।

इसी बात को विशेष स्फुट करने के लिए शास्त्र में और भी दो दृष्टान्त दिये गए हैं: पहला गणितक्रिया का और दूसरा वस्त्र सुखाने का। जैसे किसी विशिष्ट संख्या का लघुतम छेद निकालना हो, तो इसके लिए गणितप्रक्रिया में अनेक उपाय हैं। निपुण गणितज्ञ अभीष्ट फल निकालने के लिए एक ऐसी रीति का उपयोग करता है, जिससे बहुत ही शीघ्र अभीष्ट परिणाम निकल आता है और दूसरा साधारण जानकार मनुष्य भागाकार आदि विलम्ब-साध्य क्रिया से देरी से अभीष्ट परिणाम ला पाता है। परिणाम तुल्य होने पर भी दक्ष गणितज्ञ उसे शीघ्र निकाल लेता है और साधारण गणितज्ञ देरी से निकाल पाता है। इसी तरह से

समान रूप में भीगे हुए दो कपड़ों में से एक को समेट कर और दूसरे को फैलाकर सुखाया जाय तो पहला देरी से सूखेगा और दूसरा जल्दी। पानी का परिणाम और शोषणक्रिया समान होने पर भी कपड़े के संकोच और विस्तार के कारण उसके सोखने में देरी और जल्दी का अन्तर पड़ता है। समान परिमाण युक्त अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु के भोगने में भी सिर्फ देरी और जल्दी का ही अन्तर पड़ता है। इसलिए किये का नाश आदि उक्त दोष नहीं आते। ५२।

तीसरा अध्याय

दूसरे अध्याय में गति की अपेक्षा से संसारी जीव के नारक, मनुष्य, तिर्यंच और देव ऐसे जो चार प्रकार कहे गए हैं; उनका स्थान, आयु, अवगाहना आदि के वर्णन द्वारा विशेष स्वरूप तीसरे और चौथे अध्याय में दिखाना है। तीसरे अध्याय में नारक, तिर्यंच और मनुष्य या वर्णन है और चौथे में देव का।

नारकों का वर्णन—

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घना-
म्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः । १ ।
तासु नरकाः । २ ।
नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः । ३ ।
परस्परोदीरितदुःखाः । ४ ।
संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः । ५ ।
तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः
सत्त्वांना परा स्थितिः । ६ ।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ हैं। ये भूमियाँ घनाम्बु, वात और आकाश पर स्थित हैं, एक दूसरे के नीचे हैं और नीचे की ओर अधिक अधिक विस्तीर्ण हैं।

उन भूमियों में नरक हैं।

वे नरक नित्य—निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले हैं।

तथा परस्पर उत्पन्न किए गए दुःख वाले होते हैं।

और चौथी भूमि से पहले अर्थात् तीन भूमियों तक संक्लिष्ट असुरों के द्वारा उत्पन्न किये गए दुःख वाले भी होते हैं।

उन नरकों में वर्तमान प्राणियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तेतीस सागरोपम प्रमाण है।

लोक के अधः, मध्य और ऊर्ध्व इस प्रकार तीन भाग हैं। अधोभाग मेरु पर्वत के समतल के नीचे नव सौ योजन की गहराई के बाद गिना जाता है; जो आकाश में औंधे किये हुए शराव—सकोरे के समान है अर्थात् नीचे नीचे विस्तीर्ण है। समतल के नीचे तथा ऊपर के नव सौ नव सौ योजन अर्थात् कुल अठारह सौ योजन का मध्य लोक है; जो आकार में झालर के समान बराबर आयामविष्कम्भ—लम्बाई-चौड़ाई वाला है मध्य लोक के ऊपर का सम्पूर्ण लोक ऊर्ध्व लोक है, जो आकार में पखावज—मृदङ्गविशेष के समान है।

नारकों के निवासस्थान की भूमियाँ 'नरकभूमि' कहलाती हैं, जो अधोलोक में हैं। ऐसी भूमियाँ सात हैं जो समश्रेणि में न होकर एक दूसरे के नीचे हैं। उनकी आयाम—लम्बाई, विष्कम्भ—चौड़ाई आपस में समान नहीं है; किन्तु नीचे की भूमि की लम्बाई-चौड़ाई अधिक अधिक है; अर्थात् पहली भूमि से दूसरी की लम्बाई-चौड़ाई अधिक है, दूसरी से तीसरी की, इसी तरह छठी से सातवीं तक की लम्बाई-चौड़ाई अधिक अधिक होती गई है।

ये सातों भूमियाँ एक दूसरे के नीचे हैं, पर बिलकुल लगी हुई नहीं हैं; एक दूसरे के बीच में बहुत बड़ा अन्तर है। इस अन्तर में घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश क्रमशः नीचे नीचे हैं अर्थात्

पहली नरकभूमि के नीचे घनोदधि है, इसके नीचे घनवात, घनवात के नीचे तनुवात और तनुवात के नीचे आकाश है। आकाश के बाद दूसरी नरक भूमि है। इस भूमि और तीसरी भूमिके बीच भी घनोदधि आदि का वही क्रम है। इसी तरह सातवीं भूमि तक सब भूमियों के नीचे उसी क्रम से घनोदधि आदि वर्तमान हैं। ऊपर की अपेक्षा नीचे का पृथ्वी-पिंड—भूमि की मोटाई अर्थात् ऊपर से लेकर नीचे के तल तक का भाग कम कम है; जैसे प्रथम भूमिकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन, दूसरी की एक लाख बत्तीस हजार, तीसरी की एक लाख अट्ठाईस हजार,

१. भगवती सूत्र में लोक स्थिति का स्वरूप समझाते हुए बहुत ही स्पष्ट वर्णन इस प्रकार दिया गया है—

"त्रस, स्थावरादि प्राणियोंका आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। वायु के आधार पर उदधि और उसके आधार पर पृथ्वी कैसे ठहर सकती है? इस प्रश्न का खुलासा यह है: कोई पुरुष चमड़े की मशक को पवन भरकर फुला देवे। फिर उस मशक के मुँह को चमड़े के फीते से मजबूत गांठ देकर बाँध देवे। इसी मशक के बीच के भाग को भी बाँध दे। ऐसा करने से मशक में भरे हुए पवन के दो भाग हो जाएँगे जिससे मशक डुगडुगी जैसा लगने लगेगा। तब मशक का मुँह खोलकर ऊपर के भाग में से पवन निकाल दिया जावे और उसकी जगह पानी भर कर फिर मशक का मुँह बन्द कर देवे और बीच का बन्धन खोल देवे। उसके बाद ऐसा लगेगा कि जो पानी मशक के ऊपर के भाग में भरा गया है, वह ऊपर के भाग में ही रहेगा, अर्थात् वायु के ऊपर के भाग में ही रहेगा, अर्थात् वायु के ऊपर ही ठहरेगा, नीचे नहीं जा सकता। क्योंकि ऊपर के भाग में जो पानी है, उसका आधार मशक के नीचे के भाग का वायु है। अर्थात् जैसे मशक में पवन के आधार पर पानी ऊपर रहता है, वैसे ही पृथिवी वगैरह भी पवन के आधार पर प्रतिष्ठित हैं।" शतक १, उद्देशक ६।

चौथी की एक लाख बीस हजार, पाँचवीं की एक लाख अट्ठारह हजार, छठी की एक लाख सोलह हजार तथा सातवीं की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन है। सातों भूमियों के नीचे जो सात घनोदधि वलय हैं, उन सबकी मोटाई बराबर अर्थात् बीस बीस हजार योजन है और जो सात घनवात तथा सात तनुवात वलय हैं; उनकी मोटाई सामान्य रूप से असंख्यात योजन-प्रमाण होने पर भी आपस में तुल्य नहीं है, अर्थात् प्रथम भूमि के नीचे के घनवात वलय तथा तनुवात वलय की असंख्यात योजन प्रमाण मोटाई से, दूसरी भूमि के नीचे के घनवात वलय तनुवात वलय की असंख्यात योजन प्रमाण मोटाई विशेष है। इसी क्रम से उत्तरोत्तर छठी भूमि के घनवात-तनुवात वलय से सातवीं भूमि के घनवात-तनुवात वलय की मोटाई विशेष विशेष है। यही बात आकाश के बारे में भी समझें।

पहली भूमि रत्नप्रधान होने से रत्नप्रभा कहलाती है। इसी तरह शर्करा—(शक्कर) के सदृश होने से दूसरी शर्कराप्रभा है। वालुका—रेती की मुख्यता से तीसरी वालुकाप्रभा है। पङ्क—कीचड़ की अधिकता से चौथी पङ्कप्रभा है। धूम—धुएँ की अधिकता से पाँचवीं धूमप्रभा है। तमः—अंधेरे की विशेषता से छठी तमःप्रभा और महातमः—घन अन्धकार की प्रचुरता से सातवीं भूमि महातमःप्रभा कहलाती है। इन सातों के नाम क्रमशः घर्मा, वंशा, शैला, अञ्जना, रिष्टा, माघव्या और माघवी हैं।

रत्नप्रभा भूमि के तीन काण्ड—हिस्से हैं। सबसे ऊपर का प्रथम खरकाण्ड रत्नप्रचुर है, जो मोटाई में १६ हजार योजन प्रमाण है। उसके नीचे का दूसरा काण्ड पङ्कबहुल है, जो मोटाई में ८४ हजार योजन है। उसके नीचे का तीसरा काण्ड जलबहुल है, जो मोटाई में ८० हजार योजन है। तीनों काण्डों की मोटाई मिलाने से १ लाख ८० हजार योजन होती है। दूसरी से लेकर सातवीं भूमि तक ऐसे काण्ड नहीं हैं; क्योंकि उनमें

शर्करा, बालुका आदि जो जो पदार्थ हैं वे सब जगह एक से हैं। रत्नप्रभा का प्रथम काण्ड दूसरे पर और दूसरा काण्ड तीसरे पर स्थित है। तीसरा काण्ड घनोदधि वलय पर, घनोदधि घनवात वलय पर, घनवात तनुवात वलय पर, तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित है; परन्तु आकाश किसी पर स्थित नहीं है। वह आत्म-प्रतिष्ठित है, क्योंकि आकाश का स्वभाव ही ऐसा है; जिससे उसको दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं रहती। दूसरी भूमि का आधार उसका घनोदधि वलय है, वह वलय अपने नीचे के घनवात वलय पर आश्रित है, घनवात अपने नीचे के तनुवात के आश्रित है, तनुवात नीचे के आकाश पर प्रतिष्ठित है और आकाश स्वाश्रित है। यही क्रम सातवीं भूमि तक की हर भूमि और उसके घनोदधि वलय की स्थिति के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

ऊपर ऊपर की भूमि से नीचे नीचे की भूमिका बाहुल्य कम होने पर भी उनका विष्कम्भ आयाम अधिक अधिक बढ़ता ही जाता है; इसलिए उनका संस्थान छत्रातिछत्र के समान अर्थात् उत्तरोत्तर पृथु—विस्तीर्ण, पृथुतर कहा गया है। १।

सातों भूमियों की जितनी जितनी मोटाई ऊपर कही गई है, उसके ऊपर तथा नीचे का एक एक हजार योजन छोड़कर बाकी के मध्यभाग में नरकावास हैं; जैसे रत्नप्रभा की एक लाख अस्सी हजार योजन की मोटाई में से ऊपर-नीचे का एक एक हजार योजन छोड़ कर बीच के एक लाख अठहत्तर हजार योजन प्रमाण भाग में नरक हैं। यही क्रम सातवीं भूमि तक समझा जाय। नरकों के रौरव, रौद्र, घातन, शोचन आदि अशुभ नाम हैं; जिनको सुनने से ही भय होता है। रत्नप्रभागत सीमान्तक नाम के नरकावास से लेकर महातमःप्रभागत अप्रतिष्ठान नामक नरकावास तक के सभी नरकावास वज्र के छुरे के सदृश तल वाले हैं। संस्थान—आकार

सबका एक सा नहीं है; कुछ, गोल कुछ त्रिकोण, कुछ चतुष्कोण, कुछ हाँडी जैसे, कुछ लोहे के घड़े जैसे; इस तरह भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। प्रस्तर—प्रतर जो मंजिल वाले घर के तले के समान हैं; उनकी संख्या इस प्रकार है—रत्नप्रभा में तेरह प्रस्तर हैं, शर्कराप्रभा में ग्यारह। इस प्रकार नीचे की हरएक भूमि में दो-दो घटाने से सातवीं महतमःप्रभा भूमि में एक ही प्रस्तर है; इन्हीं प्रस्तरों में नरक हैं।

भूमियों में नरकावासों की संख्या

प्रथम भूमि में तीस लाख, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पंद्रह लाख, चौथी में दस लाख, पाँचवीं में तीन लाख, छठी में पाँच कम एक लाख और सातवीं भूमि में सिर्फ पाँच नरकावास हैं।

प्र०—प्रस्तरों में नरक कहने का क्या मतलब है?

उ०—एक प्रस्तर और दूसरे प्रस्तर के बीच जो अवकाश—अन्तर है, उसमें नरक नहीं हैं; किन्तु हर एक प्रस्तर की मोटाई जो तीन-तीन हजार योजन की मानी गई है, उसी में ये विविध संस्थान वाले नरक हैं।

प्र०—नरक और नारक का क्या संबन्ध है?

उ०—नारक जीव हैं और नरक उनके स्थान का नाम है। नरक नामक स्थान के संबन्ध से ही वे जीव नारक कहलाते हैं। २।

पहली भूमि से दूसरी और दूसरी से तीसरी इसी तरह सातवीं भूमि तक के नरक अशुभ, अशुभतर, अशुभतम रचना वाले हैं। इसी प्रकार उन नरकों में स्थित नारकों की लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया भी उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ है।

लेश्या

रत्नप्रभा में कापोत लेश्या है। शर्कराप्रभा में भी कापोत है, पर रत्नप्रभा से अधिक तीव्र संक्लेश वाली है। वालुकाप्रभामें कापोत और नील लेश्या है। पङ्कप्रभा में नील लेश्या है।

धूमप्रभा में नील-कृष्ण लेश्या है तमःप्रभामें कृष्णलेश्या है और महातमःप्रभा में भी कृष्ण लेश्या है, पर तमःप्रभा से तीव्रतम है।

परिणाम — वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, संस्थान आदि अनेक प्रकार के पौद्गलिक परिणाम सातों भूमियों में उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ हैं।

शरीर — सातों भूमियों के नारकों के शरीर अशुभ नामकर्म के उदय से उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, संस्थान वाले तथा अधिक अधिक अशुचि और बीभत्स हैं।

वेदना — सातों भूमियों के नारकों की वेदना उत्तरोत्तर तीव्र होती है। पहली तीन भूमियों में उष्ण वेदना, चौथी में उष्ण-शीत, पाँचवीं में शीतोष्ण, छठी में शीत और सातवीं में शीततर वेदना है। यह उष्ण और शीत वेदना इतनी सख्त है कि इसे भोगने वाले नारक अगर मर्त्य लोक की सख्त गरमी या सख्त सरदी में आ जायँ, तो उन्हें बड़े आराम से नींद आ सकती है।

विक्रिया — उनकी विक्रिया भी उत्तरोत्तर अशुभ होती है। वे दुःख से घबरा कर उससे छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, पर होता है उलटा। सुखका साधन सम्पादन करने में उनको दुःख के साधन ही प्राप्त होते हैं। वे वैक्रियलब्धि से बनाने लगते हैं कुछ शुभ, पर बन जाता है अशुभ।

प्र०—लेश्या आदि अशुभतर भावों को नित्य कहने का क्या मतलब है?

उ०—नित्य का मतलब निरन्तर है। गति, जाति, शरीर और अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से नरक गति में लेश्या आदि भाव जीवन पर्यन्त अशुभ ही बने रहते हैं; बीच में एक पल के लिए भी अन्तर नहीं पड़ता और न कभी शुभ ही होते हैं। ३।

एक तो नरक में क्षेत्र-स्वभाव से सरदी गरमी का भयंकर दुःख है ही, भूख-प्यास का दुःख तो और भी भयंकर है। भूख का दुःख इतना अधिक है कि अग्नि की तरह सर्व भक्षण से भी शान्ति नहीं होती, बल्कि भूख की ज्वाला और भी तेज हो जाती है। प्यास का कष्ट इतना अधिक है कि चाहे जितने जल से भी तृप्ति नहीं ही होती। इस दुःख के उपरान्त बड़ा भारी दुःख तो उनको आपस के वैर और मारपीट से होता है, जैसे कौआ और उल्लू तथा साँप और नेवला जन्म-शत्रु हैं; वैसे ही नारक जीव जन्म-शत्रु हैं। इसलिए वे एक दूसरे को देखकर कुत्तों की तरह आपस में लड़ते हैं, काटते हैं और गुस्से से जलते हैं; इसीलिए परस्परजनित दुःख वाले कहे गए हैं। ४।

नारकों के तीन प्रकार की वेदना मानी गई है; जिसमें क्षेत्रस्वभाव जन्य और परस्परजन्य वेदना का वर्णन पहले किया गया है। तीसरी वेदना उत्कट अधर्म जनित है। पहली दो प्रकार की वेदना सातों भूमियों में साधारण है। तीसरे प्रकार की वेदना सिर्फ पहली तीन भूमियों में होती है; क्योंकि उन्हीं भूमियों में परमाधार्मिक हैं। परमाधार्मिक एक प्रकार के असुर देव हैं, जो बहुत क्रूर स्वभाव वाले और पापरत होते हैं। इनकी अम्ब, अम्बरीष आदि पंद्रह जातियाँ हैं। वे स्वभाव से ही ऐसे निर्दय और कुतूहली होते हैं कि उन्हें दूसरों को सताने में ही आनन्द आता है। इसलिए वे नारकों को अनेक प्रकार के प्रहारों से दुःखी करते रहते हैं। उन्हें आपस में कुत्तों, भैंसों और मल्लों की तरह लड़ाते हैं। आपस में उनको लड़ते, मार-पीट करते देखकर बहुत खुशी मनाते हैं। यद्यपि वे परमाधार्मिक एक प्रकार के देव हैं, उन्हें और भी अनेक सुख साधन प्राप्त हैं; तथापि पूर्वजन्म कृत तीव्र दोष के कारण उन्हें दूसरों को सताने में ही प्रसन्नता होती है। नारक भी बेचारे कर्मवश अशरण होकर सारा जीवन तीव्र वेदनाओं के अनुभव में ही व्यतीत करते हैं। वेदना कितनी ही क्यों

न हो, पर नारकों को न तो कोई कारण है और अनपवर्तनीय—बीचमें कम नहीं होनेवाली आयु के कारण न जीवन ही जल्दी समाप्त होता है। ५।

प्रत्येक गति के जीवों की स्थिति—आयुमर्यादा जघन्य और उत्कृष्ट दो तरह से बतलाई जा सकती है। जिससे कम न पाई जा सके उसे जघन्य और जिससे अधिक न पाई जा सके उसे उत्कृष्ट कहते हैं। इस जगह नारकों की सिर्फ उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन है। उनकी जघन्य स्थिति आगे बतलाई जायगी। पहली में एक सागरोपम की, दूसरी में तीन, तीसरी में सात, चौथी में दस, पाँचवीं में सत्रह, छठी में बाईस और सातवीं में तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु की स्थिति है।

नारकों की स्थिति

यहाँ तक सामान्य रूप से अधोलोक का वर्णन पूरा होता है। इसमें दो बातें खास जान लेनी चाहिए—गति-आगति और द्वीप-समुद्र आदि का सम्भव।

अलंशी प्राणी मरकर पहली भूमि में उत्पन्न हो सकते हैं, आगे नहीं। भुजपरिसर्प पहली दो भूमि तक, पक्षी तीन भूमि तक, सिंह चार भूमि तक, उरग पाँच भूमि तक, स्त्री छह भूमि तक और मत्स्य तथा मनुष्य मरकर सात भूमि तक जा सकते हैं। सारांश तिर्यंच और मनुष्य ही नरक भूमि में पैदा हो सकते हैं, देव और नारक नहीं; इसका कारण यह है कि उनमें वैसे अध्यवसान का अभाव है। नारक मरकर फिर तुरन्त न तो नरक गति में ही पैदा होते हैं और न देव गति में।[1] वे सिर्फ तिर्यंच और मनुष्य गति में पैदा हो सकते हैं।

गति

पहली तीन भूमियों के नारक मनुष्य जन्म पाकर तीर्थङ्कर पद तक प्राप्त कर सकते हैं। चार भूमियों के नारक मनुष्यत्व पाकर निर्वाण भी पा

१. देखो अ० ४, सू० ४२-४४।

आगति

सकते हैं। पाँच भूमियों के नारक मनुष्यगति में संयम का लाभ ले सकते हैं। छह भूमियों से निकले हुए नारक देशविरति और सात भूमियों से निकले हुए सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

द्वीप, समुद्र आदि का संभव

रत्नप्रभा को छोड़कर बाकी की छह भूमियों में न तो द्वीप, समुद्र, पर्वत, सरोवर ही है; न गाँव, शहर आदि; न वृक्ष, लता आदि बादर वनस्पति काय है; न द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त तिर्यंच; न मनुष्य हैं और न किसी प्रकार के देव ही। रत्नप्रभा को छोड़कर कहने का कारण यह है कि उसका थोड़ा भाग मध्यलोक– तिरछे लोक में सम्मिलित है; जिससे उसमें उक्त द्वीप, समुद्र, ग्राम, नगर, वनस्पति, तिर्यंच, मनुष्य, देव पाये जा सकते हैं। रत्नप्रभा के सिवा शेष छह भूमियों में सिर्फ नारक और कुछ एकेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं। इस सामान्य नियम का भी अपवाद है; क्योंकि उन भूमियों में कभी किसी स्थान पर कुछ मनुष्य, देव और पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच भी सम्भव है। मनुष्य तो इस अपेक्षा से सम्भव है कि केवली समुद्घात करने वाला मनुष्य सर्वलोक व्यापी होने से उन भूमियों में भी आत्मप्रदेश फैलाता है। इसके सिवा वैक्रियलब्धि वाले मनुष्य की भी उन भूमियों तक पहुँच है। तिर्यंचों की पहुँच भी उन भूमियों तक है; परन्तु यह सिर्फ वैक्रियलब्धि की अपेक्षा से ही माना जाता है। देवों की पहुँच के विषय में यह बात है कि कुछ देव कभी कभी अपने पूर्व जन्म के मित्र नारकों के पास उन्हें दुःखमुक्त करने के उद्देश्य से जाते हैं। ऐसे जाने वाले देव भी सिर्फ तीन भूमियों तक जा सकते हैं, आगे नहीं। परमाधार्मिक जो एक प्रकार के देव और नरकपाल कहलाते हैं, जन्म से ही पहली तीन भूमियों में हैं; अन्य देव जन्म से सिर्फ पहली भूमि में पाए जा सकते हैं। ६।

मध्यलोक का वर्णन—

जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः । ७ ।

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः । ८ ।

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः । ९ ।

तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि । १० ।

तद्विभाजिनः पूर्वपरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः । ११ ।

द्विर्धातकीखण्डे । १२ ।

पुष्करार्धे च । १३ ।

प्राङ् मानुषोत्तरान् मनुष्याः । १४ ।

आर्या म्लेच्छाश्च । १५ ।

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः । १६ ।

नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते । १७ ।

तिर्यग्योनीनां च । १८ ।

जम्बूद्वीप आदि शुभ नाम वाले द्वीप, तथा लवण आदि शुभ नाम वाले समुद्र हैं।

वे सभी द्वीप और समुद्र, वलय—चूड़ी जैसी आकृति वाले, पूर्व पूर्व को वेष्टित करने वाले और दूने दूने विष्कम्भ—व्यास अर्थात् विस्तार वाले हैं।

उन सब के बीच में जम्बूद्वीप है, जो वृत्त—गोल है, लाख योजन विष्कम्भ वाला है और जिसके मध्य में मेरु पर्वत है।

जम्बूद्वीप में भरतवर्ष, हैमतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष, ऐरावतवर्ष ये सात क्षेत्र हैं।

उन क्षेत्रों को पृथक् करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी, और शिखरी—ये छह वर्षधर पर्वत हैं।

धातकीखण्ड में पर्वत तथा क्षेत्र जम्बूद्वीप से दूने हैं।

पुष्करार्धद्वीप में भी उतने ही हैं।

मानुषोत्तर नामक पर्वत के पहले तक ही मनुष्य हैं।

वे आर्य और म्लेच्छ हैं।

देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़ कर भरत, ऐरावत तथा विदेह ये सभी कर्म भूमियाँ हैं।

मनुष्यों की स्थिति—आयु उत्कृष्ट तीन पल्योपम तक और जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

तथा तिर्यंचों की स्थिति भी उतनी ही है।

द्वीप और समुद्र

मध्य लोक की आकृति झालर के समान कही गई है। यही बात द्वीप-समुद्रों के वर्णन द्वारा स्पष्ट की गई है।

मध्य लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। वे क्रम से द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप इस तरह अवस्थित हैं। उन सबके नाम शुभ ही हैं। यहाँ द्वीप-समुद्रों के विषय में व्यास, रचना और आकृति ये तीन बातें बतलाई गई हैं; जिनसे मध्य लोक का आकार मालूम जाता है।

जम्बूद्वीप का पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण विस्तार एक एक लाख योजन है, लवणसमुद्र का उससे दूना है, धातकीखण्ड का लवणसमुद्र से,

व्यास

कालोदधि का धातकीखण्ड से, पुष्करवरद्वीप का कालोदधि से, पुष्करोदधि समुद्र का पुष्करवरद्वीप से विष्कम्भ दूना दूना है। विष्कम्भ का यही क्रम अन्त तक समझना चाहिए अर्थात् अंतिम द्वीप स्वयम्भूरमण से आखिरी समुद्र स्वयम्भूरमण का विष्कम्भ दूना है।

द्वीप-समुद्रों की रचना चक्की के पाट और उसके थाल के समान है; अर्थात् जम्बूद्वीप लवणसमुद्र से वेष्टित है, लवणसमुद्र धातकीखण्ड से,

रचना

धातकीखण्ड कालोदधि से; कालोदधि पुष्करवरद्वीप से और पुष्करवरद्वीप पुष्करोदधि से वेष्टित है। यही क्रम स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यंत है।

आकृति

जम्बूद्वीप थाली जैसा गोल है और अन्य सब द्वीप-समुद्रों की आकृति वलय अर्थात् चूड़ी के समान है। ७,८।

जम्बूद्वीप ऐसा द्वीप है, जो सबसे पहला और सब द्वीप-समुद्रों के बीच में है अर्थात् उसके द्वारा कोई द्वीप या समुद्र वेष्टित नहीं हुआ है।

जम्बूद्वीप, उसके क्षेत्रों और प्रधान पर्वतों का वर्णन

जम्बूद्वीप का विष्कम्भ लाख योजना प्रमाण है। वह कुम्हार के चाक के समान गोल है, लवणादि की तरह वलयाकृति नहीं। उसके बीच में मेरु पर्वत है। मेरु का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है—

मेरु की ऊँचाई एक लाख योजन है, जिसमें हजार योजन जितना भाग जमीन में अर्थात् अदृश्य है। निन्यानवे हजार योजन प्रमाण भाग जमीन के ऊपर है। जो हजार योजन प्रमाण भाग जमीन में है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई सब जगह दस हजार योजन प्रमाण है। पर बाहर के भाग के ऊपर का अंश जहाँ से चूलिका निकलती है वह हजार हजार योजन

प्रमाण लम्बा-चौड़ा है। मेरु के तीन काण्ड हैं। वह तीनों लोकों में अवगाहित होकर रहा है और चार वनों से घिरा हुआ है। पहला काण्ड हजार योजन प्रमाण है, जो जमीन में है। दूसरा त्रेसठ हजार योजन और तीसरा छत्तीस हजार योजन प्रमाण है। पहले काण्ड में शुद्ध पृथिवी तथा कंकड़ आदि की, दूसरे में चाँदी, स्फटिक आदि की और तीसरे में सोने की प्रचुरता है। चार वनों के नाम क्रमशः भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक हैं। लाख योजन की ऊँचाई के बाद सबसे ऊपर एक चूलिका—चोटी है, जो चालीस योजन ऊँची है; जो मूल में बारह योजन, बीच में आठ योजन और ऊपर चार योजन प्रमाण लम्बी-चौड़ी है।

जम्बूद्वीप में मुख्यतया सात क्षेत्र हैं; जो वंश, वर्ष या वास्य कहलाते हैं। इनमें पहला भरत है; जो दक्षिण की ओर है, भरत से उत्तर की ओर हैमवत, हैमवत के उत्तर में हरि, हरि के उत्तर में विदेह, विदेह के उत्तर में रम्यक, रम्यक के उत्तर में हैरण्यवत और हैरण्यवत के उत्तर में ऐरावतवर्ष है। व्यवहारसिद्ध[1] दिशा के नियम के अनुसार मेरु पर्वत सातों क्षेत्रों के उत्तर भाग में अवस्थित है।

सातों क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग करने वाले उनके बीच छह पर्वत हैं; जो वर्षधर कहलाते हैं। वे सभी पूर्व-पश्चिम लम्बे हैं। भरत और हैमवत क्षेत्र के बीच हिमवान पर्वत है। हैमवत और हरिवर्ष का

---

१. दिशा का नियम सूर्य के उदयास्त पर निर्भर है। सूर्योदय की ओर मुख करके खड़े होने पर बाईं तरफ उत्तरदिशा में मेरु पड़ता है। भरत-क्षेत्र में सूर्यास्त की जो दिशा है, ऐरावत क्षेत्र में वही सूर्योदय की दिशा है। इसलिए वहाँ भी सूर्योदय की ओर मुख करने से मेरु पर्वत उत्तर दिशा में ही रहता है। इसी तरह से दूसरे क्षेत्रों में भी मेरु का उत्तरवर्तित्व समझना चाहिए।

विभाजक महाहिमवान् है। हरिवर्ष और विदेह को जुदा करने वाला निषधपर्वत है। विदेह और रम्यक वर्ष को भिन्न करने वाला नीलपर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत को विभक्त करने वाला रुक्मी पर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावत के बीच विभाग करने वाला शिखरी पर्वत है।

ऊपर बताये हुए सातों क्षेत्र थाली के आकार वाले जंबूद्वीप में पूर्व के छोर से पश्चिम के छोर तक विस्तृत लम्बे पट के रूप में एक के बाद एक आए हैं। विदेह क्षेत्र इन सबके मध्य में है; इसलिए मेरु पर्वत भी उस क्षेत्र के बराबर मध्य में स्थित है। ऊपर बताया गया है कि विदेह क्षेत्र को रम्यक क्षेत्र से नील पर्वत अलग करता है, और हरिवर्ष क्षेत्र को निषधपर्वत अलग करता है। विदेह क्षेत्र में मेरु और और नीलपर्वत के बीच का अर्धचन्द्राकार भाग, जिसकी कि पूर्व-पश्चिम सीमा वहाँ के दो पर्वतों से निश्चित होती है, वह उत्तरकुरु कहलाता है; और मेरु तथा निषधपर्वत के बीच का वैसा ही अर्धचन्द्राकार भाग देवकुरु कहलाता है। देवकुरु और उत्तरकुरु ये दोनों क्षेत्र विदेह (अर्थात् महाविदेह) के ही भाग हैं; परंतु उन क्षेत्रों में युगलिकों की बस्ती होने के कारण वे भिन्न रूप से पहचाने जाते हैं। देवकुरु और उत्तरकुरु के भाग जितना क्षेत्र छोड़ने पर महाविदेह का जो पूर्व और पश्चिम भाग अवशिष्ट रहता है उस हरएक भाग में सोलह सोलह विभाग हैं। वह प्रत्येक विभाग विजय कहलाता है। इस प्रकार सुमेरु पर्वत के पूर्व और पश्चिम दोनों ओर मिलकर कुल ३२ विजय होते हैं।

जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र की सीमा पर स्थित हिमवान पर्वत के दोनों छोर पूर्व-पश्चिम लवणसमुद्र में फैले हुए हैं। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र की सीमा पर स्थित शिखरी पर्वत के दोनों छोर भी लवणसमुद्र में फैले हुए हैं। प्रत्येक छोर दो भाग में विभाजित होने के कारण कुल मिलाकर

दोनों पर्वतों के आठ भाग लवणसमुद्र में आये हुए हैं। वे दाढ़ों की आकृति वाले होने से दाढ़ा कहलाते हैं। प्रत्येक दाढ़ा पर मनुष्य की वस्ती वाले सात सात क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र लवणसमुद्र में आने के कारण अंतरद्वीप रूप से प्रसिद्ध हैं। ऐसे अंतरद्वीप कुल छप्पन हैं। उनमें भी युगलिक धर्मवाले मनुष्य रहते हैं। ९–११।

धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीप

जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकीखण्ड में मेरु, वर्ष और वर्षधर की संख्या दूनी है; अर्थात् उसमें दो मेरु, चौदह वर्ष और बारह वर्षधर हैं, परन्तु नाम एक से ही हैं; अर्थात् जम्बूद्वीप में स्थित मेरु, वर्षधर और वर्ष के जो नाम हैं, वे ही धातकीखण्डगत मेरु आदि के भी हैं। वलयाकृति धातकीखण्ड के पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध ऐसे दो भाग हैं। पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध का विभाग दो पर्वतों से हो जाता है, जो दक्षिणोत्तर विस्तृत हैं और इष्वाकार—बाण के समान सरल हैं। प्रत्येक भाग में एक-एक मेरु, सात-सात वर्ष और छः-छः वर्षधर हैं। सारांश यह कि नदी, क्षेत्र, पर्वत आदि जो कुछ जम्बूद्वीप में हैं वे धातकीखण्ड में दूने हैं। धातकीखण्ड को पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध रूपसे विभक्त करनेवाले दक्षिणोत्तर विस्तृत और इष्वाकार दो पर्वत हैं; तथा पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में पूर्व-पश्चिम विस्तृत छः छः वर्षधर पर्वत हैं। ये सभी एक ओर से कालोदधि को और दूसरी ओरसे लवणोदधि को छूते हैं। पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में स्थित छः छः वर्षधरों को पहिये की नाभि में लगे हुए आरों की उपमा दी जाय तो उन वर्षधरों के कारण विभक्त होने वाले सात भरत आदि क्षेत्रों को आरों के बीच के अन्तर की उपमा देनी चाहिए।

मेरु, वर्ष और वर्षधरों की जो संख्या धातकीखण्ड में है, वही पुष्करार्ध द्वीप में है; अर्थात् उसमें भी दो मेरु, चौदह वर्ष तथा बारह

वर्षधर हैं; जो इष्वाकार पर्वतों के द्वारा विभक्त पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में स्थित हैं। इस तरह मिलाने से ढाई द्वीप में कुल पाँच मेरु, तीस वर्षधर और पैंतीस वर्ष क्षेत्र हैं। उक्त पैंतीस क्षेत्र के पांच (महा) विदेह क्षेत्र में पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु और एकसौ साठ विजय हैं। अन्तर्द्वीप सिर्फ लवणसमुद्र में होने के कारण छप्पन हैं। पुष्करद्वीप में एक मानुषोत्तर नामका पर्वत है; जो इसके ठीक मध्य में शहर के किले की तरह गोलाकार खड़ा है और मनुष्यलोक को घेरे हुए है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधा पुष्करद्वीप ये ढाई द्वीप तथा लवण, कालोदधि ये दो समुद्र इतना ही भाग मनुष्यलोक कहलाता है। उक्त भाग का नाम मनुष्यलोक और उक्त पर्वत का नाम मानुषोत्तर इसलिए पड़ा है कि इसके बाहर न तो कोई मनुष्य जन्म लेता है और न कोई मरता है। सिर्फ विद्यासम्पन्न मुनि या वैक्रिय लब्धिधारी मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर जा सकते हैं; पर उनका भी जन्म-मरण मानुषोत्तर के अंदर ही होता है। १२,१३।

मनुष्यजाति का स्थितिक्षेत्र और प्रकार

मानुषोत्तर पर्वत के पहले जो ढाई द्वीप और दो समुद्र कहे गए हैं, उनमें मनुष्य की स्थिति है सही, पर वह सार्वत्रिक नहीं; अर्थात् जन्म से तो मनुष्यजाति का स्थान सिर्फ ढाई द्वीप के अन्तर्गत जो पैंतीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर्द्वीप कहे गए हैं; उन्हीं में होता है; पर संहरण, विद्या या लब्धि के निमित्त से मनुष्य ढाई द्वीप के तथा दो समुद्र के किसी भी भाग में पाया जा सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि मेरुपर्वत की चोटी पर भी वह उक्त निमित्त से रह सकता है। ऐसा होने पर भी यह भारतीय है, यह हैमवतीय है इत्यादि व्यवहार क्षेत्र के संबन्ध से और यह जम्बूद्वीपीय है, यह धातकीखण्डीय है इत्यादि व्यवहार द्वीप के संबन्ध से समझना चाहिए। १४।

मनुष्यजाति के मुख्यतया दो भेद हैं :— आर्य और म्लेच्छ। निमित्त भेद से छह प्रकार के आर्य माने गए हैं। जैसे क्षेत्र से, जाति से, कुल से,

कर्म से, शिल्प से और भाषा से। क्षेत्र-आर्य वे हैं, जो पन्द्रह कर्मभूमियों में और उनमें भी आर्यदेशों में पैदा होते हैं। जो इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, ज्ञात, कुरू, उग्र आदि वंशों में पैदा होते हैं, वे जाति-आर्य हैं। कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और दूसरे भी जो विशुद्ध कुल वाले हैं, वे कुल-आर्य हैं। यजन, याजन, पठन, पाठन, कृषि, लिपि, वाणिज्य आदि से आजीविका करने वाले कर्म-आर्य हैं। जुलाहा, नाई, कुम्हार आदि जो अल्प आरम्भ वाली और अनिन्द्य आजीविका से जीते हैं; वे शिल्प-आर्य हैं। जो शिष्ट पुरुषमान्य भाषा में सुगम रीति से बोलने आदि का व्यवहार करते हैं, वे भाषा-आर्य हैं। इन छह प्रकार के आर्यों से विपरीत लक्षण वाले सभी म्लेच्छ हैं; जैसे, शक, यवन, कम्बोज, शबर, पुलिन्द आदि। छप्पन अन्तर्द्वीपों में रहने वाले तो सभी और कर्मभूमियों में भी जो अनार्य देशोत्पन्न हैं, वे म्लेच्छ ही हैं।१५।

जहाँ मोक्षमार्ग के जानने वाले और उपदेश करने वाले तीर्थङ्कर पैदा हो सकते हैं वही कर्मभूमि है। ढाई द्वीप में मनुष्य की पैदाइश वाले पैंतीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर्द्वीप कहे गए हैं; उनमें से उक्त प्रकार की कर्मभूमियाँ पंद्रह ही हैं। जैसे पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह। इनको छोड़कर बाकी

कर्मभूमियों का निर्देश

---

१. पाँच भरत और पाँच ऐरावत में प्रत्येक में साढ़े पचीस आर्यदेश गिनाये गए हैं। इस तरह ये दो सौ पचपन आर्यदेश हैं और पाँच विदेह की एकसौ साठ चक्रवर्ति-विजय आर्यदेश हैं। इन्हीं में तीर्थंकर उत्पन्न होकर धर्मप्रवर्तन करते हैं। उनको छोड़कर बाकी का पन्द्रह कर्मभूमियों का भाग आर्यदेश रूप से नहीं माना जाता।

२. तीर्थंकर, गणधर आदि जो अतिशयसम्पन्न हैं वे शिष्ट, उनकी भाषा संस्कृत, अर्धमागधी इत्यादि।

३. इस व्याख्या के अनुसार हैमवत आदि तीस भोगभूमियों अर्थात् अकर्मभूमियों में रहने वाले म्लेच्छ ही हैं।

के बीस क्षेत्र तथा सब अन्तर्द्वीप अकर्मभूमि (भोगभूमि) ही हैं। यद्यपि देवकुरु और उत्तरकुरु ये दो विदेह के अंदर ही हैं, तथापि वे कर्मभूमियाँ नहीं; क्योंकि उनमें युगलिक-धर्म होने के कारण चारित्र कभी सम्भव नहीं है, जैसा कि हैमवत आदि अकर्मभूमियों में नहीं है। १६।

मनुष्य और तिर्यञ्च की स्थिति

मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति—जीवितकाल तीन पल्योपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। तिर्यंचों की भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति मनुष्य के बराबर अर्थात् उत्कृष्ट तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है।

भव और कायभेद से स्थिति दो प्रकार की है। कोई भी जन्म पाकर उसमें जघन्य अथवा उत्कृष्ट जितने काल तक जी सकता है वह भवस्थिति है; और बीच में किसी दूसरी जाति में जन्म न ग्रहण करके किसी एक ही जाति में बार बार पैदा होना कायस्थिति है। ऊपर मनुष्य और तिर्यंच की जो जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वह उनकी भवस्थिति है। कायस्थिति का विचार इस प्रकार है: मनुष्य हो या तिर्यंच; सब की जघन्य कायस्थिति तो भवस्थिति की तरह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति सात अथवा आठ भवग्रहण परिमाण है; अर्थात् कोई भी मनुष्य अपनी मनुष्यजाति में लगातार सात अथवा आठ जन्म तक रहने के बाद अवश्य उस जाति को छोड़ देता है।

सब तिर्यंचों की कायस्थिति भवस्थिति की तरह एकसी नहीं है। इसलिए उनकी दोनों स्थितियों का विस्तृत वर्णन आवश्यक है। पृथ्वीकाय की भवस्थिति बाईस हजार वर्ष, जलकाय की सात हजार वर्ष, वायुकाय की तीन हजार वर्ष, तेजःकाय की तीन अहोरात्र भवस्थिति है। उन चारों की कायस्थिति असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण है। वनस्पतिकाय की भवस्थिति दस हजार वर्ष और कायस्थिति अनन्त

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण है। द्वीन्द्रिय की भवस्थिति बारह वर्ष, त्रीन्द्रिय की उनचास अहोरात्र और चतुरिन्द्रिय की छः मास प्रमाण है। इन तीनों की कायस्थिति संख्यात हजार वर्ष की है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों में गर्भज और संमूर्छिम की भवस्थिति भिन्न भिन्न है। गर्भज की, जैसे जलचर, उरग और भुजग की करोड़ पूर्व, पक्षियों की पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और चतुष्पद स्थलचर की तीन पल्योपम भवस्थिति है। संमूर्छिम की, जैसे जलचर की करोड़ पूर्व, उरग की त्रेपन हजार, भुजग की बयालीस हजार वर्ष की भवस्थिति है। पक्षियों की बहत्तर हजार, स्थलचरों की चौरासी हजार वर्ष प्रमाण भवस्थिति है। गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च की कायस्थिति सात या आठ जन्मग्रहण और संमूर्छिम की सात जन्मग्रहण परिणाम है। १७, १८।

चौथा अध्याय

तीसरे अध्यायमें मुख्यतया नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च का वर्णन किया गया है। अब इस अध्याय में मुख्यतया देवों का वर्णन करते हैं।

देवों के प्रकार—

देवाश्चतुर्निकायाः । १ ।

देव चार निकाय वाले हैं।

निकाय का मतलब समूह विशेष या जाति है। देवों के चार निकाय हैं: १. भवनपति, २. व्यन्तर, ३. ज्योतिष्क, और ४. वैमानिक। १।

तीसरे निकायकी लेश्या—

तृतीयः [1]पीतलेश्याः । २ ।

तीसरा निकाय पीतलेश्या वाला है।

उक्त चार निकायोंमें तीसरे निकायके देव ज्योतिष्क हैं। उनमें सिर्फ पीत—तेजो लेश्या है। यहाँ लेश्याका मतलब द्रव्यलेश्या अर्थात्

---

१. दिगम्बर परंपरा भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायोंमें कृष्ण से तेजः पर्यन्त चार लेश्याएँ मानती है; पर श्वेताम्बर परंपरा भवनपति, व्यन्तर दो निकाय में ही उक्त चार लेश्याएँ मानती हैं; और ज्योतिष्कनिकाय में सिर्फ तेजोलेश्या मानती है। इसी मतभेद के कारण श्वेताम्बर परम्परा में यह दूसरा और आगे का सातवाँ ये दोनों सूत्र भिन्न हैं। दिगम्बर परम्परामें इन दोनों सूत्रों के स्थानमें सिर्फ एक ही, सूत्र 'आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः' पाया जाता है।

२. लेश्या का विशेष स्वरूप जानने के लिए देखो हिन्दी चौथे कर्म-ग्रन्थ में लेश्या शब्द विषयक परिशिष्ट पृ० ३३।

शारीरिक वर्ण से है, अध्यवसाय विशेष रूप भावलेश्या से नहीं; क्योंकि भावलेश्या तो चारों निकायों के देवों में छहों पाई जाती हैं। २।

चार निकायों के भेद—

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः । ३ ।

कल्पोपन्न देव तक के चतुर्निकायिक देव अनुक्रमसे दस, आठ, पाँच और बारह भेद वाले हैं।

भवनपतिनिकाय के दस, व्यन्तरनिकाय के आठ, ज्योतिष्कनिकाय के पाँच और वैमानिकनिकाय के बारह भेद हैं; जो सब आगे कहे जायँगे। वैमानिकनिकाय के बारह भेद कहे हैं, वे कल्पोपन्न वैमानिक देव तक के समझने चाहिएँ; क्योंकि कल्पातीत देव हैं तो वैमानिक निकाय के, पर उक्त बारह भेदों में नहीं आते। सौधर्म से अच्युत तक बारह स्वर्ग—देवलोक हैं, वे कल्प कहलाते हैं। ३।

चतुर्निकाय के अवान्तर भेद—

**इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपा-
लानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः । ४ ।
त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः । ५ ।**

चतुर्निकाय के उक्त दस आदि एक-एक इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक रूप हैं।

व्यन्तर और ज्योतिष्क त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल रहित हैं।

भवनपतिनिकाय के असुरकुमार आदि दस प्रकार के देव हैं। वे हरएक किस्म के देव इन्द्र, सामानिक आदि दस भागों में विभक्त हैं। १. इन्द्र वे हैं जो सामानिक आदि सब प्रकार के देवों के स्वामी हों।

२. **सामानिक** वे हैं जो आयु आदि में इन्द्र के समान हों अर्थात् जो अमात्य, पिता, गुरु आदि की तरह पूज्य हैं; पर जिनमें सिर्फ इन्द्रत्व नहीं है। ३. **त्रायस्त्रिंश** वे हैं जो देव, मंत्री या पुरोहित का काम करते हैं। ४. **पारिषद्य** वे हैं जो मित्र का काम करते हैं। ५. **आत्मरक्षक** वे हैं जो शस्त्र उठाये हुए आत्मरक्षक रूप से पीठ की ओर खड़े रहते हैं। ६. **लोकपाल** वे हैं जो सरहद की रक्षा करते हैं। ७. **अनीक** वे हैं जो सैनिक रूप और सेनाधिपति रूप हैं। ८. **प्रकीर्णक** वे हैं जो नगरवासी और देशवासी के समान हैं। ९. **आभियोग्य–सेवक** वे हैं जो दास के तुल्य हैं। १०. **किल्बिषिक** वे हैं जो अन्त्यज समान हैं। बारह देवलोकों में अनेक प्रकार के वैमानिक देव भी इन्द्र, सामानिक आदि दस भागों में विभक्त हैं।

व्यन्तरनिकाय के आठ और ज्योतिष्कनिकाय के पाँच भेद सिर्फ इन्द्र आदि आठ विभागों में ही विभक्त हैं, क्योंकि इन दोनों निकायों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जाति के देव नहीं होते। ४,५।

इन्द्रों की संख्या का नियम–

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः। ६।

पहले के दो निकायों में दो दो इन्द्र हैं।

भवनपतिनिकाय के असुरकुमार आदि दसों प्रकार के देवों में तथा व्यन्तरनिकाय के किन्नर आदि आठों प्रकार के देवों में दो दो इन्द्र हैं। जैसे; चमर और बलि असुरकुमारों में, धरण और भूतानन्द नागकुमारों में, हरि और हरिसह विद्युत्कुमारों में, वेणुदेव और वेणुदारी सुपर्णकुमारों में, अग्निशिख और अग्निमाणव अग्निकुमारों में, वेलम्ब और प्रभञ्जन वातकुमारों में, सुघोष और महाघोष स्तनितकुमारों में, जलकान्त और जलप्रभ उदधि-

कुमारों में, पूर्ण और वासिष्ठ द्वीपकुमारों में तथा अमितगति और अमितवाहन दिक्कुमारों में इन्द्र हैं। इसी तरह व्यन्तरनिकाय में भी; किन्नरों में किन्नर और किंपुरुष, किंपुरुषों में सत्पुरुष और महापुरुष, महोरग में अतिकाय और महाकाय, गान्धर्वों में गीतरति और गीतयशः, यक्षों में पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसों में भीम और महाभीम, भूतों में प्रतिरूप और अप्रतिरूप तथा पिशाचों में काल और महाकाल ये दो दो इन्द्र हैं।

भवनपति और व्यन्तर इन दो निकायों में दो दो इन्द्र कहने से शेष दो निकायों में दो दो इन्द्रों का अभाव सूचित किया गया है। ज्योतिष्क में तो चन्द्र और सूर्य ही इन्द्र हैं। चन्द्र और सूर्य असंख्यात हैं; इसलिए ज्योतिष्कनिकाय में इन्द्र भी इतने ही हुए। वैमानिकनिकाय में हरएक कल्प में एक एक इन्द्र है। सौधर्म-कल्प में शक्र, ऐशान में ईशान, सानत्कुमार में सनत्कुमार नामक इन्द्र हैं, इसी तरह ऊपर के देवलोकों में उन देवलोकों के नामवाला एक एक इन्द्र है। सिर्फ विशेषता इतनी है कि आनत और प्राणत इन दो का इन्द्र एक है जिसका नाम प्राणत है। आरण और अच्युत इन दो कल्पों का इन्द्र भी एक है, जिसका नाम है अच्युत। ६।

पहले दो निकायों में लेश्या—

पीतान्तलेश्याः । ७ ।

पहले दो निकाय के देव पीत—तेजः पर्यन्त लेश्या वाले हैं।

भवनपति और व्यन्तर जाति के देवों में शारीरिक वर्णरूप द्रव्यलेश्या चार ही मानी जाती हैं। जैसे—कृष्ण, नील, कापोत और पीत-तेजः।७।

देवों के कामसुख का वर्णन—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् । ८ ।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः । ९ ।

परेऽप्रवीचाराः । १० ।

ऐशान तक के देव कायप्रवीचार अर्थात् शरीर से विषयसुख भोगने वाले होते हैं ।

बाकी के देव दो दो कल्पों में क्रम से स्पर्श, रूप, शब्द और संकल्प द्वारा विषयसुख भोगने वाले होते हैं ।

अन्य सब देव प्रवीचार रहित अर्थात् वैषयिक सुखभोग से रहित होते हैं ।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले तथा दूसरे स्वर्ग के वैमानिक—इतने देव मनुष्य की तरह शरीर से कामसुख का अनुभव करके प्रसन्नता लाभ करते हैं ।

तीसरे स्वर्ग से ऊपर के वैमानिक देव मनुष्य के समान सर्वाङ्गीण शरीरस्पर्श द्वारा कामसुख नहीं भोगते; किन्तु अन्य अन्य प्रकार से वैषयिक सुख का अनुभव करते हैं । जैसे तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव तो देवियों के स्पर्शमात्र से कामतृष्णा की शान्ति कर लेते हैं, और सुख का अनुभव करते हैं । पाँचवें और छठे स्वर्ग के देव देवियों के सुसज्जित रूप को देखकर ही विषयसुखजन्य संतोष लाभ कर लेते हैं। सातवें और आठवें स्वर्ग के देवों की कामवासना देवियों के विविध शब्दमात्र को सुनने से शान्त हो जाती है और उन्हें विषयसुख के अनुभव का आनन्द मिलता है । नवें और दसवें तथा ग्यारहवें और बारहवें इन दो जोड़ों अर्थात् चार स्वर्गों के देवों की वैषयिक तृप्ति सिर्फ देवियों के चिन्तनमात्र से हो जाती है । इस तृप्ति के लिए उन्हें न तो देवियों के स्पर्श की, न रूप देखने की और न गीत आदि सुनने की अपेक्षा रहती है । सारांश यह है कि—दूसरे स्वर्ग तक ही देवियाँ हैं, ऊपर नहीं । इसलिए वे जब तीसरे आदि ऊपर के स्वर्ग में

रहनेवाले देवों को विषयसुख के लिए उत्सुक और इस कारण अपनी ओर आदरशील जानती हैं, तभी वे ऊपर के देवों के निकट पहुँच जाती हैं; वहाँ पहुँचते ही उनके हस्त आदि के स्पर्शमात्र से तीसरे, चौथे स्वर्ग के देवों की कामतृप्ति हो जाती है। उनके शृङ्गारसज्जित मनोहर रूप को देखने मात्र से पाँचवें और छठे स्वर्ग के देवों की कामलालसा पूर्ण हो जाती है। इसी तरह उनके सुन्दर संगीतमय शब्द को सुनने मात्र से सातवें और आठवें स्वर्ग के देव वैषयिक आनन्द का अनुभव कर लेते हैं। देवियों की पहुँच सिर्फ आठवें स्वर्ग तक ही है, इसके ऊपर नहीं। नववें से बारहवें स्वर्ग के देवों की काम-सुखतृप्ति केवल देवियों के चिन्तनमात्र से हो जाती है। बारहवें स्वर्ग से ऊपर जो देव हैं वे शान्त और कामलालसा से रहित होते हैं। इसलिए उनको देवियों के स्पर्श, रूप, शब्द या चिन्तन द्वारा कामसुख भोगने की अपेक्षा नहीं रहती; फिर भी वे अन्य देवों से अधिक सन्तुष्ट और अधिक सुखी होते हैं। कारण स्पष्ट है और वह यह कि—ज्यों ज्यों कामवासना की प्रबलता त्यों त्यों चित्तसंक्लेश अधिक, ज्यों ज्यों चित्तसंक्लेश अधिक त्यों त्यों उसको मिटाने के लिए विषयभोग भी अधिकाधिक चाहिए। दूसरे स्वर्ग तक के देवों की अपेक्षा तीसरे और चौथे के देवों की, और उनकी अपेक्षा पाँचवें छठे के देवों की—इस तरह ऊपर ऊपर के स्वर्ग के देवों की कामवासना मन्द होती है। इसलिए उनके चित्त-संक्लेश की मात्रा भी कम होती है। अतएव उनके कामभोग के साधन भी अल्प कहे गए हैं। बारहवें स्वर्ग के ऊपरवाले देवों की कामवासना शान्त होती है, इस कारण उन्हें स्पर्श, रूप, शब्द, चिन्तन आदि में से किसी भी भोग की इच्छा नहीं होती। वे संतोषजन्य परमसुख में निमग्न रहते हैं। यही कारण है कि जिससे नीचे नीचे की अपेक्षा ऊपर ऊपर के देवों का सुख अधिकाधिक माना गया है। ८-१०।

चतुर्निकाय देवों के पूर्वोक्त भेदों का वर्णन—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमाराः । ११ ।

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगान्धर्वयक्षराक्षसभूत-पिशाचाः । १२ ।

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ।१३।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके । १४ ।

तत्कृतः कालविभागः । १५ ।

बहिरवस्थिताः । १६ ।

वैमानिकाः । १७ ।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । १८ ।

उपर्युपरि । १९ ।

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्र-सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु वि-जय वैजयन्तजयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च । २० ।

असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, और दिक्कुमार ये भवनवासीनिकाय हैं।

किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, और पिशाच ये व्यन्तरनिकाय हैं।

---

१. श्वेताम्बर संप्रदाय में बारह कल्प हैं; पर दिगम्बर संप्रदाय सोलह कल्प मानता है; उनमें ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र और शतार नाम के चार कल्प अधिक हैं। जो क्रमशः छठे, आठवें, नववें और ग्यारहवें नंबर पर आते हैं। दिगम्बर सूत्रपाठ के लिए देखो सूत्रों का तुलनात्मक परिशिष्ट।

सूर्य, चन्द्र तथा ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारा ये ज्योतिष्क-निकाय हैं।

वे मनुष्यलोक में मेरु की चारों ओर प्रदक्षिणा करने वाले तथा नित्य गतिशील हैं।

काल का विभाग उन—चरज्योतिष्कों द्वारा किया हुआ है।

ज्योतिष्क मनुष्यलोक के बाहर स्थिर होते हैं।

चतुर्थ निकायवाले वैमानिक देव हैं।

वे कल्पोपपन्न और कल्पातीत रूप हैं।

और ऊपर ऊपर रहते हैं।

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत तथा नव ग्रैवेयक और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध में उनका निवास है।

दशविध भवनपति

दसों प्रकार के भवनपति जम्बूद्वीपगत सुमेरु पर्वत के नीचे, उसके दक्षिण और उत्तर भाग में तिरछे अनेक कोटाकोटि लक्ष योजन तक रहते हैं। असुरकुमार बहुत करके आवासों में और कभी भवनों में बसते हैं, तथा नागकुमार आदि सब प्रायः भवनों में ही बसते हैं। आवास रत्नप्रभा के पृथ्वीपिंड में से ऊपर नीचे के एक एक हजार योजन छोड़कर बीच के एक लाख अठहत्तर हजार योजन परिमाण भाग में सब जगह हैं; पर भवन तो रत्नप्रभा के नीचे नब्बे हजार योजन परिमाण भाग में ही होते हैं। आवास बड़े मण्डप जैसे होते हैं और भवन नगर सदृश। भवन बाहर से गोल भीतर से समचतुष्कोण और तले में पुष्करकर्णिका जैसे होते हैं।

सभी भवनपति, कुमार इसलिए कहे जाते हैं कि वे कुमार की तरह देखने में मनोहर तथा सुकुमार हैं और मृदु व मधुर गतिवाले तथा क्रीड़ाशील

हैं। दसों प्रकार के भवनपतियों की चिह्नादि स्वरूपसम्पत्ति जन्म से ही अपनी अपनी जाति में जुदा जुदा है। जैसे—असुरकुमारों के मुकुट में चूड़ामणि का चिह्न होता है। नागकुमारों के नाग का, विद्युत्कुमारों के वज्र का, सुपर्णकुमारों के गरुड़ का, अग्निकुमारों के घट का, वातकुमारों के अश्व का, स्तनितकुमारों के वर्धमान—शरावसंपुट (शरावयुगल) का, उदधिकुमारों के मकर का, द्वीपकुमारों के सिंह का और दिक्कुमारों के हस्ति का चिह्न होता है। नागकुमार आदि सभी के चिन्ह उनके आभरण में होते हैं। सभी के वस्त्र, शस्त्र, भूषण आदि विविध होते हैं। ११।

व्यन्तरों के भेद-प्रभेद

सभी व्यन्तर देव ऊर्ध्व, मध्य और अधः—तीनों लोकों में भवन और आवासों में बसते हैं। वे अपनी इच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से भिन्न भिन्न जगह जाया करते हैं। उनमें से कुछ तो मनुष्यों की भी सेवा करते हैं। वे विविध प्रकार के पहाड़ और गुफाओं के अन्तरों में तथा वनों के अन्तरों में बसने के कारण व्यन्तर कहलाते हैं। इनमें से किन्नर नामक व्यन्तर के दस प्रकार हैं; जैसे—किन्नर; किंपुरुष, किंपुरुषोत्तम, किन्नरोत्तम, हृदयंगम, रूपशाली, अनिन्दित, मनोरम, रतिप्रिय और रतिश्रेष्ठ। किंपुरुष नामक व्यन्तर के दस प्रकार हैं; जैसे—पुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषवृषभ, पुरुषोत्तम, अतिपुरुष, मरुदेव, मरुत, मेरुप्रभ और यशस्वान्। महोरग के दस प्रकार ये हैं—भुजग, भोगशाली, महाकाय, अतिकाय, स्कन्धशाली, मनोरम, महावेग, महेष्वक्ष, मेरुकान्त और भास्वान्। गान्धर्व के बारह प्रकार ये हैं—हाहा, हूहू, तुम्बुरव, नारद, ऋषिवादिक, भूतवादिक, कादम्ब, महाकादम्ब, रैवत, विश्वावसु, गीतरति और गीतयशः। यक्षोंके तेरह प्रकार ये

१. संग्रहणी में उदधिकुमारों के अश्व का और वातकुमारों के मकर का चिन्ह लिखा है, गा० २६।

हैं– पूर्णभद्र, माणिभद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्ययक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष और यक्षोत्तम। राक्षसों के सात प्रकार ये हैं– भीम, महाभीम, विघ्न, विनायक, जलराक्षस, राक्षस और ब्रह्मराक्षस। भूतोंके नव प्रकार ये हैं– सुरूप, प्रतिरूप, अतिरूप, भूतोत्तम, स्कन्दिक, महास्कन्दिक, महावेग, प्रतिच्छन्न और आकाशग। पिशाचों के पन्द्रह भेद ये हैं– कूष्माण्ड, पटक, जोप, आन्हक, काल, महाकाल, चौक्ष, अचौक्ष, तालपिशाच, मुखरपिशाच, अधस्तारक, देह, महाविदेह, तूष्णीक और वनपिशाच।

आठों प्रकार के व्यन्तरों के चिन्ह अनुक्रम से अशोक, चम्पक, नाग, तुम्बरु, वट, खट्वाङ्ग[1], सुलस और कदम्बक हैं। खट्वाङ्ग के सिवा शेष सब चिह्न वृक्ष जाति के हैं, सब चिह्न उनके आभूषण आदि में होते हैं। १२।

पञ्चविध ज्योतिष्क

मेरु के समतल भूभाग से सातसौ नव्वे योजन की ऊँचाई पर ज्योतिश्चक्र के क्षेत्र का आरम्भ होता है; जो वहाँ से ऊँचाई में एक सौ दस योजन परिमाण है, और तिरछा असंख्यात द्वीप-समुद्र परिमाण है। उसमें दस योजन की ऊँचाई पर अर्थात् उक्त समतल से आठ सौ योजन की ऊँचाई पर सूर्यके विमान हैं, वहाँ से अस्सी योजन की ऊँचाई पर अर्थात् समतल से आठ सौ अस्सी योजन की ऊँचाई पर चन्द्र के विमान हैं; वहाँ से बीस योजन की ऊँचाई तक में अर्थात् समतल से नव सौ योजन की ऊँचाई तक में ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारे हैं। प्रकीर्ण तारे कहने का मतलब यह है कि अन्य कुछ तारे ऐसे भी हैं जो अनियतचारी होनेसे कभी सूर्य, चन्द्र के नीचे भी चलते हैं और कभी ऊपर भी। चन्द्र के ऊपर बीस योजन की ऊँचाई में पहले चार योजन की ऊँचाई पर नक्षत्र हैं, इसके बाद चार योजन की

---

१. तापस का उपकरण विशेष।

ऊँचाई पर बुधग्रह, बुध से तीन योजन ऊँचे शुक्र, शुक्र से तीन योजन ऊँचे गुरु, गुरु से तीन योजन ऊँचे मङ्गल और मङ्गल से तीन योजन ऊँचे शनैश्चर है। अनियतचारी तारा जब सूर्य के नीचे चलता है, तब वह सूर्य के नीचे दस योजन प्रमाण ज्योतिष-क्षेत्र में चलता है। ज्योतिष-प्रकाशमान विमान में रहने के कारण सूर्य आदि ज्योतिष्क कहलाते हैं। उन सबके मुकुटों में प्रभामण्डल का सा उज्ज्वल, सूर्यादि के मण्डल जैसा चिह्न होता है। सूर्य के सूर्यमण्डल का सा, चन्द्र के चन्द्रमण्डल का सा और तारा के तारामण्डल का सा चिह्न समझना चाहिए। १३।

मानुषोत्तर नामक पर्वत तक मनुष्यलोक है, यह बात पहले कही जा चुकी है। उस मनुष्यलोक में जो ज्योतिष्क हैं, वे सदा भ्रमण किया करते हैं। उनका भ्रमण मेरु के चारों ओर होता है। मनुष्य-लोक में कुल सूर्य और चन्द्र एकसौ बत्तीस हैं। जैसे—

चरज्योतिष्क

जम्बूद्वीप में दो दो, लवणसमुद्र में चार चार, धातकीखण्ड में बारह बारह, कालोदधि में बयालीस बयालीस और पुष्करार्ध में बहत्तर बहत्तर सूर्य तथा चन्द्र हैं। एक एक चन्द्र का परिवार अट्ठाईस नक्षत्र, अट्ठासी ग्रह और छयासठ हजार नवसौ पचहत्तर कोटाकोटी तारों का है। यद्यपि लोक-मर्यादा के स्वभाव से ही ज्योतिष्क विमान सदा ही आपसे आप फिरते रहते हैं; तथापि समृद्धि विशेष प्रकट करने के लिए और आभियोग्य—सेवक नाम कर्म के उदय से क्रीड़ाशील कुछ देव उन विमानों को उठाकर घूमते रहते हैं। आगे के भाग में सिंहाकृति, दाहिने गजाकृति, पीछे बैलरूपधारी और उत्तर में अश्वरूपधारी देव विमान के नीचे लग कर भ्रमण किया करते हैं। १४।

---

१. देखो अ० ३, सू० १४।

मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष; मास आदि; अतीत, वर्तमान आदि; तथा संख्येय असंख्येय, आदि रूप से अनेक प्रकार का कालव्यवहार मनुष्यलोक में ही होता है; उसके बाहर नहीं। मनुष्यलोक के बाहर अगर कोई कालव्यवहार करनेवाला हो और ऐसा व्यवहार करे तो भी वह मनुष्यलोक प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार ही; क्योंकि व्यावहारिक कालविभाग का मुख्य आधार नियत क्रिया मात्र है। ऐसी क्रिया सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति ही है। गति भी ज्योतिष्कों की सर्वत्र नहीं पाई जाती, सिर्फ मनुष्यलोक के अंदर वर्तमान ज्योतिष्कों में ही पाई जाती है। इसीलिए माना गया है कि काल का विभाग ज्योतिष्कों की विशिष्ट गति पर ही निर्भर है। दिन, रात, पक्ष आदि जो स्थूल कालविभाग हैं, वे सूर्य आदि ज्योतिष्कों की नियत गति पर अवलम्बित होने के कारण उससे जाने जा सकते हैं, समय आवलिका आदि सूक्ष्म कालविभाग उससे नहीं जाने जा सकते। स्थान विशेष में सूर्य के प्रथम दर्शन से लेकर स्थान विशेष में जो सूर्य का अदर्शन होता है; इस उदय और अस्त के बीच की सूर्य की गतिक्रिया से ही दिन का व्यवहार होता है। इसी तरह सूर्य के अस्त से उदय तक की गतिक्रिया से रात का व्यवहार होता है। दिन और रात का तीसवाँ भाग मुहूर्त है। पंद्रह दिनरात का पक्ष है। दो पक्षों का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतु का अयन, दो अयन का वर्ष, पाँच वर्षों का युग इत्यादि अनेक प्रकार का लौकिक कालविभाग सूर्य की गतिक्रिया से किया जाता है। जो क्रिया चालू है वह वर्तमान काल, जो होनेवाली है वह अनागत काल और जो हो चुकी है वह अतीत काल। जो काल गिनती में आ सकत

कालविभाग

है वह संख्येय, जो गिनती में नहीं आ सकता सिर्फ उपमान द्वारा जाना जा सकता है वह असंख्येय, जैसे—पल्योपम, सागरोपम आदि; और जिसका अन्त नहीं वह अनन्त है। १५।

मनुष्यलोक के बाहर के सूर्य आदि ज्योतिष्क विमान स्थिर हैं; क्योंकि उनके विमान स्वभाव से ही एक जगह कायम रहते हैं, इधर-उधर भ्रमण नहीं करते। इसी कारण से उनकी लेश्या और उनका प्रकाश भी एकरूप स्थिर है, अर्थात् वहाँ राहु आदि की छाया न पड़ने से ज्योतिष्कों का स्वाभाविक पीतवर्ण ज्यों का त्यों बना रहता है और उदय-अस्त न होने के कारण उनका लक्ष योजन परिमाण प्रकाश भी एकसा स्थिर ही रहता है। १६।

स्थिरज्योतिष्क

चतुर्थ निकाय के देव वैमानिक कहलाते हैं। उनका वैमानिक नाम पारिभाषिक मात्र है; क्योंकि विमान से चलने वाले तो अन्य निकाय के देव भी हैं। १७।

वैमानिक देव

वैमानिक के कल्पोपपन्न और कल्पातीत ऐसे दो भेद हैं। जो कल्प में रहते हैं वे कल्पोपपन्न और जो कल्प के ऊपर रहते हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं। ये सभी वैमानिक न तो एक ही स्थान में हैं और न तिरछे हैं किन्तु एक दूसरे के ऊपर-ऊपर वर्तमान हैं। १८, १९।

कल्प के सौधर्म, ऐशान आदि बारह भेद हैं। उनमें से सौधर्म-कल्प ज्योतिश्चक्र के ऊपर असंख्यात योजन चढ़ने के बाद मेरु के दक्षिण भाग से उपलक्षित आकाशप्रदेश में स्थित है। उसके बहुत ऊपर किन्तु उत्तर की ओर ऐशान कल्प है। सौधर्म कल्प के बहुत समश्रेणि में सानत्कुमार कल्प है, और ऐशान के ऊपर समश्रेणि में माहेन्द्र कल्प है।

---

१. यह तो अनन्त का शब्दार्थ है। उसका पूरा भाव समझने के लिये देखो, चौथा कर्मग्रन्थ।

इन दोनों के मध्य में किन्तु ऊपर ब्रह्मलोक कल्प है। इसके ऊपर समश्रेणि में क्रम से लान्तक, महाशुक्र, और सहस्रार ये तीन कल्प एक दूसरे के ऊपर हैं। इनके ऊपर सौधर्म और ऐशान की तरह आनत, प्राणत दो कल्प हैं। इनके ऊपर समश्रेणि में सानत्कुमार और माहेन्द्र की तरह आरण और अच्युत कल्प हैं। कल्पों के ऊपर अनुक्रम से नव विमान ऊपर ऊपर हैं; जो पुरुषाकृति लोक के ग्रीवास्थानीय भाग में होने के कारण ग्रैवेयक कहलाते हैं। इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पाँच विमान उपर ऊपर हैं जो सबसे उत्तर—प्रधान होने के कारण अनुत्तर कहलाते हैं।

सौधर्म से अच्युत तक के देव कल्पोपपन्न और इनके ऊपर के सभी देव कल्पातीत हैं। कल्पोपपन्न में स्वामि-सेवक भाव है, कल्पातीत में नहीं; वे तो सभी इन्द्रवत् होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। मनुष्यलोक में किसी निमित्त से जाना हुआ, तो कल्पोपपन्न देव ही जाते आते हैं, कल्पातीत अपने स्थान को छोड़कर कहीं नहीं जाते। २०।

कुछ बातों में देवों की उत्तरोत्तर अधिकता और हीनता—

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः। २१।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः। २२।

स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिविषय में ऊपर ऊपर के देव अधिक हैं।

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान में ऊपर ऊपर के देव हीन हैं।

नीचे नीचे के देवों से ऊपर ऊपर के देव सात बातों में अधिक होते हैं; जैसे—

१ स्थिति — इसका विशेष खुलासा आगे तीसवें सूत्र से लेकर त्रेपनवें सूत्र तक है।

२ प्रभाव — निग्रह, अनुग्रह करने का सामर्थ्य; अणिमा महिमा आदि सिद्धि का सामर्थ्य और आक्रमण करके दूसरों से काम करवाने का बल—यह सब प्रभाव के अन्तर्गत हैं। ऐसा प्रभाव यद्यपि ऊपर ऊपर के देवों में अधिक होता है; तथापि उनमें उत्तरोत्तर अभिमान व संक्लेश कम होने से वे अपने प्रभाव का उपयोग कम ही करते हैं।

३,४ सुख और द्युति — इन्द्रियों के द्वारा उनके ग्राह्यविषयों का अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र और आभरण आदि की दीप्ति ही द्युति है। उक्त सुख और द्युति ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक होने के कारण उत्तरोत्तर क्षेत्रस्वभावजन्य शुभ पुद्गलपरिणाम की प्रकृष्टता ही है।

५ लेश्या की विशुद्धि — लेश्या का नियम अगले तेवीसवें सूत्र में स्पष्ट होगा। यहाँ इतना जान लेना चाहिए कि जिन देवों की लेश्या समान है, उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवों की लेश्या संक्लेश की कमी के कारण उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर ही होती है।

६ इन्द्रियविषयक — दूर से इष्ट विषयों को ग्रहण करने का जो इन्द्रियों का सामर्थ्य, वह भी उत्तरोत्तर गुण की वृद्धि और संक्लेश की न्यूनता के कारण ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक-अधिक है।

अवधिज्ञान का सामर्थ्य भी ऊपर-ऊपर के देवों में ज्यादा ही होता है। पहले, दूसरे स्वर्ग के देव अधोभाग में रत्नप्रभा तक, तिरछे भाग में असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वभाग में अपने-अपने भवन तक अवधिज्ञान से जानने का सामर्थ्य रखते हैं। तीसरे-चौथे स्वर्ग के देव

७ अवधिज्ञान का विषय

अधोभाग में शर्कराप्रभा तक, तिरछे भाग में असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वभाग में अपने-अपने भवन तक अवधिज्ञान से देख सकते हैं; इसी तरह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते अन्त में अनुत्तर-विमानवासी देव सम्पूर्ण लोक-नाली को अवधिज्ञान से देख सकते हैं। जिन देवों के अवधिज्ञान का क्षेत्र समान होता है, उनमें भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देव विशुद्ध, विशुद्धतर ज्ञान का सामर्थ्य रखते हैं। २१।

चार बातें ऐसी हैं जो नीचे की अपेक्षा ऊपर उपर के देवों में कम-कम पाई जाती हैं; जैसे—

गमनक्रिया की शक्ति और गमनक्रिया में प्रवृत्ति ये दोनों ही ऊपर ऊपर के देवों में कम पाई जाती हैं; क्योंकि ऊपर ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर महानुभावता और उदासीनता अधिक होने के कारण देशान्तर विषयक क्रीड़ा करने की रति कम-कम होती जाती है।

१ गति

सानत्कुमार आदि के देव जिन की जघन्य स्थिति दो सागरोपम होती है, वे अधोभाग में सातवें नरक तक और तिरछे असंख्यात हजार कोड़ाकोड़ी योजन पर्यन्त जाने का सामर्थ्य रखते हैं। इसके बाद के जघन्य स्थिति वाले देवों का गतिसामर्थ्य घटते-घटते यहाँ तक घट जाता है कि ऊपर के देव अधिक से अधिक तीसरे नरक तक ही जाने का सामर्थ्य रखते हैं। शक्ति चाहे अधिक हो, पर कोई देव अधोभाग में तीसरे नरक से आगे न गया है और न जायगा।

२ शरीर

शरीर का परिमाण पहले, दूसरे स्वर्ग में सात हाथ का; तीसरे, चौथे स्वर्ग में छः हाथ का; पाँचवें, छठे स्वर्ग में पांच हाथ का; सातवें, आठवें स्वर्ग में चार हाथ का; नववें से बारहवें स्वर्ग तक में तीन तीन हाथ का; नव ग्रैवेयक में दो हाथ का और अनुत्तरविमान में एक हाथ का है।

पहले स्वर्ग में बत्तीस लाख विमान; दूसरे में अट्ठाईस लाख, तीसरे में बारह लाख, चौथे में आठ लाख, पाँचवें में चार लाख, छठे में पचास हजार, सातवें में चालीस हजार, आठवें में छः हजार, नववें से बारहवें तक में सात सौ, अधोवर्ती तीन ग्रैवेयक में एकसौ ग्यारह, मध्यम तीन ग्रैवेयक में एकसौ सात; ऊर्ध्व तीन ग्रैवेयक में सौ और अनुत्तर में सिर्फ पाँच ही विमान का परिग्रह है।

३ परिग्रह

अभिमान का मतलब अहंकार से है। स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, विभूति, स्थिति आदि में अभिमान पैदा होता है। ऐसा अभिमान कषाय की कमी के कारण ऊपर ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर कम ही होता है।

४ अभिमान

सूत्र में नहीं कही हुई और भी पाँच बातें देवों के संबन्ध में ज्ञातव्य हैं– १. उच्छ्वास, २. आहार, ३. वेदना, ४. उपपात और ५. अनुभाव।

ज्यों ज्यों देवों की स्थिति बढ़ती जाती है, त्यों त्यों उच्छ्वास का कालमान भी बढ़ता जाता है; जैसे– दस हजार वर्ष की आयुवाले देवों का एक एक उच्छ्वास सात सात स्तोक परिमाण काल में होता है। एक पल्योपम की आयु वाले देवों का उच्छ्वास एक दिन के अन्दर एक ही होता है। सागरोपम की आयु वाले देवों के विषय में यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की हो उनका एक एक उच्छ्वास उतने उतने पक्ष पर होता है।

१ उच्छ्वास

आहार के संबन्ध में यह नियम है कि दस हजार वर्ष की आयु वाले देव एक एक दिन बीच में छोड़कर आहार लेते हैं। पल्योपम की आयु वाले दिनपृथक्त्व[1] के बाद

२ आहार

१. दो की संख्या से लेकर नव की संख्या तक पृथक्त्व का व्यवहार होता है।

आहार लेते हैं। सागरोपम के विषय में यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की हो वे उतने हजार वर्ष के बाद आहार लेते हैं।

३ वेदना

सामान्य रीति से देवों के साता–सुख वेदना ही होती है। कभी असाता–दुःख वेदना हो गई तो वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहती। साता वेदना भी लगातार छः महीने तक एक सी रहकर फिर बदल जाती है।

४ उपपात

उपपात का मतलब उत्पत्तिस्थान की योग्यता से है। अन्य जैनेतर-लिङ्गिक मिथ्यात्वी बारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकते हैं। स्व–जैन-लिङ्गिक मिथ्यात्वी ग्रैवेयक तक जा सकते हैं। सम्यग्दृष्टि पहले स्वर्ग से सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त कहीं भी जा सकते हैं। परन्तु चतुर्दशपूर्वी संयत पाँचवें स्वर्ग से नीचे उत्पन्न होते ही नहीं।

५ अनुभाव

अनुभाव का मतलब लोकस्वभाव–जगद्धर्म से है, इसी की बदौलत सब विमान तथा सिद्धशिला आदि आकाश में निराधार अवस्थित हैं।

भगवान् अरिहन्त के जन्माभिषेक आदि प्रसंगों पर देवों के आसन का कम्पित होना यह भी लोकानुभाव का ही कार्य है। आसनकंप के अनन्तर अवधिज्ञान के उपयोग से तीर्थङ्कर की महिमा को जानकर कुछ देव निकट आकर उनकी स्तुति, वन्दना, उपासना आदि से आत्मकल्याण करते हैं। कुछ देव अपने ही स्थान में रहकर प्रत्युत्थान, अञ्जलिकर्म, प्रणिपात, नमस्कार, उपहार आदि से तीर्थङ्कर की अर्चा करते हैं। यह भी सब लोकानुभाव का ही कार्य है। २२।

वैमानिकों में लेश्या का नियम—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु । २३ ।

दो, तीन और शेष स्वर्गों में क्रम से पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या-वाले देव हैं।

पहले दो स्वर्गों के देवों में पीत—तेजो लेश्या होती है। तीसरे से पाँचवें स्वर्ग तक के देवों में पद्मलेश्या और छठे से सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त के देवों में शुक्ललेश्या होती है। यह नियम शरीरवर्णरूप द्रव्यलेश्या का है, क्योंकि अध्यवसाय रूप भावलेश्या तो सब देवों में छहों पाई जाती हैं। २३।

कल्पों की परिगणना—

प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः। २४।

ग्रैवेयकों से पहले कल्प हैं।

जिनमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि रूप से देवों के विभाग की कल्पना है वे कल्प हैं। ऐसे कल्प ग्रैवेयक के पहले तक अर्थात् सौधर्म से अच्युत पर्यन्त बारह हैं। ग्रैवेयक से लेकर सभी कल्पातीत हैं; क्योंकि उनमें इन्द्र, सामानिक; त्रायस्त्रिंश आदि रूप से देवों की विभाग कल्पना नहीं है; अर्थात् वे सभी बराबरी वाले होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। २४।

लोकान्तिक देवों का वर्णन—

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः। २५।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च। २६।

१. रायल एशियाटिक सोसायटी की मुद्रित पुस्तक में 'अरिष्टाश्च' इस अंश को निश्चित रूप से सूत्र में न रखकर कोष्ठक में रक्खा है; परन्तु म० म० की मुद्रित पुस्तक में यही अंश 'रिष्टाश्च' पाठ सूत्रगत ही निश्चित रूप से छपा है। यद्यपि श्वेताम्बर संप्रदाय के मूलसूत्र में 'ऽरिष्टाश्च' ऐसा पाठ

ब्रह्मलोक ही लोकान्तिक देवों का आलय — निवासस्थान है।

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट ये लोकान्तिक हैं।

लोकान्तिक देव जो विषयरति से रहित होने के कारण देवर्षि कहलाते हैं, तथा आपस में छोटे बड़े न होने के कारण सभी स्वतन्त्र हैं और जो तीर्थङ्कर के निष्क्रमण—गृहत्याग के समय उनके सामने उपस्थित होकर "बुज्झह बुज्झह" शब्द द्वारा प्रतिबोध करने का अपना आचार पालन करते हैं; वे ब्रह्मलोक नामक पाँचवें स्वर्ग के ही चारों ओर दिशाओं-विदिशाओं में रहते हैं, दूसरी जगह कहीं नहीं रहते। वे सभी वहाँ से च्युत होकर मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष पाते हैं।

हरएक दिशा, हरएक विदिशा और मध्यभाग में एक एक जाति बसने के कारण उनकी कुल नव जातियाँ हैं; जैसे—पूर्वोत्तर अर्थात् ईशान-कोण में सारस्वत, पूर्व में आदित्य, पूर्वदक्षिण—अग्निकोण में वन्हि, दक्षिण में अरुण, दक्षिणपश्चिम—नैर्ऋत्यकोण में गर्दतोय, पश्चिम में तुषित, पश्चिमोत्तर—वायव्यकोण में अव्याबाध, उत्तर में मरुत और बीच में अरिष्ट नामक लोकान्तिक रहते हैं। इनके सारस्वत आदि नाम विमान के नाम के आधार पर ही प्रसिद्ध हैं। यहाँ इतनी विशेषता और भी जान लेनी चाहिए कि इन दो सूत्रों के मूलभाष्य में लोकान्तिक देवों के आठ ही भेद बतलाये गए हैं, नव नहीं। दिगम्बर संप्रदाय के सूत्र पाठ से भी अष्ट

है, तथापि इस सूत्र के भाष्य की टीका में "सुरिणोपात्ताः रिष्टविमानप्रस्तारवर्तिभिः" इत्यादि उल्लेख है; जिससे 'अरिष्ट' के स्थान में 'रिष्ट' होने का भी तर्क हो सकता है। परन्तु दिगम्बर संप्रदाय में इस सूत्र का अन्तिम भाग 'ऽव्याबाधारिष्टाश्च' ऐसा मिलता है। इससे यहाँ साफ तौर पर 'अरिष्ट' नाम ही फलित होता है, 'रिष्ट' नहीं; साथ ही 'मरुत' का भी विधान नहीं है।

संख्या की ही उपलब्धि होती है, उनमें 'मरुत' का उल्लेख नहीं। हाँ, स्थानाङ्ग आदि सूत्रों में नव भेद जरूर पाये जाते हैं। उत्तमचरित्र में तो दश भेदों का भी उल्लेख मिलता है। इससे ऐसा मालूम होता है कि यहाँ मूलसूत्र में 'मरुतो' पाठ पीछे से प्रक्षिप्त हुआ है। २५, २६।

अनुत्तर विमान के देवों का विशेषत्व–

विजयादिषु द्विचरमाः । २७ ।

विजयादि में देव, द्विचरम– दो बार मनुष्य जन्म धारण करके सिद्धत्व को प्राप्त करने वाले होते हैं।

अनुत्तरविमान के पाँच प्रकार हैं। उनमें से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार विमानों में जो देव रहते हैं, वे द्विचरम होते हैं; अर्थात् वे अधिक से अधिक दो बार मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते हैं। इसका क्रम इस प्रकार है: चार अनुत्तरविमान से च्युत होने के बाद मनुष्यजन्म, उस जन्म के बाद अनुत्तरविमान में देवजन्म, वहाँ से फिर मनुष्य जन्म और उसी जन्म से मोक्ष। परन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देव सिर्फ एक ही बार मनुष्य जन्म लेते हैं, वे उस विमान से च्युत होने के बाद मनुष्यत्व धारण करके उसी जन्म में मोक्ष लाभ करते हैं। अनुत्तर विमानवासी के सिवा अन्य सब प्रकार के देवों के लिए कोई नियम नहीं है; क्योंकि कोई तो एक ही बार मनुष्यजन्म लेकर मोक्ष जाते हैं, कोई दो बार, कोई तीन बार, कोई चार बार और कोई उससे भी अधिक बार जन्म धारण करते हैं। २७।

तिर्यंचों का स्वरूप–

औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः । २८ ।

औपपातिक और मनुष्य से जो शेष हैं, वे तिर्यंचयोनि वाले हैं।

तिर्यंच कौन कहलाते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया है। औपपातिक–देव तथा नारक, और मनुष्य को छोड़कर बाकी के सभी संसारी जीव तिर्यंच कहे जाते हैं। देव, नारक और मनुष्य सिर्फ पञ्चेन्द्रिय होते हैं; पर तिर्यंच में एकेंद्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक सब प्रकार के जीव आ जाते हैं। देव, नारक और मनुष्य जैसे लोक के खास भागों में ही पाये जाते हैं, वैसे तिर्यंच नहीं पाये जाते, क्योंकि उनका स्थान लोक के सब भागों में है। २८।

अधिकार सूत्र–

स्थितिः। २९।

आयु वर्णन की जाती है।

मनुष्य और तिर्यंच की जघन्य और उत्कृष्ट आयु बतलाई गई है। देव और नारक की बतलाना बाकी है, वह इस अध्याय की समाप्ति तक बतलाई जाती है। २९।

भवनपतिनिकाय की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन–

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम्। ३०।

शेषाणां पादोने। ३१।

असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च। ३२।

भवनों में दक्षिणार्ध के इन्द्रों की स्थिति डेढ़ पल्योपम की है।

शेष इन्द्रों की स्थिति पौने दो पल्योपम की है।

दो असुरेन्द्रों की स्थिति क्रम से सागरोपम और कुछ अधिक सागरोपम की है।

यहाँ भवनपतिनिकाय की जो स्थिति बतलाई गई है, वह उत्कृष्ट समझनी चाहिए; क्योंकि जघन्यस्थिति का वर्णन आगे पैंतालीसवें सूत्र में

आने वाला है। भवनपतिनिकाय के असुरकुमार, नागकुमार आदि दस भेद पहले कहे जा चुके हैं। हरएक भेद के दक्षिणार्ध के अधिपति और उत्तरार्ध के अधिपति रूप से दो दो इन्द्र हैं; जिनका वर्णन पहले ही कर दिया गया है। उनमें से दक्षिण और उत्तर के दो असुरेन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है : दक्षिणार्ध के अधिपति चमर नामक असुरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम की और उत्तरार्ध के अधिपति बलि नामक असुरेन्द्र की स्थिति सागरोपम से कुछ अधिक है। असुरकुमार को छोड़कर बाकी के नागकुमार आदि नव प्रकार के भवनपति के जो दक्षिणार्ध के धरण आदि नव इन्द्र हैं, उनकी स्थिति डेढ़ पल्योपम की और जो उत्तरार्ध के भूतानन्द आदि नव इन्द्र हैं, उनकी स्थिति पौने दो पल्योपम की है। ३०-३२।

वैमानिकों की उत्कृष्ट स्थिति–

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् । ३३ ।

सागरोपमे । ३४ ।

अधिके च । ३५ ।

सप्त सानत्कुमारे । ३६ ।

विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च । ३७ ।

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु, विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च । ३८ ।

सौधर्म आदि देवलोकों में निम्नोक्त क्रम से स्थिति जानना।

सौधर्म में दो सागरोपम की स्थिति है।

ऐशान में कुछ अधिक दो सागरोपम की स्थिति है।

सानत्कुमार में सात सागरोपम की स्थिति है।

माहेन्द्र से आरणाच्युत तक क्रम से कुछ अधिक सात सागरोपम, तीन से अधिक सात सागरोपम, सात से अधिक सात सागरोपम, दस से अधिक सात सागरोपम, ग्यारह से अधिक सात सागरोपम, तेरह से अधिक सात सागरोपम, पंद्रह से अधिक सात सागरोपम प्रमाण स्थिति है।

आरणाच्युत के ऊपर नव ग्रैवेयक, चार विजयादि और सर्वार्थसिद्ध में अनुक्रम से एक एक सागरोपम अधिक स्थिति है।

यहाँ वैमानिक देवों की जो स्थिति क्रम से बतलाई गई है वह उत्कृष्ट है; उनकी जघन्य स्थिति आगे बतलाई जाएगी। पहले स्वर्ग में दो सागरोपम की, दूसरे में दो सागरोपम से कुछ अधिक, तीसरे में सात सागरोपम की, चौथे में सात सागरोपम से कुछ अधिक, पाँचवें में दस सागरोपम की, छठे में चौदह सागरोपम की, सातवें में सत्रह सागरोपम की, आठवें में अठारह सागरोपम की, नववें-दसवें में बीस सागरोपम की और ग्यारहवें-बारहवें स्वर्ग में बाईस सागरोपम की स्थिति है। नव ग्रैवेयक में तेईस सागरोपम की, दूसरे में चौबीस सागरोपम की, इसी तरह एक एक बढ़ते बढ़ते नववें ग्रैवेयक में इकतीस सागरोपम की स्थिति है। पहले चार अनुत्तर विमान में बत्तीस और सर्वार्थसिद्ध में तेतीस सागरोपम की स्थिति है। ३२-३८।

वैमानिकों की जघन्य स्थिति—

अपरा पल्योपममधिकं च । ३९ ।

सागरोपमे । ४० ।

---

१. दिगम्बर टीकाओं में और कहीं कहीं श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी विजयादि चार विमानों में उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की मानी है। देखो इसी अध्याय का सू० ४२ का भाष्य। संग्रहणी में भी ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति कही गई है।

अधिके च । ४१ ।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा । ४२ ।

अपरा—जघन्य स्थिति पल्योपम और कुछ अधिक पल्योपम की है ।

दो सागरोपम की है ।

कुछ अधिक दो सागरोपम की है ।

आगे आगे पहली पहली परा—उत्कृष्ट स्थिति अनन्तर अनन्तर की जघन्य स्थिति है ।

सौधर्मादि की जघन्य स्थिति अनुक्रम से इस प्रकार है : पहले स्वर्ग में एक पल्योपम की दूसरे में पल्योपम से कुछ अधिक, तीसरे में दो सागरोपम की, चौथे में दो सागरोपम से कुछ अधिक स्थिति है । पाँचवें से आगे आगे सभी देवलोकों में जघन्य स्थिति वही है जो अपनी अपनी अपेक्षा पूर्व पूर्व के देवलोकों में उत्कृष्ट स्थिति हो । इस नियम के अनुसार चौथे देवलोक की कुछ अधिक सात सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति ही पाँचवें देवलोक में जघन्य स्थिति है; पाँचवें की दस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति छठे में जघन्य स्थिति है; छठे की चौदह सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति सातवें में जघन्य स्थिति है; सातवें की सत्रह सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति आठवें में जघन्य है; आठवें की अठारह सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति नववें-दसवें में जघन्य; नववें-दसवें की बीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति ग्यारहवें-बारहवें की जघन्य; ग्यारहवें-बारहवें की बाईस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति प्रथम ग्रैवेयक की जघन्य स्थिति है; इसी तरह नीचे नीचे के ग्रैवेयक की उत्कृष्ट स्थिति को ऊपर ऊपर के ग्रैवेयक की जघन्य स्थिति समझना चाहिए । इस क्रम से नववें ग्रैवेयक की जघन्य स्थिति तीस सागरोपम की होती है । चार अनुत्तरविमान की जघन्य स्थिति

इकतीस सागरोपम की है। सर्वार्थसिद्ध में उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति में अन्तर नहीं है अर्थात् तेतीस सागरोपम की ही स्थिति है। ३९-४२।

नारकों की जघन्य स्थिति–

नारकाणां च द्वितीयादिषु । ४३ ।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् । ४४ ।

दूसरी आदि भूमियों में नारकों की पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति ही अनन्तर अनन्तर की जघन्य स्थिति है।

पहली भूमि में जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है।

जैसा बयालीसवें सूत्र में देवों की जघन्य स्थिति का क्रम है, वैसा ही क्रम दूसरी से लेकर सातवीं भूमि तक के नारकों की जघन्य स्थिति का है। इस नियम के अनुसार पहली भूमि की एक सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति दूसरी में जघन्य स्थिति है। दूसरी की तीन सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तीसरी में जघन्य है। तीसरी की सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति चौथी में जघन्य है। चौथी की दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति पाँचवीं में जघन्य है। पाँचवीं की सत्रह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति छठी में जघन्य है। छठी की बाईस सागरोपम स्थिति सातवीं में जघन्य है। पहली भूमि में जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है। ४३, ४४।

भवनपतियों की जघन्य स्थिति—

भवनेषु च । ४५ ।

भवनों में भी दस हजार वर्ष प्रमाण ही जघन्य स्थिति है।

व्यन्तरों की स्थिति—

व्यन्तराणां च । ४६ ।

परा पल्योपमम् । ४७ ।

व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है।

और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम प्रमाण है। ४६,४७।

ज्योतिष्कों की स्थिति—

ज्योतिष्काणामधिकम् । ४८ ।

ग्रहाणामेकम् । ४९ ।

नक्षत्राणामर्धम् । ५०

तारकाणां चतुर्भागः । ५१ ।

जघन्या त्वष्टभागः । ५२ ।

चतुर्भागः शेषाणाम् । ५३ ।

ज्योतिष्क अर्थात् सूर्य, चन्द्र की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक पल्योपम की है।

ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की है।

नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति अर्ध पल्योपम की है।

तारों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चौथा भाग है।

और जघन्य स्थिति तो पल्योपम का आठवाँ भाग है।

शेष अर्थात् तारों को छोड़कर बाकी के ज्योतिष्कों अर्थात् ग्रहों तथा नक्षत्रों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चौथा भाग है। ४८–५३।

पाँचवाँ अध्याय

दूसरे से चौथे अध्याय तक जीवतत्त्व का निरूपण हुआ। इस अध्याय में अजीवतत्त्व का निरूपण है।

अजीव के भेद—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः । १ ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये चार अजीवकाय हैं।

निरूपणपद्धति के नियमानुसार पहले लक्षण और बाद में भेदों का कथन करना चाहिए; फिर भी यहाँ सूत्रकार ने अजीवतत्त्व का लक्षण न बतलाकर उसके भेदों का जो कथन किया है उसका अभिप्राय यह है कि अजीव का लक्षण जीव के लक्षण से ही ज्ञात हो जाता है। उसको अलग से कहने की खास आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि अ + जीव, जो जीव नहीं है वह अजीव है। उपयोग जीव का लक्षण है, जिसमें उपयोग न हो वह तत्त्व अजीव; अर्थात् उपयोग का अभाव ही अजीव का लक्षण फलित होता है।

अजीव यह जीव का विरोधी भावात्मक तत्त्व है; वह केवल अभावात्मक नहीं है।

धर्म आदि चार अजीव तत्त्वों को अस्तिकाय कहने का अभिप्राय यह है कि वे तत्त्व सिर्फ एक प्रदेशरूप या एक अवयवरूप नहीं हैं; किन्तु प्रचय अर्थात् समूहरूप हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन तो प्रदेशप्रचय रूप हैं, और पुद्गल अवयवरूप तथा अवयवप्रचय रूप है।

अजीवतत्त्व के भेदों में काल की गणना नहीं की गई है। इसका कारण यह है कि काल के तत्त्वरूप होने में मतभेद है। जो आचार्य उसे तत्त्व मानते हैं वे भी सिर्फ प्रदेशात्मक मानते हैं, प्रदेशप्रचयरूप नहीं मानते; इसलिए उनके मत से भी अस्तिकायों के साथ उसका परिगणन युक्त नहीं है; और जो आचार्य काल को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानते, उनके मत से तो तत्त्व के भेदों में काल का परिगणन प्राप्त ही नहीं है।

प्र०—क्या उक्त चार अजीवतत्त्व दूसरे दर्शनों में भी मान्य हैं?

उ०—नहीं, आकाश और पुद्गल ये दो तत्त्व तो वैशेषिक, न्याय, सांख्य आदि दर्शनों में भी माने गए हैं; परन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो तत्त्व जैनदर्शन के सिवा अन्य किसी भी दर्शन में नहीं माने गए हैं। जिस तत्त्व को जैनदर्शन में आकाशास्तिकाय कहते हैं उसको जैनेतर दर्शनों में आकाश कहते हैं। पुद्गलास्तिकाय यह संज्ञा भी सिर्फ जैनशास्त्र में प्रसिद्ध है। जैनेतरशास्त्रों में पुद्गलस्थानीय तत्त्व का प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से व्यवहार किया गया है। १।

मूलद्रव्यों का कथन—

द्रव्याणि, जीवाश्च । २ ।

धर्मास्तिकाय आदि उक्त चार अजीवतत्त्व और जीव ये पाँच द्रव्य हैं।

जैनदृष्टि के अनुसार यह जगत् सिर्फ पर्याय अर्थात् परिवर्तन रूप नहीं है; किन्तु परिवर्तनशील होने पर भी अनादि-निधन है। इस जगत् में जैनमत के अनुसार अस्तिकाय रूप मूलद्रव्य पाँच हैं, वे ही इस सूत्र में बतलाये गए हैं।

इस सूत्र से लेकर अगले कुछ सूत्रों में द्रव्यों के सामान्य तथा विशेष धर्म का वर्णन करके उनका पारस्परिक साधर्म्य-वैधर्म्य बतलाया गया

पाँचवाँ अध्याय

दूसरे से चौथे अध्याय तक जीवतत्त्व का निरूपण हुआ। इस अध्याय में अजीवतत्त्व का निरूपण है।

अजीव के भेद—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः । १ ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये चार अजीवकाय हैं।

निरूपणपद्धति के नियमानुसार पहले लक्षण और बाद में भेदों का कथन करना चाहिए; फिर भी यहाँ सूत्रकार ने अजीवतत्त्व का लक्षण न बतलाकर उसके भेदों का जो कथन किया है उसका अभिप्राय यह है कि अजीव का लक्षण जीव के लक्षण से ही ज्ञात हो जाता है। उसको अलग से कहने की खास आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि अ + जीव, जो जीव नहीं है वह अजीव है। उपयोग जीव का लक्षण है, जिसमें उपयोग न हो वह तत्त्व अजीव; अर्थात् उपयोग का अभाव ही अजीव का लक्षण फलित होता है।

अजीव यह जीव का विरोधी भावात्मक तत्त्व है; वह केवल अभावात्मक नहीं है।

धर्म आदि चार अजीव तत्त्वों को अस्तिकाय कहने का अभिप्राय यह है कि वे तत्त्व सिर्फ एक प्रदेशरूप या एक अवयवरूप नहीं हैं; किन्तु प्रचय अर्थात् समूहरूप हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन तो प्रदेशप्रचय रूप हैं, और पुद्गल अवयवरूप तथा अवयवप्रचय रूप है।

अजीवतत्त्व के भेदों में काल की गणना नहीं की गई है। इसका कारण यह है कि काल के तत्त्वरूप होने में मतभेद है। जो आचार्य उसे तत्त्व मानते हैं वे भी सिर्फ प्रदेशात्मक मानते हैं, प्रदेशप्रचयरूप नहीं मानते; इसलिए उनके मत से भी अस्तिकायों के साथ उसका परिगणन युक्त नहीं है; और जो आचार्य काल को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानते, उनके मत से तो तत्त्व के भेदों में काल का परिगणन प्राप्त ही नहीं है।

प्र०—क्या उक्त चार अजीवतत्त्व दूसरे दर्शनों में भी मान्य हैं?

उ०—नहीं, आकाश और पुद्गल ये दो तत्त्व तो वैशेषिक, न्याय, सांख्य आदि दर्शनों में भी माने गए हैं; परन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो तत्त्व जैनदर्शन के सिवा अन्य किसी भी दर्शन में नहीं माने गए हैं। जिस तत्त्व को जैनदर्शन में आकाशास्तिकाय कहते हैं उसको जैनेतर दर्शनों में आकाश कहते हैं। पुद्गलास्तिकाय यह संज्ञा भी सिर्फ जैनशास्त्र में प्रसिद्ध है। जैनेतरशास्त्रों में पुद्गलस्थानीय तत्त्व का प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से व्यवहार किया गया है। १।

मूलद्रव्यों का कथन—

द्रव्याणि, जीवाश्च । २ ।

धर्मास्तिकाय आदि उक्त चार अजीवतत्त्व और जीव ये पाँच द्रव्य हैं।

जैनदृष्टि के अनुसार यह जगत् सिर्फ पर्याय अर्थात् परिवर्त्तन रूप नहीं है; किन्तु परिवर्त्तनशील होने पर भी अनादि-निधन है। इस जगत् में जैनमत के अनुसार अस्तिकाय रूप मूलद्रव्य पाँच हैं, वे ही इस सूत्र में बतलाये गए हैं।

इस सूत्र से लेकर अगले कुछ सूत्रों में द्रव्यों के सामान्य तथा विशेष धर्म का वर्णन करके उनका पारस्परिक साधर्म्य-वैधर्म्य बतलाया गया

है। साधर्म्य का अर्थ है समानधर्म—समानता और वैधर्म्य का अर्थ है विरुद्धधर्म—असमानता। इस सूत्र में जो द्रव्यत्व का विधान है वह धर्मास्तिकाय आदि पाँचों पदार्थों का द्रव्यरूप साधर्म्य है। अगर वह हो सकता है तो गुण या पर्याय का, क्योंकि गुण और पर्याय स्वयं द्रव्य नहीं हैं। २।

मूलद्रव्यों का साधर्म्य और वैधर्म्य—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि । ३ ।

रूपिणः पुद्गलाः । ४ ।

आऽऽकाशादेकद्रव्याणि । ५ ।

निष्क्रियाणि च । ६ ।

उक्त द्रव्य नित्य हैं, स्थिर हैं और अरूपी हैं।

पुद्गल रूपी अर्थात् मूर्त हैं।

उक्त पाँच में से आकाश तक के द्रव्य एक एक हैं।

और निष्क्रिय हैं।

धर्मास्तिकाय आदि पाँचों द्रव्य नित्य हैं अर्थात् वे अपने अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से कदापि च्युत नहीं होते। वे पाँचों स्थिर भी हैं, क्योंकि उनकी संख्या में कभी न्यूनाधिकता नहीं होती; परंतु अरूपी तो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये चार ही द्रव्य हैं। पुद्गलद्रव्य अरूपी नहीं है। सारांश यह कि—नित्यत्व तथा अवस्थितत्व ये दोनों पाँचों द्रव्यों के साधर्म्य हैं, परंतु अरूपित्व पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्यों का साधर्म्य है।

---

१. भाष्य में 'आ आकाशात्' ऐसा सन्धिरहित पाठ है, दिगम्बर परंपरा में तो सूत्र में भी सन्धिरहित पाठ है।

प्र०—नित्यत्व और अवस्थितत्व के अर्थ में क्या अन्तर है ?

उ०—अपने अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से च्युत न होना नित्यत्व है, और अपने अपने स्वरूप में कायम रहते हुए भी दूसरे तत्व के स्वरूप को प्राप्त न करना अवस्थितत्व है; जैसे जीवतत्त्व अपने द्रव्यात्मक सामान्य रूप और चेतनात्मक विशेष रूप को कभी नहीं छोड़ता, यह उसका नित्यत्व है; और उक्त स्वरूप को न छोड़ता हुआ भी अजीव तत्त्व के स्वरूप को प्राप्त नहीं करता यह उसका अवस्थितत्व है। सारांश यह कि स्व-स्वरूप को न त्यागना और परस्वरूप को प्राप्त न करना ये दो अंश—धर्म सभी द्रव्यों में समान हैं। उनमें से पहला अंश नित्यत्व और दूसरा अंश अवस्थितत्व कहलाता है। द्रव्यों के नित्यत्वकथन से जगत की शाश्वतता सूचित की जाती है और अवस्थितत्वकथन से उनका पारस्परिक असांकर्य सूचित किया जाता है; अर्थात् वे सब परिवर्तनशील होने पर भी अपने स्वरूप में सदा स्थित हैं और एक साथ रहते हुए भी एक दूसरे के स्वभाव—लक्षण से अस्पृष्ट हैं। अतएव यह जगत् अनादि-निधन भी है और इसके मूल तत्त्वों की संख्या भी एक सी रहती है।

प्र०—धर्मास्तिकाय आदि अजीव जब द्रव्य हैं और तत्त्व भी हैं तब उनका कोई न कोई स्वरूप अवश्य मानना पड़ेगा, फिर उन्हें अरूपी कैसे कहा गया ?

उ०—यहाँ अरूपित्व का मतलब स्वरूपनिषेध से नहीं है, स्वरूप तो धर्मास्तिकाय आदि तत्त्वों का भी अवश्य होता है। अगर उनका कोई स्वरूप न हो तब तो वे अश्वशृङ्ग की तरह वस्तु ही सिद्ध न हों। यहाँ अरूपित्व के कथन से रूप—मूर्ति का निषेध करना है। रूप का अर्थ यहाँ मूर्ति है। रूप आदि संस्थान परिणाम को अथवा रूप, रस, गन्ध

और स्पर्श के समुदाय को मूर्ति कहते हैं। ऐसी मूर्ति का धर्मास्तिकाय आदि चार तत्त्वों में अभाव होता है। यही बात 'अरूपी' पद से कही गई है। ३।

रूप, मूर्तत्व, मूर्ति ये सभी शब्द समानार्थक हैं। रूप, रस आदि जो गुण इन्द्रियों से ग्रहण किये जा सकते हैं, वे इन्द्रियग्राह्य गुण ही मूर्ति कहे जाते हैं। पुद्गलों के गुण इन्द्रियग्राह्य हैं, इसलिए पुद्गल ही मूर्त—रूपी हैं। पुद्गल के सिवा अन्य कोई द्रव्य मूर्त नहीं हैं; क्योंकि वे इन्द्रियों से गृहीत नहीं होते। अतएव रूपित्व यह पुद्गल से भिन्न धर्मास्तिकाय आदि चार तत्त्वों का वैधर्म्य है।

यद्यपि अतीन्द्रिय होने से परमाणु आदि अनेक सूक्ष्म द्रव्य और उनके गुण इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं, तथापि विशिष्ट परिणामरूप अवस्था विशेष में वे ही इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने की योग्यता रखते हैं; इसी कारण वे अतीन्द्रिय होते हुए भी रूपी—मूर्त ही हैं। अरूपी कहे जाने वाले धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य तो इन्द्रिय के विषय बनने की योग्यता ही नहीं रखते। अतीन्द्रिय पुद्गल और अतीन्द्रिय धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में यही अन्तर है। ४।

उक्त पाँच द्रव्यों में से आकाश पर्यंत के तीन द्रव्य अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक एक व्यक्ति रूप हैं। इनकी दो या दो से अधिक व्यक्तियाँ नहीं है।

इसी तरह वे तीनों ही निष्क्रिय—क्रियारहित हैं। एक व्यक्तित्व और निष्क्रियत्व ये दोनों उक्त तीनों द्रव्यों का साधर्म्य और जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय का वैधर्म्य है। जीव और पुद्गल द्रव्य की अनेक व्यक्तियाँ हैं और वे क्रियाशील भी हैं। जैनदर्शन वेदान्त की तरह आत्मद्रव्य को एक व्यक्तिरूप नहीं मानता और सांख्य, वैशेषिक आदि सभी वैदिक दर्शनों की तरह उसे निष्क्रिय भी नहीं मानता।

प्र०—जैनमत के अनुसार सभी द्रव्यों में पर्यायपरिणमन—उत्पाद, व्यय माना जाता है। यह परिणमन क्रियाशील द्रव्यों में हो सकता है। धर्मास्तिकाय आदि तीन द्रव्यों को अगर निष्क्रिय माना जाय तो उनमें पर्यायपरिणमन कैसे घट सकेगा ?

उ०—यहाँ निष्क्रियत्व से गतिक्रिया का निषेध किया गया है, क्रियामात्र का नहीं। जैनमत के अनुसार निष्क्रिय द्रव्य का मतलब 'गति-शून्य द्रव्य' इतना ही है। गतिशून्य धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों में भी सदृशपरिणमन रूप क्रिया जैनदर्शन मानता ही है। ५,६।

प्रदेशों की संख्या का विचार—

असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः । ७ ।
जीवस्य च । ८ ।
आकाशस्यानन्ताः । ९ ।
सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् । १० ।
नाणोः । ११ ।

धर्म और अधर्म के प्रदेश असंख्यात हैं।

एक जीव के प्रदेश असंख्यात हैं।

आकाश के प्रदेश अनन्त हैं।

पुद्गलद्रव्य के प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनन्त होते हैं।

अणु—परमाणु के प्रदेश नहीं होते।

धर्म, अधर्म आदि चार अजीव और जीव इन पाँच द्रव्यों को काय कहकर पहले यह सूचित किया है कि पाँच द्रव्य अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशप्रचय रूप हैं; परन्तु उनके प्रदेशों की विशेष संख्या पहले नहीं बतलाई है, वही संख्या यहाँ बतलाई जाती है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—प्रत्येक द्रव्य के प्रदेश असंख्यात हैं। प्रदेश का मतलब एक ऐसे सूक्ष्म अंश से है, जिसके दूसरे अंश की कल्पना बुद्धि से भी नहीं की जा सकती। ऐसे अविभाज्य सूक्ष्म को निरंश अंश भी कहते हैं। धर्म, अधर्म ये दो द्रव्य एक एक व्यक्ति रूप हैं और उनके प्रदेश—अविभाज्य अंश असंख्यात-असंख्यात हैं। इस कथन से फलित यह हुआ कि उक्त दोनों द्रव्य एक ऐसे अखंड स्कन्धरूप हैं, जिनके असंख्यात अविभाज्य सूक्ष्म अंश सिर्फ बुद्धि से कल्पित किये जा सकते हैं, वे वस्तुभूत स्कन्ध से अलग नहीं किये जा सकते।

जीवद्रव्य व्यक्ति रूप से अनन्त हैं। प्रत्येक जीवव्यक्ति एक अखंड वस्तु है जो धर्मास्तिकाय की तरह असंख्यात प्रदेश-परिमाण है।

आकाशद्रव्य अन्य सब द्रव्यों से बड़ा स्कन्ध है, क्योंकि वह अनन्त प्रदेशपरिमाण है।

पुद्गलद्रव्य के स्कन्ध धर्म, अधर्म आदि दूसरे चार द्रव्योंकी तरह नियत रूप नहीं हैं; क्योंकि कोई पुद्गल स्कन्ध संख्यात प्रदेशों का होता है, कोई असंख्यात प्रदेशों का, कोई अनंत प्रदेशों का, और कोई अनन्तानन्त प्रदेशों का भी होता है।

पुद्गल और दूसरे द्रव्यों के बीच इतना अन्तर है कि—पुद्गल के प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग-अलग हो सकते हैं, पर अन्य चार द्रव्यों के प्रदेश अपने-अपने स्कन्ध से अलग नहीं हो सकते; क्योंकि पुद्गल से भिन्न चारों द्रव्य अमूर्त हैं, और अमूर्त का स्वभाव खंडित न होने का है। पुद्गलद्रव्य मूर्त है, मूर्त के खंड हो भी सकते हैं, क्योंकि संश्लेष और विश्लेष के द्वारा मिलने की तथा अलग होने की शक्ति मूर्तद्रव्य में देखी जाती है। इसी अन्तर के कारण पुद्गलस्कन्ध के छोटे बड़े सभी अंशों को अवयव कहते हैं। अवयव का अर्थ है अलग होने वाला अंश।

यद्यपि परमाणु भी पुद्गल होने के कारण मूर्त है, तथापि उसका विभाग नहीं हो सकता; क्योंकि वह आकाश के प्रदेश की तरह पुद्गल का छोटे से छोटा अंश है। परमाणु का ही परिमाण सबसे छोटा परिमाण है, इसी से वह भी अविभाज्य अंश है।

यहाँ जो परमाणु के खंड—अंश न होना कहा जाता है, वह द्रव्य व्यक्ति रूप से है, पर्याय रूप से नहीं। पर्याय रूप से तो उसके भी अंशों की कल्पना की गई है; क्योंकि एक ही परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस आदि अनेक पर्याय हैं; वे सभी उस द्रव्य के भाव रूप अंश ही हैं। इसलिए एक परमाणु के भी भावपरमाणु अनेक माने जाते हैं।

प्र०—धर्म आदि के प्रदेश और पुद्गल के परमाणु के बीच क्या अन्तर है?

उ०—परिमाण की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं। जितने क्षेत्र में परमाणु रह सकता है, उतने भाग को प्रदेश कहते हैं। परमाणु अविभाज्य अंश होने से उनके समाने लायक क्षेत्र भी अविभाज्य ही होगा। अतएव परमाणु और तत्परिमित प्रदेशसंज्ञक क्षेत्र दोनों ही परिमाण की दृष्टि से समान हैं, तो भी उनके बीच यह अन्तर है कि परमाणु अपने अंशीभूत स्कन्ध से अलग हो सकता है; पर धर्म आदि द्रव्यों के प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग नहीं हो सकते।

प्र०—नवें सूत्र में 'अनन्त' पद है, इससे पुद्गलद्रव्य के अनेक अनन्त प्रदेश होने का अर्थ तो निकल सकता है, पर अनन्तानन्त प्रदेश होने का जो अर्थ ऊपर निकाला है सो किस पद से?

उ०—अनन्तपद सामान्य है, वह सब प्रकार की अनन्त संख्याओं का बोध करा सकता है। इसलिए उसी पद से अनन्तानन्त अर्थ का लाभ हो जाता है। ७–११।

द्रव्यों के स्थितिक्षेत्र का विचार–

लोकाकाशेऽवगाहः । १२ ।
धर्माधर्मयोः कृत्स्ने । १३ ।
एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् । १४ ।
असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् । १५ ।
प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् । १६ ।

आधेय–ठहरनेवाले द्रव्यों की स्थिति लोकाकाश में ही है ।

धर्म और अधर्म द्रव्यों की स्थिति समग्र लोकाकाश में है ।

पुद्गलद्रव्यों की स्थिति लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प से अर्थात् अनिश्चितरूप से है ।

जीवों की स्थिति लोक के असंख्यातवें भाग आदि में होती है ।

क्योंकि प्रदीप की तरह उनके प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है ।

जगत पाँच अस्तिकाय रूप है । इसलिए प्रश्न होता है कि उन पाँच अस्तिकायों का आधार–स्थितिक्षेत्र क्या है ? क्या उनका आधार उनके अतिरिक्त और कोई द्रव्य है, अथवा उन पाँच में से ही कोई एक द्रव्य बाकी के सब द्रव्यों का आधार है ? इस प्रश्न का उत्तर इस जगह यह दिया गया है कि आकाश ही आधार है और बाकी के सब द्रव्य आधेय हैं । यह उत्तर व्यवहारदृष्टि से समझना चाहिए, निश्चयदृष्टि से तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ अर्थात् अपने अपने स्वरूप में स्थित हैं । कोई एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में तात्त्विक दृष्टि से नहीं रह सकता । यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे धर्म आदि चार द्रव्यों का आधार व्यवहारदृष्टि से आकाश माना जाता है, वैसे आकाश का आधार क्या है ? इसका उत्तर यही है कि

आकाश का कोई दूसरा आधार नहीं है, क्योंकि उसमे बड़े परिमाण वाला या उसके बराबर परिमाणवाला और कोई तत्व ही नहीं है। इसलिए व्यवहार या निश्चय दोनों दृष्टियों से आकाश स्वप्रतिष्ठ ही है। आकाश को इतर द्रव्यों का आधार कहने का कारण यह है कि आकाश उन द्रव्यों से महान् है।

आधेयभूत धर्म आदि चार द्रव्य भी समग्र आकाश में नहीं रहते। वे आकाश के अमुक परिमित भाग में ही स्थित हैं। जितने भाग में वे स्थित हैं, उतना आकाशभाग 'लोक' कहलाता है। लोक का अर्थ है पाँच अस्तिकाय। इस भाग के बाहर इर्द गिर्द चारों ओर अनन्त आकाश विद्यमान है। उसमें इतर द्रव्यों की स्थिति न होने के कारण वह भाग अलोकाकाश कहलाता है। यहाँ अस्तिकायों के आधाराधेय संबन्ध का जो विचार है, वह लोकाकाश को ही लेकर समझना चाहिए।

धर्म और अधर्म ये दो अस्तिकाय ऐसे अखंड स्कन्धरूप हैं कि वे संपूर्ण लोकाकाश में ही स्थित हैं। इस बात को यों भी कह सकते हैं कि वस्तुतः अखंड आकाश के भी जो लोक और अलोक ऐसे दो भागों की कल्पना बुद्धि से की जाती है, वह धर्म, अधर्म द्रव्य संबन्ध से ही है। जहाँ उन द्रव्यों का संबन्ध न हो वह अलोक और जहाँ तक संबन्ध हो वह लोक जानना चाहिए।

पुद्गलद्रव्य का आधार सामान्यरूप से लोकाकाश ही नियत है, तथापि विशेष रूप से भिन्न भिन्न पुद्गलद्रव्य के आधारक्षेत्र के परिमाण में अन्तर होता है। पुद्गलद्रव्य धर्म, अधर्मद्रव्य की तरह एक व्यक्तिमात्र तो है ही नहीं, जिससे उसके एकरूप आधारक्षेत्र होने की संभावना की जा सके। भिन्न भिन्न व्यक्ति होते हुए भी पुद्गलों के परिमाण में विविधता है; एकरूपता नहीं है। इसीसे यहाँ उसके आधार का परिमाण अनेक रूप से—

भजना या विकल्प से बतलाया गया है। कोई पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश में, और कोई दो प्रदेश में रहता है। इसी तरह कोई पुद्गल असंख्यात प्रदेश परिमित लोकाकाश में भी रहता है। सारांश यह कि—आधारभूत क्षेत्र के प्रदेशों की संख्या आधेयभूत पुद्गल द्रव्य के परमाणुओं की संख्या से न्यून या उसके बराबर हो सकती है, अधिक नहीं। अतएव एक परमाणु एक ही आकाश प्रदेश में स्थित रहता है, पर द्व्यणुक एक प्रदेश में भी ठहर सकता है और दो में भी। इसी तरह उत्तरोत्तर संख्या बढ़ते बढ़ते त्र्यणुक, चतुरणुक यावत् संख्याताणुक स्कन्ध एक प्रदेश, दो प्रदेश, तीन प्रदेश, यावत् संख्यात प्रदेश क्षेत्र में ठहर सकते हैं। संख्याताणुक द्रव्य की स्थिति के लिए असंख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। असंख्याताणुक स्कन्ध एक प्रदेश से लेकर अधिक से अधिक अपने बराबर की असंख्यात संख्या वाले प्रदेशों के क्षेत्र में ठहर सकता है। अनन्ताणुक और अनन्तानन्ताणुक स्कन्ध भी एक प्रदेश, दो प्रदेश इत्यादि क्रम से बढ़ते बढ़ते संख्यात प्रदेश और असंख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र में ठहर सकते हैं, उनकी स्थिति के लिए अनन्त प्रदेशात्मक क्षेत्र जरूरी नहीं है। पुद्गलद्रव्य का सबसे बड़ा स्कन्ध जिसे अचित्त महास्कन्ध कहते हैं और जो अनन्तानन्त अणुओं का बना हुआ होता है वह भी असंख्यात प्रदेश लोकाकाश में ही समा जाता है।

जैन दर्शन में आत्मा का परिमाण आकाश की तरह न तो व्यापक है और न परमाणु की तरह अणु, किन्तु मध्यम परिमाण माना जाता

---

१. दो परमाणुओं से बना हुआ स्कन्ध—अवयवी द्व्यणुक कहलाता है। तीन परमाणुओं का स्कन्ध त्र्यणुक। इसी तरह चार परमाणुओं का चतुरणुक, संख्यात परमाणुओं का संख्याताणुक, असंख्यात का असंख्याताणुक, अनन्त का अनन्ताणुक और अनन्तानन्त परमाणु जन्य स्कन्ध अनन्तानन्ताणुक कहलाता है।

है। यद्यपि सब आत्माओं का मध्यम परिमाण प्रदेश संख्या की दृष्टि से समान है; तथापि लम्बाई, चौड़ाई आदि सबकी एकसी नहीं है। इसलिए प्रश्न होता है कि जीवद्रव्य का आधारक्षेत्र कमसे कम और अधिक से अधिक कितना माना जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि एक जीव का आधारक्षेत्र लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश तक हो सकता है। यद्यपि लोकाकाश असंख्यात प्रदेश परिमाण है, तथापि असंख्यात संख्या के भी असंख्यात प्रकार होने से लोकाकाश के ऐसे असंख्यात भागों की कल्पना की जा सकती है, जो अंगुलासंख्येय भाग परिमाण हों; इतना छोटा एक भाग भी असंख्यात प्रदेशात्मक ही होता है। उस एक भाग में कोई एक जीव रह सकता है, उतने उतने दो भाग में भी रह सकता है। इसी तरह एक एक भाग बढ़ते बढ़ते आखिरकार सर्व लोक में भी एक जीव रह सकता है अर्थात् जीवद्रव्य का छोटे से छोटा आधारक्षेत्र अंगुलासंख्येय भाग परिमाण का खंड होता है, जो समग्र लोकाकाश का एक असंख्यातवाँ हिस्सा होता है। उसी जीव का कालान्तर में अथवा उसी समय जीवान्तर का कुछ बड़ा आधारक्षेत्र उक्त भाग से दूना भी पाया जाता है। इसी तरह उसी जीव का या जीवान्तर का आधारक्षेत्र उक्त भाग से तिगुना, चौगुना, पाँचगुना आदि क्रम से बढ़ते बढ़ते कभी असंख्यातगुण अर्थात् सर्व लोकाकाश में हो सकता है। एक जीव का आधारक्षेत्र सर्व लोकाकाश तभी हो सकता है, जब वह जीव केवलिसमुद्घात की दशा में हो। जीव के परिमाण की न्यूनाधिकता के अनुसार उसके आधारक्षेत्र के परिमाण की जो न्यूनाधिकता ऊपर कही गई है, वह एक जीव की अपेक्षा से समझनी चाहिए। सर्व जीवराशि की अपेक्षा से तो जीवतत्त्व का आधारक्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि एक जीवद्रव्य के परिमाण में जो काल-भेद से न्यूनाधिकता पाई जाती है, या तुल्य प्रदेश वाले भिन्न-भिन्न जीवों के परिमाण में एक ही समय में जो न्यूनाधिकता देखी जाती है, उसका कारण क्या है? इसका उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि कार्मण शरीर जो अनादि काल से जीव के साथ लगा हुआ है और जो अनन्तानन्त अणुप्रचय रूप होता है, उसके संबन्ध से एक ही जीव के परिमाण में या नाना जीवों के परिमाण में विविधता आती है। कार्मण शरीर सदा एक सा नहीं रहता। उसके संबन्ध से औदारिक आदि जो अन्य शरीर प्राप्त होते हैं, वे भी कार्मण के अनुसार छोटे बड़े होते हैं। जीवद्रव्य वस्तुतः है तो अमूर्त्त, पर वह शरीरसंबन्ध के कारण मूर्तवत् बन जाता है। इसलिए जब जब जितना जितना बड़ा शरीर उसे प्राप्त हो, तब तब उसका परिमाण उतना ही हो जाता है।

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य की तरह जीवद्रव्य भी अमूर्त है, फिर एक का परिमाण नहीं घटता बढ़ता और दूसरे का क्यों घटता बढ़ता है? इस प्रश्न का उत्तर स्वभाव भेद के सिवा और कुछ नहीं है! जीवतत्त्व का स्वभाव ही ऐसा है कि वह निमित्त मिलने पर प्रदीप की तरह संकोच और विकास को प्राप्त करता है; जैसे खुले आकाश में रखे हुए प्रदीप का प्रकाश अमुक परिमाण होता है, पर उसे जब एक कोठरी में रखा जाता है, तब उसका प्रकाश कोठरी भर ही बन जाता है; फिर उसी को जब एक कुंडे के नीचे रखा जाता है तब वह कुंडे के नीचे के भाग को ही प्रकाशित करता है, लोटे के नीचे रखे जाने पर उसका प्रकाश उतना ही हो जाता है। इस प्रकार प्रदीप की तरह जीवद्रव्य भी संकोच-विकासशील है। इसलिए वह जब जब जितने छोटे या बड़े शरीर को धारण करता है तब तब शरीर के परिमाणानुसार उसके परिमाण में संकोच-विकास होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि जीव संकोचस्वभाव के कारण छोटा होता है तब वह लोकाकाश के प्रदेश रूप असंख्यातवें भाग से छोटे भाग में अर्थात् आकाश के एक प्रदेश पर या दो, चार, पाँच आदि प्रदेश पर क्यों समा नहीं सकता ? इसी तरह यदि उसका स्वभाव विकसित होने का है, तो वह विकास के द्वारा सम्पूर्ण लोकाकाश की तरह अलोकाकाश को भी व्याप्त क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर यह है कि संकोच की मर्यादा कार्मण शरीर पर निर्भर है; कार्मण शरीर तो कोई भी अंगुलासंख्यात भाग से छोटा हो ही नहीं सकता; इसलिए जीवका संकोच कार्य भी वहाँ तक ही परिमित रहता है, विकास की मर्यादा लोकाकाश तक ही मानी गई है। इसके दो कारण बतलाए जा सकते हैं, पहला तो यह कि जीव के प्रदेश उतने ही हैं जितने लोकाकाश के। अधिक से अधिक विकास दशा में जीव का एक प्रदेश आकाश के एक ही प्रदेश को व्याप्त कर सकता है, दो या अधिक को नहीं; इसलिए सर्वोत्कृष्ट विकास दशा में भी वह लोकाकाश के बाहरी भाग को व्याप्त नहीं कर सकता। दूसरा कारण यह है कि विकास गतिका कार्य है, और गति धर्मास्तिकाय के सिवा हो नहीं सकती; इस कारण लोकाकाश के बाहर जीव के फैलने का प्रसंग ही नहीं आता।

प्र०—असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश में शरीरधारी अनन्त जीव कैसे समा सकते हैं ?

उ०—सूक्ष्मभाव में परिणत होने से निगोदशरीर से व्याप्त एक ही आकाशक्षेत्र में साधारणशरीरी अनन्त जीव एक साथ रहते हैं; और मनुष्य आदि के एक औदारिक शरीर के ऊपर तथा अन्दर अनेक संमूर्छिम जीवों की स्थिति देखी जाती है, इसलिए लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों का समावेश विरुद्ध नहीं है।

यद्यपि पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त और मूर्त हैं; तथापि लोकाकाश में उनके समा जाने का कारण यह है कि पुद्गलों में सूक्ष्मत्व रूप से परिणत होने की शक्ति है। जब ऐसा परिणमन होता है तब एक ही क्षेत्र में एक दूसरे को व्याघात पहुँचाए बिना अनन्तानन्त परमाणु और अनन्तानन्त स्कन्ध स्थान पा सकते हैं; जैसे एक ही स्थान में हजारों दीपकों का प्रकाश व्याघात के बिना ही समा जाता है। पुद्गलद्रव्य मूर्त होने पर भी व्याघातशील तभी होता है, जब स्थूल भाव में परिणत हो। सूक्ष्मत्वपरिणाम दशा में वह न किसी को व्याघात पहुँचाता है और न स्वयं ही किसी से व्याघात पाता है। १२–१६।

कार्य द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षणों का कथन—

गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः। १७।

आकाशस्यावगाहः। १८।

गति और स्थिति में निमित्त बनना यह अनुक्रम से धर्म और अधर्म द्रव्यों का कार्य है।

अवकाश में निमित्त होना आकाश का कार्य है।

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों अमूर्त होने से इन्द्रियगम्य नहीं हैं; इससे इनकी सिद्धि लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकती। यद्यपि आगम प्रमाण से इनका अस्तित्व माना जाता है, तथापि आगमपोषक ऐसी युक्ति भी है जो उक्त द्रव्यों के अस्तित्व को सिद्ध करती है। वह युक्ति यह है कि—जगत में गतिशील और गतिपूर्वक स्थितिशील

१. यद्यपि "गतिस्थित्युपग्रहौ" ऐसा भी पाठ कहीं कहीं देखा जाता है; तथापि भाष्य को देखने से "गतिस्थित्युपग्रहो" यह पाठ अधिक संगत जान पड़ता है। दिगम्बर परम्परा में तो "गतिस्थित्युपग्रहौ" ऐसा ही पाठ निर्विवाद सिद्ध है।

पदार्थ जीव और पुद्गल दो हैं। यद्यपि गति और स्थिति दोनों ही उक्त दो द्रव्यों के परिणाम व कार्य होने से उन्हीं से पैदा होते हैं, अर्थात् गति और स्थिति का उपादान कारण जीव और पुद्गल ही हैं, तथापि निमित्त कारण जो कार्य की उत्पत्ति में अवश्य अपेक्षित है, वह उपादान कारण से भिन्न होना ही चाहिए। इसीलिए जीव-पुद्गल की गति में निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय की और स्थिति में निमित्त रूप से अधर्मास्तिकाय की सिद्धि हो जाती है। इसी अभिप्राय से शास्त्र में धर्मास्तिकाय का लक्षण ही 'गतिशील पदार्थों की गति में निमित्त होना' बतलाया है और अधर्मास्तिकाय का लक्षण 'स्थिति में निमित्त होना' बतलाया गया है।

धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल ये चारों द्रव्य कहीं न कहीं स्थित हैं, अर्थात् आधेय बनना या अवकाश लाभ करना उनका कार्य है। पर अपने में अवकाश—स्थान देना यह आकाश का कार्य है। इसीसे अवगाहप्रदान को आकाश का लक्षण माना गया है।

प्र०—सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों में आकाशद्रव्य तो माना गया है; पर धर्म, अधर्म द्रव्यों को और किसी ने नहीं माना; फिर जैनदर्शन ही उन्हें स्वीकार क्यों करता है?

उ०—जड़ और चेतन द्रव्य जो दृश्यादृश्य विश्व के खास अंग हैं, उनकी गतिशीलता तो अनुभव सिद्ध है। अगर कोई नियामक तत्त्व न हो तो वे द्रव्य अपनी सहज गतिशीलता के कारण अनन्त आकाश में कहीं भी चले जा सकते हैं। यदि वे सचमुच अनन्त आकाश में चले ही जायँ तो इस दृश्यादृश्य विश्व का नियत संस्थान जो सदा सामान्य रूप से एकसा नजर आता है वह किसी भी तरह घट नहीं सकेगा; क्योंकि अनन्त पुद्गल और अनन्त जीव व्यक्तियाँ भी अनन्त परिमाण विस्तृत आकाश क्षेत्र में बेरोकटोक संचार होने से ऐसे पृथक् हो जायँगी, जिनका पुनः

मिलना और नियतसृष्टि रूप से नजर आना असम्भव नहीं तो दुःसंभव अवश्य हो जायगा। यही कारण है कि गतिशील उक्त द्रव्यों की गतिमर्यादा को नियन्त्रित करने वाले तत्त्व को जैन दर्शन स्वीकार् करता है। यही तत्त्व धर्मास्तिकाय कहलाता है। गतिमर्यादा के नियामक रूप से उक्त तत्त्व को स्वीकार कर लेने पर तुल्य युक्ति से स्थितिमर्यादा के नियामक रूप से अधर्मास्तिकाय तत्त्व को भी जैन दर्शन स्वीकार कर ही लेता है।

पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार जो दिग्द्रव्य का कार्य माना जाता है, उसकी उपपत्ति आकाश के द्वारा हो सकने के कारण दिग्द्रव्य को आकाश से अलग मानने की जरूरत नहीं। पर धर्म, अधर्म द्रव्यों का कार्य आकाश से सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि आकाश को गति और स्थिति का नियामक मानने से वह अनन्त और अखंड होने के कारण जड़ तथा चेतन द्रव्यों को अपने में सर्वत्र गति व स्थिति करने से रोक नहीं सकता और ऐसा होने से नियत दृश्यादृश्य विश्व के संस्थान की अनुपपत्ति बनी ही रहेगी। इसलिए धर्म, अधर्म द्रव्यों को आकाश से अलग स्वतन्त्र मानना न्यायप्राप्त है। जब जड़ और चेतन गतिशील हैं, तब मर्यादित आकाशक्षेत्र में उनकी गति, नियामक के बिना ही अपने स्वभाव से नहीं मानी जा सकती; इसलिए धर्म, अधर्म द्रव्यों का अस्तित्व युक्तिसिद्ध है। १७, १८।

कार्य द्वारा पुद्गल का लक्षण—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्। १९।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च। २०।

शरीर, वाणी, मन, निःश्वास और उच्छ्वास ये पुद्गलों के उपकार—कार्य हैं।

तथा सुख, दुःख, जीवन और मरण ये भी पुद्गलों के उपकार हैं।

अनेक पौद्गलिक कार्यों में से कुछ कार्य यहाँ बतलाए हैं, जो जीवों पर अनुग्रह या निग्रह करते हैं। औदारिक आदि सब शरीर पौद्गलिक ही हैं अर्थात् पुद्गल से ही बने हैं। यद्यपि कार्मण शरीर अतीन्द्रिय है, तथापि वह दूसरे औदारिक आदि मूर्त द्रव्य के संबन्ध से सुखदुःखादि विपाक देता है; जैसे जलादि के संबन्ध से धान। इसलिए उसे भी पौद्गलिक ही समझना चाहिए।

दो प्रकार की भाषा में से भावभाषा तो वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली एक विशिष्ट शक्ति है; जो पुद्गल सापेक्ष होने से पौद्गलिक है, और ऐसे शक्तिवाले आत्मा के द्वारा प्रेरित होकर वचनरूप में परिणत होने वाली भाषावर्गणा के स्कन्ध ही द्रव्यभाषा हैं।

लब्धि तथा उपयोग रूप भावमन पुद्गलावलंबी होने से पौद्गलिक है। ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के जो स्कन्ध गुणदोषविवेचन, स्मरण आदि कार्यों में अभिमुख आत्मा के अनुग्राहक अर्थात् उसके सामर्थ्य के उत्तेजक होते हैं वे द्रव्यमन हैं। इसी प्रकार आत्मा के द्वारा उदर से बाहर निकाला जाने वाला निःश्वासवायु—प्राण और उदर के भीतर पहुँचाया जाने वाला उच्छ्वासवायु—अपान ये दोनों पौद्गलिक हैं, और जीवनप्रद होने से आत्मा के अनुग्रहकारी हैं।

भाषा, मन, प्राण और अपान इन सबका व्याघात और अभिभव देखा जाता है। इसलिए वे शरीर की तरह पौद्गलिक ही हैं।

जीव का प्रीतिरूप परिणाम सुख है, जो सातावेदनीय कर्म रूप अन्तरंग कारण और द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य कारण से उत्पन्न होता है।

परिताप ही दुःख है, जो असातावेदनीय कर्म रूप अन्तरंग कारण और द्रव्य आदि बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है।

आयुकर्म के उदय से देहधारी जीव के प्राण और अपान का चालू रहना जीवित है, और प्राणापान का उच्छेद होना मरण है। ये सब सुख, दुःख आदि पर्याय जीवों में पुद्गलों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे जीवों के प्रति पौद्गलिक उपकार माने गए हैं। १९, २०।

कार्य द्वारा जीव का लक्षण—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् । २१ ।

परस्पर के कार्य में निमित्त होना—यह जीवों का उपकार है।

इस सूत्र में जीवों के पारस्परिक उपकार का वर्णन है। एक जीव हित या अहित के उपदेश द्वारा दूसरे जीव का उपकार करता है। मालिक पैसा देकर नौकर पर उपकार करता है, और नौकर हित या अहित की बात कह कर मालिक पर उपकार करता है। आचार्य सत्कर्म का उपदेश करके उसके अनुष्ठान द्वारा शिष्य का उपकार करता है, और शिष्य अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा आचार्य का उपकार करता है। २१।

कार्य द्वारा काल का लक्षण—

वर्त्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य । २२ ।

वर्त्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व ये काल के उपकार हैं।

काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानकर यहाँ उसके उपकार बतलाए गए हैं। अपने अपने पर्याय की उत्पत्ति में स्वयमेव प्रवर्त्तमान धर्म आदि द्रव्यों को निमित्तरूप से प्रेरणा करना यह वर्त्तना कहलाती है। स्वजाति का त्याग किए बिना होने वाला द्रव्य का अपरिस्पन्द रूप पर्याय, जो पूर्वावस्था की

निवृत्ति और उत्तरावस्था की उत्पत्तिरूप है, उसे परिणाम समझना चाहिए। ऐसा परिणाम जीव में ज्ञानादि तथा क्रोधादि; पुद्गल में नील, पीत वर्णादि और धर्मास्तिकाय आदि शेष द्रव्यों में अगुरुलघु गुण की हानि-वृद्धि रूप है। गति– परिस्पन्द ही क्रिया है। ज्येष्ठत्व परत्व है और कनिष्ठत्व अपरत्व है। यद्यपि वर्त्तना आदि कार्य यथासम्भव धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के ही हैं; तथापि काल सब का निमित्त कारण होने से यहाँ वे काल के उपकार रूप से वर्णन किए गए हैं। २२।

पुद्गल के असाधारण पर्याय–

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । २३ ।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्द्योतवन्तश्च । २४ ।

पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले होते हैं।

तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत वाले भी हैं।

बौद्ध लोग पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव के अर्थ में करते हैं, तथा वैशेषिक आदि दर्शनों में पृथिवी आदि मूर्त द्रव्यों को समान रूप से स्पर्श, रस आदि चतुर्गुण युक्त नहीं माना है, किन्तु पृथिवी को चतुर्गुण, जल को

---

१. अगुरुलघु शब्द जैन परम्परा में तीन स्थलों पर भिन्न भिन्न अर्थों में व्यवहृत है:—

(१) आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि जो आठ गुण आठ कर्म से आवार्य—आवरण योग्य—माने गये हैं, उनमें एक अगुरुलघुत्व नामक आत्मगुण है, जो गोत्रकर्म से आवार्य है। गोत्रकर्म का कार्य जीवन में उच्च नीच भाव आरोपित करने का है। लोकव्यवहार में जीव जन्म से, जातिकुल

गन्ध रहित त्रिगुण, तेज को गन्ध-रस रहित द्विगुण और वायु को मात्र स्पर्शगुण वाला माना है। इसी तरह उन्होंने मनमें स्पर्श आदि चारों गुण नहीं माने हैं। इसलिए उन बौद्ध आदि से मतभेद दिखलाना प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है। इस सूत्र से यह सूचित किया जाता है कि जैन दर्शन में जीव और पुद्गल तत्त्व भिन्न हैं। अतः पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव तत्त्व के लिए नहीं होता। इसी तरह पृथिवी, जल, तेज और वायु ये

मे, देश से, रूपरंग से और दूसरे अनेक निमित्तों से उच्च या नीच रूप से व्यवहृत होते हैं। परंतु सब आत्माएँ समान हैं, उनमें न तो कोई उच्च है और न कोई नीच। इस प्रकार शक्ति और योग्यतामूलक जो साम्य है उस साम्य को स्थिर रखनेवाला जो सहजगुण या शक्ति है वह अगुरुलघुत्व कहलाता है।

(२) अगुरुलघु नाम इस प्रकार का एक कर्म है जो छटे नामकर्म के प्रकारों में आता है; उसका कृत्य आगे नामकर्म की चर्चा के समय बताया है वह वहाँ से देखना चाहिए।

(३) पहले नंबर पर जो अगुरुलघुत्व की व्याख्या की गई है वह अगुरुलघुत्व केवल आत्मगत है, जब कि प्रस्तुत अगुरुलघु गुण सभी जीव अजीब द्रव्यों को व्याप्त होता है। यदि द्रव्य स्वतः परिणमनशील हो तो किसी समय भी ऐसा क्यों नहीं होता कि वह द्रव्य अन्य द्रव्य रूप से भी परिणाम को प्राप्त करे? इसी प्रकार ऐसा प्रश्न भी होता है कि एक द्रव्य में रही हुई भिन्न भिन्न शक्तियाँ अर्थात् गुण अपने अपने परिणाम उत्पन्न करते ही रहते हैं तो कोई एक शक्ति अपने परिणाम की नियतधारा की सीमा से बाहर जाकर अन्य शक्ति के परिणाम क्यों नहीं पैदा करती? इसी प्रकार ऐसा प्रश्न भी होता है कि एक द्रव्य में जो अनेक शक्तियाँ स्वीकृत की गई हैं वे अपना नियत सहचरत्व छोड़कर बिखर क्यों नहीं जातीं? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर अगुरुलघुगुण से दिया जाता है। यह गुण सभी द्रव्यों में नियामक पद भोगता है जिससे एक भी द्रव्य द्रव्यान्तर नहीं होता,

सभी पुद्गल रूप से समान हैं; अर्थात् वे सभी स्पर्श आदि चतुर्गुण युक्त हैं। तथा जैन दर्शन में मन भी पौद्गलिक होने के कारण स्पर्श आदि गुणवाला ही है। स्पर्श आठ प्रकार का माना जाता है; जैसे—कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध—चिकना और रूक्ष—रूखा। रस के पाँच प्रकार हैं: तिक्त—कडुवा, कटुक—चरपरा, कषाय—कसैला, खट्टा और मीठा। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध हैं। वर्ण पाँच हैं: काला, नीला—हरा, लाल, पीला और सफेद। उक्त प्रकार से स्पर्श आदि के कुल बीस भेद होते हैं; पर इनमें से प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद तरतम भाव से पाये जाते हैं। जो जो वस्तु मृदु होती है, उस सब के मृदुत्व में कुछ न कुछ तारतम्य पाया जाता है। इस कारण सामान्य रूप से मृदुत्व स्पर्श एक होने पर भी उसके तारतम्य के अनुसार संख्यात,

---

एक भी गुण गुणान्तर का कार्य नहीं करता और नियत सहभावी परस्पर अलग नहीं होते।

ग्रन्थों के सुस्पष्ट आधार के अतिरिक्त भी मैंने अगुरुलघु गुण की अंतिम व्याख्या का विचार किया। मैं इसका संवाद ढूँढ़ रहा था। मुझसे जब कोई पूछता तब यह व्याख्या कहता परंतु संवाद प्राप्त करने की जिज्ञासा तो रहती ही थी। प्रस्तुत टिप्पण लिखने का समय आया तब एकाएक स्व० पंडित गोपालदासजी बरैया की 'श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' पुस्तिका मिल गई। इसमें श्रीयुत बरैयाजीने भी ऐसा ही विचार दरसाया है। इसलिए इतने अंश में मेरे इस विचार को संवाद प्राप्त हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। अतएव मैं इस स्थल पर उल्लेख करता हूँ। विशिष्ट अभ्यासी अधिक अन्वेषण करें। पं० बरैयाजी जैन तत्त्वज्ञान के असाधारण ज्ञाता थे।

ऊपर जिस अगुरुलघुगुण को मानने के लिए जो दलील दी गई है, लगभग उसके जैसी ही एक दलील जैन परम्परा में माने गए धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय का समर्थन करते समय दी जाती है। वह तुलनात्मक दृष्टि से जानने योग्य है। जड़ और चेतन गतिशील होने के कारण आकाश में

असंख्यात और अनन्त तक भेद पाये जाते हैं। यही बात कठिन आदि अन्य स्पर्श तथा रस आदि अन्य पर्यायों के विषय में भी समझनी चाहिए।

शब्द कोई गुण नहीं है; जैसा कि वैशेषिक, नैयायिक आदि मानते हैं। वह भाषावर्गणा के पुद्गलों का एक प्रकार का विशिष्ट परिणाम है। निमित्त भेद से उसके अनेक भेद किए जाते हैं। जो शब्द आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह प्रयोगज, और जो किसी के प्रयत्न के बिना ही उत्पन्न होता है वह वैस्रसिक है। बादलों की गर्जना वैस्रसिक है। प्रयोगज शब्द के छह प्रकार बतलाए गए हैं। वे हैं: १. भाषा—मनुष्य आदि की व्यक्त और पशु, पक्षी आदि की अव्यक्त ऐसी अनेकविध भाषाएँ। २. तत—चमड़ा लपेटे हुए वाद्यों का अर्थात् मृदंग, पटह आदि

चाहे जहाँ चले नहीं जायँ इसके लिए उक्त दोनों काय नियामक रूप से माने गए हैं और कहा गया है कि इनके कारण गतिशील द्रव्यों की गतिस्थिति लोकक्षेत्र जितनी मर्यादित रहती है। जिस प्रकार ये दोनों काय गतिस्थिति के नियामक रूप से माने गए हैं, उसी प्रकार अगुरुलघु गुण के विषय में समझना चाहिए।

गतिस्थिति की मर्यादा के लिए गतिस्थितिशील पदार्थों का स्वभाव ही माना जाय या आकाश का ऐसा स्वभाव माना जाय और उक्त दोनों कायों को नहीं मानें तो क्या असंगति है? ऐसा प्रश्न होना सहज है। परन्तु यह विषय अहेतुवाद का होने के कारण इसमें केवल सिद्ध का समर्थन करना रहता है। वह विषय हेतुवाद या तर्कवाद का नहीं है कि जिससे केवल तर्क के बल से इन कायों का स्वीकार या अस्वीकार किया जाय। अगुरुलघु-गुण के समर्थन के बारे में भी मुख्यरूप से अहेतुवाद का ही आश्रय लेना चाहिए। हेतुवाद अन्त में अहेतुवाद की पुष्टि के लिए ही है ऐसा स्वीकार किए बिना नहीं चलता। इस प्रकार सब दर्शनों में अमुक विषय हेतुवाद और अहेतुवाद की मर्यादा में आ जाते हैं।

का शब्द। ३. वितत—तार वाले वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द। ४. घन—झालर, घंट आदि का शब्द। ५. शुषिर—फूँक कर बजाये जाने वाले शंख, बंसी आदि का शब्द। ६. संघर्ष—लकड़ी आदि के संघर्षण से होनेवाला शब्द।

परस्पर आश्लेष रूप बन्ध के भी प्रायोगिक, वैस्रसिक ऐसे दो भेद हैं। जीव और शरीर का संबन्ध तथा लाख और लकड़ी का संबन्ध प्रयत्न सापेक्ष होने से प्रायोगिक बन्ध है। बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का प्रयत्न निरपेक्ष पौद्गलिक संश्लेष वैस्रसिक-बन्ध है।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के अन्त्य तथा आपेक्षिक ऐसे दो दो भेद हैं। जो सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व दोनों एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से घट न सकें वे अन्त्य और जो घट सकें वे आपेक्षिक। परमाणुओं का सूक्ष्मत्व और जगद्-व्यापी महास्कन्ध का स्थूलत्व अन्त्य है; क्योंकि अन्य पुद्गल की अपेक्षा परमाणुओं में स्थूलत्व और महास्कन्ध में सूक्ष्मत्व घट नहीं सकता। द्व्यणुक आदि मध्यवर्ती स्कन्धों का सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व दोनों आपेक्षिक हैं; जैसे आँवले का सूक्ष्मत्व और बिल्व का स्थूलत्व। आँवला बिल्व की अपेक्षा छोटा होने के कारण उससे सूक्ष्म है और बिल्व आँवले से स्थूल है। परन्तु वही आँवला बेर की अपेक्षा स्थूल भी है और वही बिल्व कूष्माण्ड की अपेक्षा सूक्ष्म भी है। इस तरह जैसे आपेक्षिक होने से एक ही वस्तु में सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व दोनों विरुद्ध पर्याय पायी जा सकती हैं, वैसे अन्त्य सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व एक वस्तु में पाये नहीं जा सकते।

संस्थान इत्थंत्वरूप, अनित्थंत्वरूप से दो प्रकार का है। जिस आकार की किसी के साथ तुलना की जा सके—वह इत्थंत्वरूप, और जिसकी तुलना न की जा सके वह अनित्थंत्वरूप है। मेघ आदि का संस्थान—रचना विशेष अनित्थंत्वरूप है; क्योंकि अनियत रूप होने से किसी एक

प्रकार से उसका निरूपण किया नहीं जा सकता, और अन्य पदार्थों का संस्थान इत्थंत्वरूप है; जैसे गेंद, सिंघाड़ा आदि का। गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, दीर्घ, परिमण्डल—वलयाकार आदि रूप से इत्थंत्वरूप संस्थान के अनेक भेद हैं।

एकत्व अर्थात् स्कन्ध रूप में परिणत पुद्गलपिण्ड का विश्लेष-विभाग होना भेद है। इसके पाँच प्रकार हैं: १. औत्करिक—चीरे या खोदे जाने पर होने वाली लकड़ी, पत्थर आदि का भेदन। २. चौर्णिक—कण कण रूप से चूर्ण हो जाना, जैसे—जौ आदि का सत्तू, आटा इत्यादि। ३. खण्ड—टुकड़े टुकड़े हो कर टूट जाना, जैसे—घड़े का कपालादि। ४. प्रतर—पड़, तहें निकालना, जैसे—अभ्रक, भोजपत्र आदि में। ५. अनुतट—छाल निकलना, जैसे—बाँस, ऊख आदि की।

तम अन्धकार को कहते हैं; जो देखने में रुकावट डालने वाला, प्रकाश का विरोधी एक परिणाम विशेष है।

छाया प्रकाश के ऊपर आवरण आ जाने से होती है। इसके दो प्रकार हैं—आइने आदि स्वच्छ पदार्थों में जो मुख का बिम्ब पड़ता है, जिसमें मुख का वर्ण, आकार आदि ज्यों का त्यों देखा जाता है, वह वर्णादि-विकार परिणामरूप छाया है और अन्य अस्वच्छ द्रव्यों पर जो मात्र प्रतिबिम्ब (परछाईं) पड़ता है वह प्रतिबिम्बरूप छाया है।

सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश आतप और चन्द्र, मणि, खद्योत आदि का अनुष्ण प्रकाश उद्योत है।

स्पर्श आदि तथा शब्द आदि उपर्युक्त सभी पर्याय पुद्गल के ही कार्य होने से पौद्गलिक पर्याय माने जाते हैं।

तेईसवें और चौबीसवें सूत्र को अलग करके यह सूचित किया है कि स्पर्श आदि पर्याय परमाणु और स्कन्ध दोनों में पाये जाते हैं, परन्तु

शब्द बन्ध आदि पर्याय सिर्फ स्कन्ध में पाये जाते हैं। यद्यपि सूक्ष्मत्व परमाणु और स्कन्ध दोनों का पर्याय है, तथापि उसका परिगणन स्पर्श आदि के साथ न करके शब्द आदि के साथ किया है, वह भी प्रतिपक्षी स्थूलत्व पर्याय के साथ उसके कथन का औचित्य समझ करके ही।२३,२४।

पुद्गल के मुख्य प्रकार—

अणवः स्कन्धाश्च । २५ ।

पुद्गल परमाणुरूप और स्कन्धरूप हैं।

व्यक्तिरूप से पुद्गलद्रव्य अनन्त हैं, और उनकी विविधता भी अपरिमित है; तथापि अगले दो सूत्रों में पौद्गलिक परिणाम की उत्पत्ति के भिन्न भिन्न कारण दिखाने के लिए यहाँ तदुपयोगी परमाणु और स्कन्ध—ये दो प्रकार संक्षेप में बतलाए गए हैं। सम्पूर्ण पुद्गलराशि इन दो प्रकारों में समा जाती है।

जो पुद्गलद्रव्य कारणरूप है, कार्यरूप नहीं है, वह अन्त्य द्रव्य कहलाता है। ऐसा द्रव्य परमाणु है, जो नित्य है, सूक्ष्म है और किसी एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श से युक्त है। ऐसे परमाणु-द्रव्य का ज्ञान इन्द्रियों से तो हो नहीं सकता। उसका ज्ञान आगम या अनुमान से साध्य है। परमाणु का अनुमान कार्यहेतु से माना गया है। जो जो पौद्गलिक कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब सकारण हैं। इसी तरह जो अदृश्य अंतिम कार्य होगा, उसका भी कारण होना चाहिए; वही कारण परमाणुद्रव्य है। उसका कारण और कोई द्रव्य न होने से उसे अंतिम कारण कहा है। परमाणुद्रव्य का कोई विभाग नहीं है और न हो सकता है। इसलिए उसका आदि, उसका मध्य और उसका अन्त वह आप ही है। परमाणुद्रव्य अबद्ध—असमुदाय रूप होते हैं।

पुद्गलद्रव्य का दूसरा प्रकार स्कन्ध है। स्कन्ध सभी बद्धसमुदायरूप होते हैं, और वे अपने कारणद्रव्य की अपेक्षा से कार्यद्रव्य रूप तथा अपने कार्यद्रव्य की अपेक्षा से कारणद्रव्य रूप हैं। जैसे द्विप्रदेश आदि स्कन्ध; ये परमाणु आदि के कार्य हैं और त्रिप्रदेश आदि के कारण भी हैं।२५।

अनुक्रम से स्कन्ध और अणु की उत्पत्ति के कारण—

सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते । २६ ।

भेदादणुः । २७ ।

संघात से, भेद से और संघात-भेद दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

अणु भेद से ही उत्पन्न होता है।

स्कन्ध—अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। कोई स्कन्ध संघात—एकत्वपरिणति से उत्पन्न होता है, कोई भेद से बनता है, और कोई एक साथ भेद-संघात दोनों निमित्तों से होता है। जब अलग अलग स्थित दो परमाणुओं के मिलने पर द्विप्रदेशिक स्कन्ध होता है तब वह संघातजन्य कहलाता है। इसी तरह तीन, चार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त यावत् अनन्तानन्त परमाणुओं के मिलने मात्र से त्रिप्रदेश, चतुष्प्रदेश, संख्यातप्रदेश, असंख्यातप्रदेश, अनन्तप्रदेश यावत् अनन्तानन्तप्रदेश तक स्कन्ध बनते हैं; वे सभी संघातजन्य हैं। किसी बड़े स्कन्ध के टूटने मात्र से जो छोटे छोटे स्कन्ध होते हैं, वे भेदजन्य हैं। ये भी द्विप्रदेश से लेकर यावत् अनन्तानन्त प्रदेश तक हो सकते हैं। जब किसी एक स्कन्ध के टूटने पर उसके अवयव के साथ उसी समय दूसरा कोई द्रव्य मिल जाने से नया स्कन्ध बनता है, तब वह स्कन्ध भेद-संघातजन्य है। ऐसे स्कन्ध भी द्विप्रदेश से लेकर अनन्तानन्त प्रदेश तक हो सकते हैं। दो से अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों के लिए यह बात समझनी चाहिए कि तीन,

चार आदि अलग अलग परमाणुओं के मिलने से भी त्रिप्रदेश, चतुष्प्रदेश आदि स्कन्ध होते हैं, और द्विप्रदेश स्कन्ध के साथ एक परमाणु मिलने से त्रिप्रदेश तथा द्विप्रदेश या त्रिप्रदेश स्कन्ध के साथ अनुक्रम से दो या एक परमाणु मिलने से भी चतुष्प्रदेश स्कन्ध बन सकता है।

अणुद्रव्य किसी द्रव्य का कार्य नहीं है, इसलिए उसकी उत्पत्ति में दो द्रव्यों का संघात सम्भव नहीं है। यों तो परमाणु नित्य माना गया है; तथापि यहाँ उसकी उत्पत्ति पर्यायदृष्टि से बतलाई गई है, अर्थात् परमाणु द्रव्यरूप से तो नित्य ही है, पर पर्यायदृष्टि से वह जन्य भी है। कभी स्कन्ध के अवयव रूप बनकर सामुदायिक अवस्था में परमाणु का रहना और कभी स्कन्ध से अलग होकर विशकलित अवस्था में रहना ये सभी परमाणु के पर्याय—अवस्थाविशेष ही हैं। विशकलित अवस्था स्कन्ध के भेद से ही उत्पन्न होती है। इसलिए वहाँ भेद से अणु की उत्पत्ति के कथन का अभिप्राय इतना ही है कि—विशकलित अवस्था विशिष्ट परमाणु भेद का कार्य है, शुद्ध परमाणु नहीं। २६,२७।

अचाक्षुष स्कन्ध के चाक्षुष बनने में हेतु—

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः। २८।

भेद और संघात से ही चाक्षुष स्कन्ध बनते हैं।

अचाक्षुष स्कन्ध भी निमित्त पाकर चाक्षुष बन सकता है, यह दिखाना इस सूत्र का उद्देश्य है।

पुद्गल के परिणाम विविध हैं, अतः कोई पुद्गल स्कन्ध अचाक्षुष—चक्षु से अग्राह्य होता है, तो कोई चाक्षुष—चक्षु से ग्राह्य होता है। जो स्कन्ध पहले सूक्ष्म होने के कारण अचाक्षुष हो वह निमित्तवश सूक्ष्मत्व परिणाम छोड़कर बादर—स्थूल परिणामविशिष्ट बनने से चाक्षुष हो सकता है। उस स्कन्ध के ऐसा होने में भेद तथा संघात दो ही हेतु अपेक्षित

है। जब किसी स्कन्ध में सूक्ष्मत्व परिणाम की निवृत्ति हो कर स्थूलत्व परिणाम उत्पन्न होता है, तब कुछ नये अणु उस स्कन्ध में अवश्य मिल जाते हैं। सिर्फ मिलते ही नहीं; किन्तु कुछ अणु उस स्कन्ध में से अलग भी हो जाते हैं। सूक्ष्मत्व परिणाम की निवृत्ति पूर्वक स्थूलत्व परिणाम की उत्पत्ति न केवल संघात—अणुओं के मिलने मात्र से होती है और न केवल भेद—अणुओं के अलग होने मात्र से ही होती है। स्थूलत्व—बादरत्व रूप परिणाम के सिवाय कोई स्कन्ध चाक्षुष तो हो ही नहीं सकता। इसीलिए यहाँ नियम पूर्वक कहा गया है कि चाक्षुषस्कन्ध भेद और संघात दोनों ही से बनता है।

भेद शब्द के दो अर्थ हैं : १. स्कन्ध का टूटना अर्थात् उसमें से अणुओं का अलग होना तथा २. पूर्व परिणाम निवृत्त होकर दूसरे परिणाम का उत्पन्न होना। इन दो अर्थों में से पहला अर्थ लेकर ऊपर सूत्रार्थ लिखा गया है। दूसरे अर्थ के अनुसार सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है—जब कोई सूक्ष्म स्कन्ध नेत्र से ग्रहण करने योग्य बादर परिणाम को प्राप्त करता है, अर्थात् अचाक्षुष मिट कर चाक्षुष बनता है, तब उसके ऐसा होने में स्थूल परिणाम अपेक्षित है, जो विशिष्ट अनन्ताणु संख्या (संघात) सापेक्ष है। केवल सूक्ष्मत्वरूप पूर्व परिणाम की निवृत्तिपूर्वक नवीन स्थूलत्व परिणाम चाक्षुष बनने का कारण नहीं और केवल विशिष्ट अनन्त संख्या भी चाक्षुष बनने में कारण नहीं; किन्तु परिणाम (भेद) और उक्त संख्या-संघात दोनों ही स्कन्ध के चाक्षुष बनने में कारण हैं।

यद्यपि सूत्रगत चाक्षुष पद से तो चक्षुर्ग्राह्य स्कन्ध का ही बोध होता है; तथापि यहाँ चक्षुःपद से समस्त इन्द्रियों का लाक्षणिक बोध विवक्षित है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होता है कि—सभी अतीन्द्रिय स्कन्धों के ऐन्द्रियक (इन्द्रियग्राह्य) बनने में भेद और संघात दो ही हेतु

अपेक्षित हैं। पौद्गलिक परिणाम की अमर्यादित विचित्रता के कारण जैसे पहले के अतीन्द्रिय स्कन्ध भी पीछे से भेद तथा संघात रूप निमित्त से ऐन्द्रियक बन सकते हैं, वैसे ही स्थूल स्कन्ध भी सूक्ष्म बन जाते हैं। इतना ही नहीं, परिणाम की विचित्रता के कारण अधिक इन्द्रियों से ग्रहण किया जाने वाला स्कन्ध अल्प इन्द्रियग्राह्य बन जाता है। जैसे लवण, हिंगु आदि पदार्थ नेत्र, स्पर्शन, रसन और घ्राण इन चार इन्द्रियों से ग्रहण किये जा सकते हैं; पर वे ही जल में मिलकर गल जाने से सिर्फ रसन और घ्राण दो ही इन्द्रियों से ग्रहण हो सकते हैं।

प्र०—स्कन्ध के चाक्षुष बनने में दो कारण दिखाए, पर अचाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति के कारण क्यों नहीं दिखाए गए?

उ०—छब्बीसवें सूत्र में सामान्य रूप से स्कन्ध मात्र की उत्पत्ति के तीन हेतुओं का कथन किया गया है। यहाँ तो सिर्फ विशेष स्कन्ध की उत्पत्ति के अर्थात् अचाक्षुष से चाक्षुष बनने के हेतुओं का विशेष कथन है। इसलिए उस सामान्य विधान के अनुसार अचाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति के हेतु तीन ही प्राप्त होते हैं। सारांश यह कि छब्बीसवें सूत्र के कथनानुसार भेद, संघात और भेद-संघात इन तीनों हेतुओं से अचाक्षुष स्कन्ध बनते हैं। २८।

'सत्' की व्याख्या—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । २९ ।

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त अर्थात् तदात्मक है वही सत् कहलाता है।

सत् के स्वरूप के विषय में भिन्न भिन्न दर्शनों का मतभेद है। कोई दर्शन सम्पूर्ण सत् पदार्थ को (ब्रह्म को) केवल ध्रुव (नित्य ही) मानता

१. वेदान्त—औपनिषद् शाङ्करमत।

है। कोई[1] दर्शन सत् पदार्थ को निरन्वय क्षणिक (मात्र उत्पाद-विनाशशील) मानता है। कोई[2] दर्शन चेतनतत्त्व रूप सत् को तो केवल ध्रुव (कूटस्थनित्य) और प्रकृति तत्त्व रूप सत् को परिणामिनित्य (नित्यानित्य) मानता है। कोई[3] दर्शन अनेक सत् पदार्थों में से परमाणु, काल, आत्मा आदि कुछ सत् तत्त्वों को कूटस्थनित्य और घट, पट आदि कुछ सत् को मात्र उत्पाद-व्ययशील (अनित्य) मानता है। परंतु जैनदर्शन का सत् के स्वरूप से संबन्ध रखने वाला मन्तव्य उक्त सब मतों से भिन्न है और वही इस सूत्र में बतलाया गया है।

जैनदर्शन का मानना है कि जो सत्—वस्तु है, वह पूर्ण रूप से सिर्फ कूटस्थनित्य या सिर्फ निरन्वयविनाशी या उसका अमुक भाग कूटस्थनित्य और अमुक भाग परिणामिनित्य अथवा उसका कोई भाग तो मात्र नित्य और कोई भाग मात्र अनित्य नहीं हो सकता। इसके मतानुसार चाहे चेतन हो या जड़, अमूर्त हो या मूर्त, सूक्ष्म हो या स्थूल, सभी सत् कहलाने वाली वस्तुएँ उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य रूप से त्रिरूप हैं।

हरएक वस्तु में दो अंश हैं: एक अंश ऐसा है जो तीनों कालों में शाश्वत है और दूसरा अंश सदा अशाश्वत है। शाश्वत अंश के कारण हरएक वस्तु ध्रौव्यात्मक (स्थिर) और अशाश्वत अंश के कारण उत्पाद-व्ययात्मक (अस्थिर) कहलाती है। इन दो अंशों में किसी एक की ओर दृष्टि जाने और दूसरे की ओर न जाने से वस्तु सिर्फ स्थिररूप या सिर्फ अस्थिररूप मालूम होती है। परन्तु दोनों अंशों की ओर दृष्टि देने से ही वस्तु का पूर्ण और यथार्थ स्वरूप मालूम किया जा सकता है; इसलिए दोनों दृष्टियों के अनुसार ही इस सूत्र में सत्—वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। २९।

---

१. बौद्ध। २. सांख्य। ३. न्याय, वैशेषिक।

विरोध का परिहार और परिणामिनित्यत्व का स्वरूप—

तद्भावाव्ययं नित्यम् । ३० ।

जो उसके भाव से (अपनी जाति से) च्युत न हो वही नित्य है ।

पिछले सूत्र में कहा गया है कि एक ही वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है अर्थात् स्थिरास्थिर—उभय रूप है; परन्तु इस पर प्रश्न होता है कि यह कैसे घट सकता है ? जो स्थिर है वही अस्थिर कैसे ? और जो अस्थिर है वही स्थिर कैसे ? एक ही वस्तु में स्थिरत्व, अस्थिरत्व दोनों अंश शीत-उष्ण की तरह परस्पर विरुद्ध होने से एक ही समय में घट नहीं सकते । इसलिए सत् की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक व्याख्या क्या विरुद्ध नहीं है ? इस विरोध के परिहार के लिए जैनदर्शन सम्मत नित्यत्व का स्वरूप बतलाना ही इस सूत्र का उद्देश्य है ।

यदि कुछ अन्य दर्शनों की तरह जैनदर्शन भी वस्तु का स्वरूप ऐसा मानता कि 'किसी भी प्रकार से परिवर्तन को प्राप्त किए बिना ही वस्तु सदा एक रूप में अवस्थित रहती है' तो इस कूटस्थनित्य में अनित्यत्व का सम्भव न होने के कारण एक ही वस्तु में स्थिरत्व, अस्थिरत्व का विरोध आता । इसी तरह अगर जैनदर्शन वस्तु को क्षणिक मात्र मानता, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को क्षण क्षण में उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली मान कर उसका कोई स्थायी आधार न मानता, तो भी उत्पाद-व्ययशील अनित्यपरिणाम में नित्यत्व का सम्भव न होने के कारण उक्त विरोध आता । परन्तु जैनदर्शन किसी वस्तु को केवल कूटस्थनित्य या केवल परिणामिमात्र न मान कर परिणामिनित्य मानता है । इसलिए सभी तत्त्व अपनी अपनी जाति में स्थिर रहते हुए भी निमित्त के अनुसार परिवर्तन (उत्पाद-व्यय) प्राप्त करते रहते हैं । अतएव हरएक वस्तु में मूल जाति (द्रव्य) की अपेक्षा से ध्रौव्य और परिणाम की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय—इनके घटित होने में

कोई विरोध नहीं आता। जैन का परिणामिनित्यत्ववाद सांख्य की तरह सिर्फ जड़ (प्रकृति) तक ही सीमित नहीं है; किन्तु चेतनतत्त्व पर भी वह घटित होता है।

सब तत्त्वों में व्यापक रूप से परिणामिनित्यत्व वाद का स्वीकार करने के लिए साधकप्रमाण मुख्यतया अनुभव है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कोई ऐसा तत्त्व अनुभव में नहीं आता जो सिर्फ अपरिणामी हो या मात्र परिमाणरूप हो। बाह्य, आभ्यन्तर सभी वस्तुएँ परिणामिनित्य ही मालूम होती हैं। अगर सभी वस्तुएँ क्षणिक मात्र हों, तो प्रत्येक क्षण में नयी नयी वस्तु उत्पन्न तथा नष्ट होने के कारण, एवं उसका कोई स्थायी आधार न होने के कारण, उस क्षणिक परिणाम परम्परा में सजातीयता का कभी अनुभव न हो, अर्थात् पहले कभी देखी हुई वस्तु को फिर से देखने पर जो 'यह वही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है वह किसी तरह न हो सकेगा; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के लिए जैसे उसकी विषयभूत वस्तु का स्थिरत्व आवश्यक है, वैसे ही द्रष्टा आत्मा का स्थिरत्व भी आवश्यक है। इसी तरह अगर जड़ या चेतन तत्त्व मात्र निर्विकार हो तो इन दोनों तत्त्व के मिश्रण रूप जगत में क्षण क्षण में दिखाई देनेवाली विविधता कभी उत्पन्न न हो। अतएव परिणामिनित्यत्व वाद को जैनदर्शन युक्तिसंगत मानता है।

व्याख्यान्तर से पूर्वोक्त सत् के नित्यत्व का वर्णन—

"तद्भावाव्ययं नित्यम्"

सत् उसके भाव से च्युत न होने के कारण नित्य है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होना यही वस्तुमात्र का स्वरूप है। यही स्वरूप सत् कहलाता है। सत् स्वरूप नित्य है; अर्थात् वह तीनों कालों में एकसा अवस्थित रहता है। ऐसा नहीं है कि किसी वस्तु में या वस्तुमात्र

में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य कभी हों और कभी न हों। प्रत्येक समय में उत्पादादि तीनों अंश अवश्य होते हैं, यही सत् का नित्यत्व है।

अपनी अपनी जाति को न छोड़ना यह सभी द्रव्यों का ध्रौव्य है और प्रत्येक समय में भिन्न भिन्न परिणामरूप से उत्पन्न और नष्ट होना यह उनका उत्पाद-व्यय है। ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय का चक्र द्रव्यमात्र में सदा पाया जाता है।

उस चक्र में से कभी कोई अंश लुप्त नहीं होता, यही इस सूत्र द्वारा बतलाया गया है। पूर्व सूत्र में ध्रौव्य का जो कथन है वह द्रव्य के अन्वयी—स्थायी अंश मात्र को लेकर और इस सूत्र में जो नित्यत्व का कथन है, वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनों अंशों के अविच्छिन्नत्व को लेकर। यही पूर्व सूत्र में कथित ध्रौव्य और इस सूत्र में कथित नित्यत्व के बीच अन्तर है। ३०।

अनेकान्त के स्वरूप का समर्थन—

अर्पितानर्पितसिद्धेः। ३१।

प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है; क्योंकि आर्पित—अर्पणा अर्थात् अपेक्षा से और अनार्पित—अनर्पणा अर्थात् अपेक्षान्तर से विरोधी स्वरूप सिद्ध होता है।

परस्पर विरुद्ध किन्तु प्रमाण सिद्ध धर्मों का समन्वय एक वस्तु में कैसे हो सकता है, तथा विद्यमान अनेक धर्मों में से कभी एक का और कभी दूसरे का प्रतिपादन क्यों होता है, यह दिखाना इस सूत्र का उद्देश्य है।

'आत्मा सत् है' इस प्रतीति या उक्ति में जो सत्त्व का भान होता है, वह सब प्रकार से घटित नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो आत्मा,

चेतना आदि स्व-रूप की तरह घटादि पर-रूप से भी सत् सिद्ध हो; अर्थात् उसमें चेतना की तरह घटत्व भी भासमान हो; जिससे उसका विशिष्ट स्व-रूप सिद्ध ही न हो। विशिष्ट स्वरूप का अर्थ ही यह है कि वह स्व-रूप से सत् और पर-रूप से सत् नहीं अर्थात् असत् है। इस तरह अपेक्षा-विशेष से सत्त्व और अपेक्षान्तर से असत्त्व ये दोनों धर्म आत्मा में सिद्ध होते हैं। जैसे सत्त्व, असत्त्व वैसे ही नित्यत्व, अनित्यत्व धर्म भी उसमें सिद्ध हैं। द्रव्य (सामान्य) दृष्टि से नित्यत्व और पर्याय (विशेष) दृष्टि से अनित्यत्व सिद्ध होता है। इसी तरह परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले, परन्तु अपेक्षा भेद से सिद्ध ऐसे और भी एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मों का समन्वय आत्मा आदि सब वस्तुओं में अबाधित है; इसलिए सभी पदार्थ अनेक धर्मात्मक माने जाते हैं।

व्याख्यान्तर—

"अर्पितानर्पितसिद्धेः"

प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकार से व्यवहार्य है, क्योंकि अर्पणा और अनर्पणा से अर्थात् विवक्षा के अनुसार प्रधान किंवा अप्रधान भाव से व्यवहार की सिद्धि—उपपत्ति होती है।

अपेक्षाभेद से सिद्ध ऐसे अनेक धर्मों में से भी कभी किसी एक धर्म के द्वारा और कभी उसके विरुद्ध दूसरे धर्म के द्वारा वस्तु का व्यवहार होता है, वह अप्रामाणिक या बाधित नहीं है; क्योंकि विद्यमान सब धर्म भी एक साथ विवक्षित नहीं होते। प्रयोजनानुसार कभी एक की तो कभी दूसरे की विवक्षा होती है। जब जिसकी विवक्षा हो, तब वह प्रधान और दूसरा अप्रधान होता है। जो कर्म का कर्ता है वही उसके फल का भोक्ता हो सकता है। इस कर्म और तज्जन्य फल के समाना-धिकरण्य को दिखाने के लिए आत्मा में द्रव्यदृष्टि से सिद्ध नित्यत्व की

विवक्षा की जाती है। उस समय उसका पर्यायदृष्टि से सिद्ध अनित्यत्व विवक्षित न होने के कारण गौण है; परन्तु कर्तृत्वकाल की अपेक्षा भोक्तृत्वकाल में आत्मा की अवस्था बदल जाती है। ऐसा कर्मकालीन और फलकालीन अवस्थाभेद दिखाने के लिए जब पर्यायदृष्टि सिद्ध अनित्यत्व का प्रतिपादन किया जाता है, तब द्रव्यदृष्टि से सिद्ध नित्यत्व प्रधान नहीं रहता। इस तरह विवक्षा और अविवक्षा के कारण कभी आत्मा को नित्य और कभी अनित्य कहा जाता है। जब दोनों धर्मों की विवक्षा एक साथ की जाती है, तब दोनों धर्मों का युगपत् प्रतिपादन कर सके ऐसा वाचक शब्द न होने के कारण आत्मा को अव्यक्तव्य कहा जाता है। विवक्षा, अविवक्षा और सहविवक्षा आश्रित उक्त तीन वाक्य रचनाओं के पारस्परिक विविध मिश्रण से और भी चार वाक्य रचनाएँ बनती हैं। जैसे—नित्यानित्य, नित्य-अवक्तव्य, अनित्य-अवक्तव्य और नित्य-अनित्य-अवक्तव्य। इन सात वाक्यरचनाओं को सप्तभंगी कहते हैं। इनमें पहले तीन वाक्य और तीन में भी दो वाक्य मूल हैं। जैसे भिन्न भिन्न दृष्टि से सिद्ध नित्यत्व और अनित्यत्व को लेकर विवक्षावश किसी एक वस्तु में सप्तभंगी घटाई जा सकती है; वैसे और भी भिन्न भिन्न दृष्टिसिद्ध किन्तु परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले सत्त्व-असत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, वाच्यत्व-अवाच्यत्व आदि धर्मयुग्मों को लेकर सप्तभंगी घटानी चाहिए। अतएव एक ही वस्तु अनेक धर्मात्मक और अनेक प्रकार के व्यवहार की विषय मानी गई है।३१।

पौद्गलिक बन्ध के हेतु का कथन—

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः।३२।

स्निग्धत्व और रूक्षत्व से बन्ध होता है।

पौद्गलिक स्कन्ध की उत्पत्ति उसके अवयवभूत परमाणु आदि के पारस्परिक संयोग मात्र से नहीं होती। इसके लिए संयोग के अलावा

और भी कुछ अपेक्षित है। यह दिखाना इस सूत्रका उद्देश्य है। अवयवोंके पारस्परिक संयोगके उपरान्त उनमें स्निग्धत्व–चिकनापन, रूक्षत्व–रूखापन गुण का होना भी ज़रूरी है। जब स्निग्ध और रूक्ष अवयव आपसमें मिलते हैं, तब उनका बन्ध—एकत्वपरिणाम होता है, इसी बन्ध से द्व्यणुक आदि स्कन्ध बनते हैं।

स्निग्ध, रूक्ष अवयवों का श्लेष दो प्रकार का हो सकता है: सदृश और विसदृश। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ श्लेष होना सदृश श्लेश है। स्निग्ध का रूक्ष के साथ संयोग होना विसदृश श्लेष है। ३२।

बन्ध के सामान्य विधान के अपवाद–

न जघन्यगुणानाम्। ३३।
गुणसाम्ये सदृशानाम्। ३४।
द्व्यधिकादिगुणानां तु। ३५।

जघन्य गुण—अंश वाले स्निग्ध और रूक्ष अवयवों का बन्ध नहीं होता।

समान अंश होने पर सदृश अर्थात् स्निग्ध से स्निग्ध अवयवों का तथा रूक्ष से रूक्ष अवयवों का बन्ध नहीं होता।

दो अंश अधिकवाले आदि अवयवों का तो बन्ध होता है।

प्रस्तुत सूत्रों में पहला सूत्र बन्ध का निषेध करता है। इसके अनुसार जिन परमाणुओं में स्निग्धत्व या रूक्षत्व का अंश जघन्य हो उन जघन्य गुण परमाणुओं का पारस्परिक बन्ध नहीं हो सकता। इस निषेध से फलित होता है कि मध्यम और उत्कृष्ट संख्यक अंश वाले स्निग्ध, रूक्ष सभी अवयवों का पारस्परिक बन्ध हो सकता है; परन्तु इसमें भी अपवाद है, जो अगले सूत्र में बतलाया गया है। उसके अनुसार सदृश अवयव

जो समान अंश वाले हों उनका पारस्परिक बन्ध नहीं हो सकता। इससे समान अंश वाले स्निग्ध तथा रूक्ष परमाणुओं का स्कन्ध नहीं बनता। इस निषेध का भी फलित अर्थ यह निकलता है कि असमान गुणवाले सदृश अवयवों का बन्ध हो सकता है। इस फलित अर्थ का संकोच करके तीसरे सूत्र में सदृश अवयवों के असमान अंश की बन्धोपयोगी मर्यादा नियत कर दी गई है। तदनुसार असमान अंश वाले भी सदृश अवयवों में जब एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो अंश, तीन अंश, चार अंश आदि अधिक हों तभी उन दो सदृश अवयवों का बन्ध हो सकता है। अतएव अगर एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व की अपेक्षा दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व सिर्फ एक अंश अधिक हो तो उन दो सदृश अवयवों का बन्ध नहीं हो सकता।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्रस्तुत तीनों सूत्रों का पाठ भेद नहीं है; पर अर्थभेद है। अर्थभेद में ये तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. जघन्यगुण परमाणु एक संख्यावाला हो, तब बन्ध का होना या न होना। २. पैंतीसवें सूत्र में आदिपद से तीन आदि संख्या लेना या नहीं। ३. पैंतीसवें सूत्र का बन्धविधान सिर्फ सदृश सदृश अवयवों के लिए मानना या नहीं।

१. भाष्य और वृत्ति के अनुसार दोनों परमाणु जब जघन्य गुण वाले हों, तभी उनका बन्ध निषिद्ध है; अर्थात् एक परमाणु जघन्य गुण हो और दूसरा जघन्य गुण न हो तो भाष्य तथा वृत्ति के अनुसार उनका बन्ध होता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार जघन्य गुण युक्त दो परमाणुओं के पारस्परिक बन्ध की तरह एक जघन्य गुण परमाणु का दूसरे अजघन्य गुण परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता।

२. भाष्य और वृत्ति के अनुसार पैंतीसवें सूत्र में आदिपद का तीन आदि संख्या अर्थ लिया जाता है। अतएव उसमें किसी एक अवयव से

दूसरे अवयव में स्निग्धत्व या रूक्षत्व के अंश दो, तीन, चार यावत् संख्यात, असंख्यात, अनन्त अधिक होने पर भी बन्ध माना जाता है; सिर्फ एक अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता ! परन्तु सभी दिगम्बर व्याख्याओं के अनुसार सिर्फ दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है; अर्थात् एक अंश की तरह तीन, चार यावत् संख्यात, असंख्यात, अनन्त अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता।

३. पैंतीसवें सूत्र में भाष्य और वृत्ति के अनुसार दो, तीन आदि अंशों के अधिक होने पर जो बन्ध का विधान है वह सदृश अवयवों में ही लागू पड़ता है; परन्तु दिगम्बर व्याख्याओं में वह विधान सदृश की तरह असदृश परमाणुओं के बन्ध में भी लागू पड़ता है।

इस अर्थ-भेद के कारण दोनों परम्पराओं में जो बन्ध विषयक विधि-निषेध फलित होता है, वह आगे के कोष्ठकों में दिखाया जाता है—

भाष्य-वृत्त्यनुसारी कोष्ठक

गुण—अंश	सदृश	विसदृश
१. जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२. जघन्य + एकाधिक	नहीं	है
३. जघन्य + द्व्यधिक	है	है
४. जघन्य + त्र्यादि अधिक	है	है
५. जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	है
६. जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७. जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८. जघन्येतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	है	है

सर्वार्थसिद्धि आदि के अनुसार कोष्ठक

गुण–अंश	सदृश	विसदृश
१. जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२. जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
३. जघन्य + द्व्यधिक	नहीं	नहीं
४. जघन्य + त्र्यादि अधिक	नहीं	नहीं
५. जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
६. जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७. जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८. जघन्येतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

स्निग्धत्व, रूक्षत्व दोनों स्पर्श विशेष हैं। ये अपनी अपनी जाति की अपेक्षा एक एक रूप होने पर भी परिणमन की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। तरतमता यहाँ तक होती है कि निकृष्ट स्निग्धत्व और निकृष्ट रूक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रूक्षत्व के बीच अनन्तानन्त अंशों का अन्तर पाया जाता है। उदाहरणार्थ, बकरी और ऊँटनी के दूध के स्निग्धत्व का अन्तर। दोनों में स्निग्धत्व होता ही है, परन्तु एक में बहुत कम और दूसरे में बहुत अधिक। तरतमता वाले स्निग्धत्व और रूक्षत्व परिणामों में जो परिणाम सबसे निकृष्ट अर्थात् अविभाज्य हो वह जघन्य अंश कहलाता है। जघन्य को छोड़कर बाकी के सभी जघन्येतर कहलाते हैं। जघन्येतर में मध्यम और उत्कृष्ट संख्या आ जाती है। जो स्निग्धत्व परिणाम सबसे अधिक हो वह उत्कृष्ट; और जघन्य तथा उत्कृष्ट के बीच सभी परिणाम मध्यम हैं। जघन्य स्निग्धत्व

की अपेक्षा उत्कृष्ट स्निग्धत्व अनन्तानन्त गुण अधिक होने से यदि जघन्य स्निग्धत्व को एक अंश कहा जाय, तो उत्कृष्ट स्निग्धत्व को अनन्तानन्त अंशपरिमित समझना चाहिए। दो, तीन यावत् संख्यात, असंख्यात, अनन्त और एक कम उत्कृष्ट तक के सभी अंश मध्यम समझने चाहिएँ।

यहाँ सदृश का अर्थ है स्निग्ध का स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ बंध होना, और विसदृश का अर्थ है स्निग्ध का रूक्ष के साथ बंध होना। एक अंश जघन्य और उससे एक अधिक अर्थात् दो अंश एकाधिक हैं। दो अंश अधिक हों तब द्व्यधिक और तीन अंश अधिक हों तब त्र्यधिक। इसी तरह चार अंश अधिक होने पर चतुरधिक यावत् अनन्तानन्त अधिक कहलाता है। सम का मतलब सम संख्या से है। दोनों तरफ अंशों की संख्या बराबर हो तब वह सम है। दो अंश जघन्येतर का सम जघन्येतर दो अंश हैं, दो अंश जघन्येतर का एकाधिक जघन्येतर तीन अंश हैं, दो अंश जघन्येतर का द्व्यधिक जघन्येतर चार अंश हैं, दो अंश जघन्येतर का त्र्यधिक जघन्येतर पाँच अंश हैं और चतुरधिक जघन्येतर छः अंश हैं। इसी तरह तीन आदि से अनन्तांश जघन्येतर तक के सम, एकाधिक, द्व्यधिक और त्र्यादि अधिक जघन्येतर को समझना चाहिए। ३३–३५।

परिणाम का स्वरूप—

बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ[1]। ३६।

बन्ध के समय सम और अधिक गुण, सम तथा हीन गुणके परिणमन करानेवाले होते हैं।

---

१. दिगम्बर परम्परा में "बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च" ऐसा सूत्र पाठ है; तदनुसार उसमें एक सम का दूसरे सम को अपने स्वरूप में मिलाना इष्ट नहीं है। सिर्फ अधिक का हीन को अपने स्वरूप में मिला लेना इतना ही इष्ट है।

बन्ध का विधि और निषेध बतला देने पर प्रश्न होता है कि—जिन सदृश परमाणुओं का या विसदृश परमाणुओं का बन्ध होता है उनमें कौन किसको परिणत करता है ? उसका उत्तर यहाँ दिया गया है।

समांश स्थल में सदृश बंध तो होता ही नहीं, विसदृश होता है, जैसे—दो अंश स्निग्ध का दो अंश रूक्ष के साथ या तीन अंश स्निग्ध का तीन अंश रूक्ष के साथ। ऐसे स्थल में कोई एक सम दूसरे सम को अपने रूप में परिणत कर लेता है; अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार कभी स्निग्धत्व ही रूक्षत्व को स्निग्धत्व रूप में बदल देता है और कभी रूक्षत्व स्निग्धत्व को रूक्षत्व रूप में बदल देता है। परंतु अधिकांश स्थल में अधिकांश ही हीनांश को अपने स्वरूप में बदल सकता है; जैसे—पंचांश स्निग्धत्व तीन अंश स्निग्धत्व को अपने स्वरूप में परिणत करता है; अर्थात् तीन अंश स्निग्धत्व भी पाँच अंश स्निग्धत्व के संबन्ध से पाँच अंश परिमाण हो जाता है। इसी तरह पाँच अंश स्निग्धत्व तीन अंश रूक्षत्व को भी स्व-स्वरूप में मिला लेता है; अर्थात् रूक्षत्व स्निग्धत्व रूप में बदल जाता है। जब रूक्षत्व अधिक हो तब वह भी अपने से कम स्निग्धत्व को अपने स्वरूप अर्थात् रूक्षत्व स्वरूप बना लेता है। ३६।

द्रव्य का लक्षण—

गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।३७।

द्रव्य गुण-पर्याय वाला है।

द्रव्य का उल्लेख पहले कई बार आ चुका है, इसलिए उसका लक्षण यहाँ बतलाया जाता है।

जिसमें गुण और पर्याय हों वह द्रव्य कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामी स्वभाव के कारण समय समय में निमित्तानुसार भिन्न भिन्न रूप में परिणत होता रहता है, अर्थात् विविध परिणामों को प्राप्त

करता रहता है। द्रव्य में परिणाम जनन की जो शक्ति है वही उसका गुण कहलाता है और गुणजन्य परिणाम पर्याय कहलाता है। गुण कारण है और पर्याय कार्य है। एक द्रव्य में शक्ति-रूप अनन्त गुण हैं; जो वस्तुतः आश्रयभूत द्रव्य से या परस्पर में अविभाज्य हैं। प्रत्येक गुण-शक्ति के भिन्न भिन्न समयों में होनेवाले त्रैकालिक पर्याय अनन्त हैं। द्रव्य और उसकी अंश भूत शक्तियाँ उत्पन्न तथा विनष्ट न होने के कारण नित्य अर्थात् अनादि अनन्त हैं; परन्तु सभी पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न तथा नष्ट होते रहने के कारण व्यक्तिशः अनित्य अर्थात् सादि सान्त हैं और प्रवाह की अपेक्षा से पर्याय भी अनादि अनन्त हैं। कारणभूत एक शक्ति के द्वारा द्रव्य में होनेवाला त्रैकालिक पर्याय प्रवाह भी सजातीय है। द्रव्य में अनन्त शक्तियों से तज्जन्य पर्याय प्रवाह भी अनन्त ही एक ही साथ चलते रहते हैं। भिन्न भिन्न शक्तिजन्य विजातीय पर्याय एक समय में एक द्रव्य में पाये जा सकते हैं; परन्तु एक शक्तिजन्य भिन्न भिन्न समयभावी सजातीय पर्याय एक द्रव्य में एक समय में नहीं पाये जा सकते।

आत्मा और पुद्गल द्रव्य हैं; क्योंकि उनमें अनुक्रम से चेतना आदि तथा रूप आदि अनन्त गुण हैं और ज्ञान, दर्शन रूप विविध उपयोग आदि तथा नील, पीत आदि विविध अनन्त पर्याय हैं। आत्मा चेतनाशक्ति के द्वारा भिन्न भिन्न उपयोग रूप में और पुद्गल रूपशक्ति के द्वारा भिन्न भिन्न नील, पीत आदि रूप में परिणत होता रहता है। चेतना-शक्ति आत्मद्रव्यसे और आत्मगत अन्य शक्तियों से अलग नहीं की जा सकती। इसी तरह रूपशक्ति पुद्गलद्रव्य से पुद्गलगत अन्य शक्तियों से पृथक् नहीं हो सकती। ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न भिन्न समयवर्ती विविध उपयोगों के त्रैकालिक प्रवाह की कारणभूत एक चेतनाशक्ति है, और उस शक्ति का कार्यभूत पर्याय प्रवाह उपयोगात्मक है। पुद्गल में भी कारणभूत रूपशक्ति और नील, पीत आदि विविध वर्णपर्यायप्रवाह उस एक शक्ति का

कार्य है। आत्मा में उपयोगात्मक पर्याय प्रवाह की तरह सुख-दुःख वेदनात्मक पर्याय प्रवाह, प्रवृत्यात्मक पर्याय प्रवाह आदि अनन्त पर्याय प्रवाह एक साथ चलते रहते हैं। इसलिए उसमें चेतना की तरह उस उस सजातीय पर्याय प्रवाह की कारणभूत आनन्द, वीर्य आदि एक एक शक्ति के मानने से अनन्त शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। इसी तरह पुद्गल में भी रूपपर्याय प्रवाह की तरह गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त पर्याय प्रवाह सदा चलते रहते हैं। इसलिए प्रत्येक प्रवाह की कारणभूत एक एक शक्ति के मानने से उसमें रूपशक्ति की तरह गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। आत्मा में चेतना, आनन्द और वीर्य आदि शक्तियों के भिन्न भिन्न विविध पर्याय एक समय में पाये जा सकते हैं; परंतु एक चेतना शक्ति के या एक आनन्द शक्ति के विविध उपयोग पर्याय या विविध वेदना पर्याय एक समय में नहीं पाये जा सकते; क्योंकि प्रत्येक शक्ति का एक समय में एक ही पर्याय व्यक्त होता है। इसी तरह पुद्गल में भी रूप, गन्ध आदि भिन्न भिन्न शक्तियों के भिन्न भिन्न पर्याय एक समय में होते हैं, परंतु एक रूपशक्ति के नील, पीत आदि विविध पर्याय एक समय में नहीं होते। जैसे आत्मा और पुद्गल द्रव्य नित्य हैं वैसे उनकी चेतना आदि तथा रूप आदि शक्तियाँ भी नित्य हैं। परंतु चेतना-जन्य उपयोग पर्याय या रूपशक्तिजन्य नील, पीत पर्याय नित्य नहीं हैं, किन्तु सदैव उत्पाद-विनाशशाली होने से व्यक्तिशः अनित्य है और उपयोग पर्याय प्रवाह तथा रूप पर्याय प्रवाह त्रैकालिक होने से नित्य है।

अनन्त गुणों का अखंड समुदाय ही द्रव्य है; तथापि आत्मा के चेतना, आनन्द, चारित्र, वीर्य आदि परिमित गुण ही साधारण बुद्धि वाले छद्मस्थ की कल्पना में आते हैं, सब गुण नहीं आते। इसी तरह पुद्गल के भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि कुछ ही गुण कल्पना में आते हैं; सब

नहीं। इसका कारण यह है कि आत्मा या पुद्गल द्रव्य के सब प्रकार के पर्यायप्रवाह विशिष्टज्ञान के बिना जाने नहीं जा सकते। जो जो पर्याय-प्रवाह साधारण बुद्धि से जाने जा सकते हैं, उनके कारणभूत गुणों का व्यवहार किया जाता है; इसलिए वे गुण विकल्प्य हैं। आत्मा के चेतना, आनन्द, चारित्र, वीर्य आदि गुण विकल्प्य अर्थात् विचार व वाणी के गोचर हैं और पुद्गल के रूप आदि गुण विकल्प्य हैं। बाकी के सब अविकल्प्य हैं जो सिर्फ केवलगम्य ही हैं।

त्रैकालिक अनन्त पर्यायों के एक एक प्रवाह की कारणभूत एक एक शक्ति (गुण) और ऐसी अनन्त शक्तियों का समुदाय द्रव्य है; यह कथन भी भेद सापेक्ष है। अभेददृष्टि से पर्याय अपने अपने कारणभूत गुणस्वरूप और गुण द्रव्यस्वरूप होने से गुणपर्यायात्मक ही द्रव्य कहा जाता है।

द्रव्य में सब गुण एक से नहीं हैं। कुछ साधारण अर्थात् सब द्रव्यों में पाये जाने वाले होते हैं, जैसे अस्तित्व, प्रदेशवत्त्व, ज्ञेयत्व आदि; और कुछ असाधारण अर्थात् एक एक द्रव्य में पाये जाने वाले होते हैं, जैसे चेतना, रूप आदि। असाधारण गुण और तज्जन्य पर्याय के कारण ही प्रत्येक द्रव्य एक दूसरे से भिन्न है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय द्रव्यों के गुण तथा पर्यायों का विचार भी इसी तरह कर लेना चाहिए। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि पुद्गलद्रव्य मूर्त होने से उसके गुण गुरुलघु तथा पर्याय भी गुरुलघु कहे जाते हैं। परन्तु शेष सब द्रव्य अमूर्त होने से उनके गुण और पर्याय अगुरुलघु कहे जाते हैं। ३७।

काल का विचार-

कालश्चेत्येके । ३८ ।

सोऽनन्तसमयः । ३९ ।

कोई आचार्य काल को भी द्रव्य कहते हैं[1] ।

वह अनन्त समय (पर्याय) वाला है ।

पहले काल के वर्त्तना आदि[2] अनेक पर्याय बतलाये गए हैं, परन्तु धर्मास्तिकाय आदि की तरह उसमें द्रव्यत्व का विधान नहीं किया गया। इस लिए प्रश्न होता है कि क्या प्रथम विधान न करने के कारण काल द्रव्य नहीं है ? या वर्त्तना आदि पर्यायों का वर्णन करने के कारण काल द्रव्य है ? इन प्रश्नों का उत्तर यहाँ दिया जा रहा है ।

सूत्रकार का कहना है कि कोई आचार्य काल को द्रव्यरूप से मानते हैं । इस कथन से सूत्रकार का तात्पर्य यह जान पड़ता है कि वस्तुतः काल स्वतन्त्र द्रव्यरूप से सर्व सम्मत नहीं है ।

काल को अलग द्रव्य मानने वाले आचार्य के मत का निराकरण सूत्रकार ने नहीं किया, सिर्फ उसका वर्णन मात्र कर दिया है। इस वर्णन में सूत्रकार कहते हैं कि काल अनन्त पर्याय वाला है । वर्त्तना आदि

---

१. दिगम्बर परम्परा में "कालश्च" ऐसा सूत्र पाठ है । तदनुसार वे लोग काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं । प्रस्तुत सूत्र को एकदेशीय मत परक न मान कर वे सिद्धान्त रूप से ही काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाला सूत्रकार का तात्पर्य बतलाते हैं । जो काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते हैं और जो मानते हैं वे सब अपने अपने मन्तव्य की पुष्टि किस प्रकार करते हैं, काल का स्वरूप कैसा बतलाते हैं, इसमें और भी कितने मतभेद हैं इत्यादि बातों को सविशेष जानने के लिए देखो, हिन्दी चौथे कर्म ग्रंथ में काल विषयक परिशिष्ट पृ० १५७ ।

२. देखो अ० ५. सू० २२ ।

पर्याय तो पहले कहे जा चुके हैं। समयरूप पर्याय भी काल के ही हैं। वर्तमान कालीन समयपर्याय तो सिर्फ एक ही होता है, परन्तु अतीत, अनागत समय के पर्याय अनन्त होते हैं। इसीसे काल को अनन्त समय वाला कहा गया है। ३८, ३९।

गुण का स्वरूप–

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः। ४०।

जो द्रव्य में सदा रहने वाले और गुण रहित हैं वे गुण हैं।

द्रव्य के लक्षण में गुण का कथन किया गया है, इसलिए उसका स्वरूप यहाँ बतलाया गया है।

यद्यपि पर्याय भी द्रव्य के ही आश्रित और निर्गुण हैं, तथापि वे उत्पाद-विनाश वाले होने से द्रव्य में सदा नहीं रहते; पर गुण तो नित्य होने के कारण सदा ही द्रव्याश्रित हैं। यही गुण और पर्याय का अन्तर है।

द्रव्य में सदा वर्तमान शक्तियाँ जो पर्याय की जनक रूप से मानी जाती हैं वे ही गुण हैं। उन गुणों में फिर गुणान्तर या शक्त्यन्तर मानने से अनवस्था आती है; इसलिए द्रव्यनिष्ठ शक्तिरूप गुण निर्गुण ही माने गए हैं। आत्मा के गुण चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र, आनन्द, वीर्य आदि और पुद्गल के गुण रूप, रस गन्ध, स्पर्श आदि हैं।

परिणाम का स्वरूप–

तद्भावः परिणामः। ४१।

उसका होना अर्थात् स्वरूप में स्थित रह कर उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है।

---

१. देखो अ० ५, सू० ३७।

पहले कई जगह परिणाम का भी कथन आया है। अतः यहाँ उसका स्वरूप बतलाया जा रहा है।

बौद्ध लोग वस्तु मात्र को क्षणस्थायी और निरन्वयविनाशी मानते हैं। इसलिए उनके मतानुसार परिणाम का अर्थ उत्पन्न होकर सर्वथा नष्ट हो जाना अर्थात् नाश के बाद किसी तत्त्व का कायम न रहना फलित होता है। नैयायिक आदि भेदवादी दर्शन जो गुण और द्रव्य का एकान्त भेद मानते हैं, उनके मतानुसार सर्वथा अविकृत द्रव्य में गुणों का उत्पन्न तथा नष्ट होना ऐसा परिणाम का अर्थ फलित होता है। इन दोनों पक्षों के सामने परिणाम के स्वरूप के संबन्ध में जैनदर्शन का मन्तव्यभेद दिखाना ही इस सूत्र का उद्देश्य है।

कोई द्रव्य या कोई गुण ऐसा नहीं है जो सर्वथा अविकृत रह सके। विकृत अर्थात् अवस्थान्तरों को प्राप्त होते रहने पर भी कोई द्रव्य या कोई गुण अपनी मूल जाति—स्वभाव का त्याग नहीं करता। सारांश यह कि द्रव्य हो या गुण, सभी अपनी अपनी जाति का त्याग किये बिना ही प्रतिसमय निमित्तानुसार भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हैं। यही द्रव्यों का तथा गुणों का परिणाम है।

आत्मा चाहे मनुष्यरूप हो या पशुपक्षीरूप, पर उन भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहने पर भी उसमें आत्मत्व कायम रहता है। इसी तरह चाहे ज्ञानरूप साकार उपयोग हो या दर्शनरूप निराकार उपयोग, घट विषयक ज्ञान हो या पट विषयक, पर उन सब उपयोग पर्यायों में चेतनात्व कायम रहता है। चाहे द्व्यणुक अवस्था हो या त्र्यणुक आदि, पर पुद्गल उन अनेक अवस्थाओं में भी अपना पुद्गलत्व नहीं छोड़ता। इसी तरह शुक्लरूप बदल कर कृष्ण हो, या कृष्ण बदल कर पीत

१. देखो अ० ५, सू० २२, ३६।

हो; तथापि उन विविध वर्णपर्यायों में रूपत्व स्वभाव कायम रहता है। इसी तरह हरएक द्रव्य और उसके हरएक गुण के विषय में घटा लेना चाहिए। ४१।

परिणाम के भेद तथा आश्रयविभाग--

अनादिरादिमांश्च । ४२ ।

रूपिष्वादिमान् । ४३ ।

योगोपयोगौ जीवेषु । ४४ ।

वह अनादि और आदिमान् दो प्रकारका है।

रूपी अर्थात् पुद्गल द्रव्यों में आदिमान् है।

जीवों में योग और उपयोग आदिमान् हैं।

जिसके काल की पूर्व कोटी जानी न जा सके वह अनादि और जिसके काल की पूर्व कोटी ज्ञात हो सके वह आदिमान् कहा जाता है। अनादि और आदिमान् शब्द का उक्त अर्थ जो सामान्य रूप से सर्वत्र प्रसिद्ध है; उसे मान लेने पर द्विविध परिणाम के आश्रय का विचार करते समय यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि द्रव्य चाहे रूपी हो या अरूपी, सब द्रव्यों में अनादि और आदिमान् दोनों प्रकार का परिणाम पाया जाता है। प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और व्यक्ति की अपेक्षा से आदिमान् परिणाम सब में समान रूप से घटाया जा सकता है। ऐसा होने पर भी प्रस्तुत सूत्रों में तथा उनके भाष्य तक में उक्त अर्थ संपूर्णतया तथा स्पष्टतया क्यों नहीं कहा गया? यह प्रश्न भाष्य की वृत्ति में वृत्तिकार ने उठाया है और अन्त में स्वीकार किया है कि वस्तुतः सब द्रव्यों में अनादि तथा आदिमान् दोनों परिणाम होते हैं।

सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बर व्याख्या-ग्रन्थों में तो सब द्रव्यों में दोनों प्रकार के परिणाम होने का स्पष्ट कथन है; और उसका समर्थन भी किया है कि द्रव्य—सामान्य की अपेक्षा से अनादि और पर्याय—विशेष की अपेक्षा से आदिमान् परिणाम समझना चाहिए।

दिगम्बर व्याख्याकारों ने बयालीस से चवालीस तक के तीन सूत्र सूत्रपाठ में न रख कर "तद्भावः परिणामः" इस सूत्र की व्याख्या में ही परिणाम के भेद और उनके आश्रय का कथन सम्पूर्णतया तथा स्पष्टतया किया है। इससे जान पड़ता है कि उनको भी परिणाम के आश्रयविभाग परक प्रस्तुत सूत्रों तथा उनके भाष्य में अर्थत्रुटि अथवा अस्पष्टता अवश्य मालूम हुई होगी। जिससे उन्होंने अपूर्णार्थक सूत्रों को पूर्ण करने की अपेक्षा अपने वक्तव्य को स्वतंत्र रूप से कहना ही उचित समझा।

छठा अध्याय

जीव और अजीव का निरूपण हो चुका, अब आस्रव का निरूपण क्रमप्राप्त है।

योग के वर्णन द्वारा आस्रवका स्वरूप--

कायवाङ्मनःकर्म योगः । १ ।

स आस्रवः । २ ।

काय, वचन और मन की क्रिया योग है।

वही आस्रव अर्थात् कर्म का संबन्ध कराने वाला होने से आस्रव-संज्ञक है।

वीर्यान्तराय के क्षयोपशम या क्षय से तथा पुद्गलों के आलम्बन से होनेवाला आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द---कम्पनव्यापार योग कहलाता है। इसके आलम्बनभेद से तीन भेद हैं : काययोग, वचनयोग और मनोयोग। औदारिकादि शरीर वर्गणाके पुद्गलों के आलम्बन से जो योग प्रवर्तमान होता है वह काययोग है। मतिज्ञानावरण, अक्षर-श्रुतावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आन्तरिक वाग्लब्धि होने पर भाषावर्गणा के आलम्बन से जो भाषा परिणाम के अभिमुख आत्मा का प्रदेश परिस्पन्द होता है वह वाग्योग है। नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप आन्तरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के अवलम्बन से जो मनःपरिणाम के अभिमुख आत्मा का प्रदेशकम्पन होता है वह मनोयोग है।

उक्त तीनों प्रकार का योग ही आस्रव कहलाता है। योग को आस्रव कहने का कारण यह है कि योग के द्वारा ही आत्मा में कर्म वर्गणा का आस्रवण---कर्मरूप से संबन्ध होता है। जैसे जलाशय में जल को

प्रवेश कराने वाले नाले आदि का मुख या द्वार आस्रव–वहन का निमित्त होने से आस्रव कहा जाता है, वैसे ही कर्मास्रव का निमित्त होने के कारण योग को आस्रव कहा जाता है। १,२।

योग के भेद और उनका कार्यभेद–

शुभः पुण्यस्य । ३ ।

अशुभः पापस्य । ४ ।

शुभयोग पुण्य का आस्रव—बन्धहेतु है।

और अशुभयोग पापका आस्रव है।

काययोग आदि तीनों योग शुभ भी हैं और अशुभ भी।

योग के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है। शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है। कार्य—कर्मबन्ध की शुभाशुभता पर योग की शुभाशुभता अवलम्बित नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने से सभी योग अशुभ ही कहे जायँगे, कोई शुभ कहा न जा सकेगा; क्योंकि शुभ योग भी आठवें आदि गुणस्थानों में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्ध का कारण होता है।

---

१. तीसरे और चौथे नंबरवाले दो सूत्रों के स्थान में 'शुभ पुण्यस्याशुभः पापस्य" ऐसा एक ही सूत्र तीसरे नंबर पर दिगम्बर ग्रन्थों में छपा है। परंतु राजवार्तिकमें "ततः सूत्रद्वयमनर्थकम्" ऐसा उल्लेख प्रस्तुत सूत्रों की चर्चा में मिलता है; देखो पृष्ठ २४८ वार्त्तिक ७ की टीका। इस उल्लेख से जान पड़ता है कि व्याख्याकारों ने दोनों सूत्र साथ लिखकर उन पर एक साथ ही व्याख्या की होगी और लिखने या छपानेवालों ने एक साथ सूत्र पाठ और साथ ही व्याख्या देखकर दोनों सूत्रों को अलग अलग न मानकर एक ही सूत्र समझा होगा और उनके ऊपर एक ही नंबर लिख दिया होगा।

२. इसके लिए देखो हिंदी चौथा कर्मग्रंथ–गुणस्थानों में बन्धविचार; तथा हिंदी दूसरा कर्मग्रंथ।

हिंसा, चोरी, अब्रह्म आदि कायिक व्यापार अशुभ काययोग और दया, दान, ब्रह्मचर्य पालन आदि शुभ काययोग है। सत्य किन्तु सावद्य भाषण, मिथ्या भाषण, कठोर भाषण आदि अशुभ वाग्योग और निरवद्य सत्य भाषण, मृदु तथा सभ्य आदि भाषण शुभ वाग्योग है। दूसरों की बुराई का तथा उनके वध का चिन्तन आदि करना अशुभ मनोयोग और दूसरों की भलाई का चिन्तन तथा उनका उत्कर्ष देखकर प्रसन्न होना आदि शुभ मनोयोग है।

शुभ योग का कार्य पुण्यप्रकृति का बन्ध और अशुभ योग का कार्य पाप प्रकृति का बन्ध है। ऐसा प्रस्तुत सूत्रों का विधान आपेक्षिक है; क्योंकि संक्लेश—कषाय की मन्दता के समय होनेवाला योग शुभ और संक्लेश की तीव्रता के समय होनेवाला योग अशुभ कहलाता है। जैसे अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुणस्थानों में ज्ञानावरणीय आदि सभी पुण्य, पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध होता है, वैसे ही छठे आदि गुण-स्थानों में शुभयोग के समय भी सभी पुण्य, पाप प्रकृतियों का यथसम्भव बन्ध होता ही है। फिर शुभयोग का पुण्य के बन्धकारण रूप से और अशुभ योग का पाप के बन्धकारण रूप से अलग-अलग विधान कैसे संगत हो सकता है? इसलिए प्रस्तुत विधान को मुख्यतया अनुभागबन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिए। शुभ योग की तीव्रता के समय पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग—रस की मात्रा अधिक और पाप प्रकृतियों के अनुभाग की मात्रा हीन निष्पन्न होती है। इससे उलटा अशुभ योग की तीव्रता के समय पाप प्रकृतियों का अनुभागबन्ध अधिक और पुण्य प्रकृतियों का अनुभागबन्ध अल्प होता है। इसमें जो शुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की अधिकमात्रा और अशुभयोगजन्य पापानुभाग की अधिक मात्रा है, उसका प्राधान्य मान कर सूत्रों में अनुक्रम से शुभ योग को पुण्य का और अशुभ योग को पाप का बन्धकारण कहा है। शुभ-योगजन्य पापानुभाग की हीन

मात्रा और अशुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की हीन मात्रा विवक्षित नहीं है; क्योंकि लोक की तरह शास्त्र में भी प्रधानता से व्यवहार करने का नियम प्रसिद्ध है। ३,४।

स्वामिभेद से योग का फलभेद–

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः । ५ ।

कषायसहित और कषायरहित आत्मा का योग अनुक्रम से साम्परायिक कर्म और ईर्यापथ कर्म का बन्धहेतु– आस्रव होता है।

जिनमें क्रोध, लोभ आदि कषायों का उदय हो वह कषायसहित और जिनमें न हो वह कषायरहित हैं। पहले से दसवें गुणस्थान तक के सभी जीव न्यूनाधिक प्रमाण में सकषाय हैं और ग्यारहवें आदि आगे के गुणस्थान वाले अकषाय हैं।

आत्मा का सम्पराय– पराभव करनेवाला कर्म साम्परायिक कहलाता है। जैसे गीले चमड़े के ऊपर हवा द्वारा पड़ी हुई रज उसके साथ चिपक जाती है, वैसे योग द्वारा आकृष्ट होनेवाला जो कर्म कषायोदय के कारण आत्मा के साथ संबद्ध होकर स्थिति पा लेता है, वह साम्परायिक है। सूखी भीत के ऊपर लगे हुए लकड़ी के गोले की तरह योग से आकृष्ट जो कर्म कषायोदय न होने के कारण आत्मा के साथ लग कर तुरन्त ही छूट जाता है वह ईर्यापथ कर्म कहलाता है। ईर्यापथ कर्म की स्थिति सिर्फ एक समय की मानी गई है।

कषायोदय वाले आत्मा काययोग आदि तीन प्रकार के शुभ, अशुभ योग से जो कर्म बांधते हैं वह साम्परायिक है; अर्थात् कषाय की तीव्रता,

---

१. "प्राधान्येय व्यपदेशा भवन्ति" यह न्याय जैसे–जहां ब्राह्मणों की प्रधानता हो या संख्या अधिक हो, अन्य वर्ण के लोग होने पर भी वह गाँव ब्राह्मणों का कहलाता है।

मंदता के अनुसार अधिक या कम स्थिति वाला होता है; और यथासम्भव शुभाशुभ विपाक का कारण भी होता है। परन्तु कषायमुक्त आत्मा तीनों प्रकार के योग से जो कर्म बांधते हैं वह कषाय के अभाव के कारण न तो विपाकजनक होता है और न एक समय से अधिक स्थिति ही प्राप्त करता है। ऐसे एक समय की स्थिति वाले कर्म को ईर्यापथिक नाम देने का कारण यह है कि वह कर्म कषाय के अभाव में सिर्फ ईर्या–गमनागमनादि क्रिया के पथ द्वारा ही बांधा जाता है। सारांश यह कि तीनों प्रकार का योग समान होने पर भी अगर कषाय न हो तो उपार्जित कर्म में स्थिति या रस का बंध नहीं होता। स्थिति और रस दोनों का बंधकारण कषाय ही है। अतएव कषाय ही संसार की असली जड़ है। ५।

साम्परायिक कर्मास्रव के भेद–

अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः । ६ ।

पूर्व के अर्थात् दो में से पहले साम्परायिक कर्मास्रव के अव्रत, कषाय, इन्द्रिय और क्रिया रूप भेद हैं जो अनुक्रम से संख्या में पाँच, चार, पाँच और पच्चीस हैं।

जिन हेतुओं से साम्परायिक कर्म का बन्ध होता है वे साम्परायिक कर्म के आस्रव कहलाते हैं। ऐसे आस्रव सकषाय जीवों में ही पाये जा सकते हैं। प्रस्तुत सूत्र में जिन आस्रवभेदों का कथन है वे साम्परायिक कर्मास्रव ही हैं, क्योंकि वे कषायमूलक हैं।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पाँच अव्रत हैं, जिनका वर्णन अध्याय ७ के सूत्र ८ से १२ तक है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं, जिनका विशेषस्वरूप अध्याय ८, सूत्र १० में है। स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों का वर्णन अध्याय २, सूत्र २० में आ चुका

है। यहाँ इन्द्रिय का अर्थ उसकी राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति से है; क्योंकि सिर्फ स्वरूपमात्र से कोई इन्द्रिय कर्मबन्ध का कारण नहीं हो सकती और न इन्द्रियों की राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का कारण हो सकती है।

पचीस क्रियाओं के नाम और उनके लक्षण इस प्रकार हैं: १. सम्यक्त्वक्रिया वह है जो देव, गुरु और शास्त्र की पूजाप्रतिपत्ति रूप होने से सम्यक्त्व की पोषक है। २. मिथ्यात्व क्रिया वह है जो मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के बल से होनेवाली सराग देव की स्तुति, उपासना आदि रूप है। ३. शरीर आदि द्वारा जाने, आने आदि में सकषाय प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है। ४. त्यागी होकर भोगवृत्ति की ओर झुकना समादान क्रिया है। ५. ईर्यापथकर्म—एक सामयिक कर्म के बंधन या वेदन की कारणभूत क्रिया ईर्यापथक्रिया है।

१. दुष्टभाव युक्त होकर प्रयत्न करना अर्थात् किसी काम के लिए तत्पर होना कायिकी क्रिया है। २. हिंसाकारी साधनों को ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है। ३. क्रोध के आवेश से होनेवाली क्रिया प्रादोषिकी क्रिया है। ४. प्राणियों को सतानेवाली क्रिया पारितापनिकी क्रिया है। ५. प्राणियों को प्राणों से वियुक्त करने की क्रिया प्राणातिपातिकी क्रिया है।

१. रागवश होकर रमणीय रूप को देखने की वृत्ति दर्शनक्रिया है। २. प्रमादवश होकर स्पर्श करने लायक वस्तुओं के स्पर्शानुभव की वृत्ति स्पर्शनक्रिया है। ३. नये शस्त्रों को बनाना प्रात्ययिकी क्रिया है। ४. स्त्री, पुरुष और पशुओं के जाने आने की जगह पर मल, मूत्र आदि त्यागना समन्तानुपातनक्रिया है। ५. अवलोकन और प्रमार्जन नहीं की हुई जगह पर शरीर आदि रखना अनाभोगक्रिया है।

---

१. पाँच इन्द्रियाँ; मन-वचन-कायबल; उच्छ्वासनिःश्वास, और आयुः ये दश प्राण हैं।

१. जो क्रिया दूसरे के करने की हो उसे स्वयं कर लेना स्वहस्तक्रिया है। २. पापकारी प्रवृत्ति के लिए अनुमति देना निसर्गक्रिया है। ३. दूसरे ने जो पापकार्य किया हो उसे प्रकाशित कर देना विदार क्रिया है। ४. पालन करने की शक्ति न होने से शास्त्रोक्त आज्ञा के विपरीत प्ररूपणा करना आज्ञाव्यापादिकी अथवा आनयनी क्रिया है। ५. धूर्तता और आलस्य से शास्त्रोक्त विधि करने का अनादर अनवकांक्ष क्रिया है।

१. काटने पीटने और घात करने में स्वयं रत रहना और दूसरों की वैसी प्रवृत्ति देखकर खुश होना आरम्भक्रिया है। २. जो क्रिया परिग्रह का नाश न होने के लिए की जाय वह पारिग्रहिकी क्रिया है। ३. ज्ञान, दर्शन आदि के विषय में दूसरों को ठगना मायाक्रिया है। ४. मिथ्यादृष्टि के अनुकूल प्रवृत्ति करने, कराने में निरत मनुष्य को 'तू ठीक करता है' इत्यादि कहकर प्रशंसा आदि द्वारा और भी मिथ्यात्व में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है। संयमघातिकर्म के प्रभाव के कारण पापव्यापार से निवृत्त न होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

पाँच पाँच क्रियाओं का एक, ऐसे उक्त पाँच पंचकों में से सिर्फ ईर्यापथिकी क्रिया साम्परायिक कर्म का आस्रव नहीं है; और सब क्रियाएँ कषायप्रेरित होने के कारण साम्परायिक कर्म की बन्धकारण हैं। यहाँ जो उक्त सब क्रियाओं को साम्परायिक कर्मास्रव कहा है सो बाहुल्य की दृष्टि से समझना चाहिए। यद्यपि अव्रत, इन्द्रियप्रवृत्ति और उक्त क्रियाओं की बन्धकारणता रागद्वेष पर ही अवलम्बित है; इसलिए वस्तुतः रागद्वेष–कषाय ही साम्परायिक कर्म का बन्धकारण है, तथापि कषाय से अलग अव्रत आदि का बन्धकारण रूप से सूत्र में जो कथन किया है वह कषायजन्य कौन कौन सी प्रवृत्ति व्यवहार में मुख्यतया नजर आती है, और संवर के अभिलाषी को किस किस प्रवृत्ति को रोकने की ओर ध्यान देना चाहिए यह समझाने के लिए है। ६।

बंधकारण समान होने पर भी परिणामभेद से कर्मबंध में विशेषता—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्याऽधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः । ७ ।

तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरण के भेद से उसकी अर्थात् कर्मबन्ध की विशेषता होती है।

प्राणातिपात, इन्द्रियव्यापार और सम्यक्त्वक्रिया आदि उक्त आस्रव—बंधकारण समान होने पर भी तज्जन्य कर्मबन्ध में किस किस कारण से विशेषता होती है यही इस सूत्र में दिखाया गया है।

बाह्य बंधकारण समान होने पर भी परिणाम की तीव्रता और मंदता के कारण कर्मबन्ध भिन्न भिन्न होता है। जैसे एक ही दृश्य को देखनेवाले दो व्यक्तियों में से मंद आसक्तिपूर्वक देखनेवाले की अपेक्षा तीव्र आसक्तिपूर्वक देखने वाला कर्म को तीव्र ही बांधता है। इरादापूर्वक प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है और बिना इरादे के कृत्य का हो जाना अज्ञातभाव है। ज्ञात और अज्ञात भाव में बाह्य व्यापार समान होने पर भी कर्मबन्ध में फर्क पड़ता है। जैसे एक व्यक्ति हरिण को हरिण समझ कर बाण से बींध डालता है और दूसरा बाण चलाता तो है किसी निर्जीव निशान पर, किन्तु भूल से बीच में वह हरिण को बींध डालता है। भूल से मारनेवाले की अपेक्षा समझ पूर्वक मारनेवाले का कर्मबन्ध उत्कट होता है। वीर्य—शक्तिविशेष भी कर्मबन्ध की विचित्रता का कारण होता है। जैसे—दान, सेवा आदि कोई शुभ काम हो या हिंसा, चोरी आदि अशुभ काम सभी शुभाशुभ कामों को बलवान् मनुष्य जिस आसानी और उत्साह से कर सकता है, निर्बल मनुष्य उन्हीं कामों को बड़ी कठिनता से कर पाता है; इसलिए बलवान् की अपेक्षा निर्बल का शुभाशुभ कर्मबन्ध मन्द ही होता है।

जीवाजीव रूप अधिकरण के अनेक भेद कहे जानेवाले हैं। उनकी विशेषता से भी कर्मबन्ध में विशेषता आती है। जैसे–हत्या, चोरी आदि अशुभ और पर-रक्षण आदि शुभ काम करने वाले दो मनुष्यों में से एक के पास अधिकरण–शस्त्र उग्र हों और दूसरे के पास मामूली हों, तो मामूली शस्त्र वाले की अपेक्षा उग्र शस्त्रधारी का कर्मबन्ध तीव्र होना सम्भव है, क्योंकि उग्र शस्त्र के सन्निधान से उसमें एक प्रकार का आवेश अधिक रहता है।

यद्यपि बाह्य आस्रव की समानता होने पर भी जो कर्मबन्ध में असमानता होती है, उसके कारण रूप से वीर्य, अधिकरण आदि की विशेषता का कथन सूत्र में किया गया है; तथापि कर्मबन्ध की विशेषता का खास निमित्त काषायिक परिणाम का तीव्र-मन्द भाव ही है। परन्तु सज्ञानप्रवृत्ति और शक्ति की विशेषता कर्मबन्ध की विशेषता का कारण होती हैं, वे भी काषायिक परिणाम की विशेषता के द्वारा ही। इसी तरह कर्मबन्ध की विशेषता में शस्त्र की विशेषता के निमित्तभाव का कथन भी काषायिक परिणाम की तीव्र-मन्दता के द्वारा ही समझना चाहिए। ७।

अधिकरण के दो भेद–

अधिकरणं जीवाजीवाः। ८।

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमत-कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः। ९।

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम्। १०।

अधिकरण जीव और अजीव रूप है।

आद्य– पहला जीवरूप अधिकरण क्रमशः संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ भेद से तीन प्रकार का; योगभेद से तीन प्रकार का; कृत, कारित, अनुमत-भेद से तीन प्रकार का और कषायभेद से चार प्रकार का है।

पर अर्थात् अजीवाधिकरण अनुक्रम से दो भेद, चार भेद, दो भेद और तीन भेद वाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग रूप है।

शुभ, अशुभ सभी कार्य जीव और अजीव के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। अकेला जीव या अकेला अजीव कुछ नहीं कर सकता। इसलिए जीव, अजीव दोनों अधिकरण अर्थात् कर्मबन्ध के साधन, उपकरण या शस्त्र कहलाते हैं। उक्त दोनों अधिकरण द्रव्य भाव रूप से दो दो प्रकार के हैं। जीव व्यक्ति या अजीव वस्तु द्रव्याधिकरण है, और जीवगत कषाय आदि परिणाम तथा छुरी आदि निर्जीव वस्तु की तीक्ष्णता रूप शक्ति आदि भावाधिकरण हैं। ८।

संसारी जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करते समय एक सौ आठ अवस्थाओं में से किसी न किसी अवस्था में अवश्य वर्तमान होता है। इसलिए वे अवस्थाएँ भावाधिकरण हैं; जैसे– क्रोधकृत कायसंरम्भ, मानकृत कायसंरम्भ, मायाकृत कायसंरम्भ, लोभकृत कायसंरम्भ ये चार; इसी तरह कृत पद के स्थान में कारित तथा अनुमतपद लगाने से क्रोधकारित काय-संरम्भ आदि चार; तथा क्रोध-अनुमत कायसंरम्भ आदि चार इस प्रकार कुल बारह भेद होते हैं। इसी तरह काय के स्थान में वचन और मन पद लगाने से बारह बारह भेद होते हैं; जैसे क्रोधकृत वचनसंरम्भ आदि तथा क्रोधकृत मनःसंरम्भ आदि। इन छत्तीस भेदों में संरम्भ पद के स्थान में समारम्भ और आरम्भ पद लगाने से छत्तीस छत्तीस और भी भेद होते हैं। इन सबको मिलाने से कुल १०८ भेद हो जाते हैं।

प्रमादी जीव का हिंसा आदि कार्यों के लिए प्रयत्न का आवेश संरम्भ कहलाता है, उसी कार्य के लिए साधनों को जुटाना समारम्भ और

अन्त में कार्य को करना आरम्भ कहलाता है। अर्थात् कार्य की संकल्पात्मक सूक्ष्म अवस्था से लेकर उसको प्रकट रूप में पूरा कर देने तक तीन अवस्थाएँ होती हैं, जो अनुक्रम से संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ कहलाती हैं। योग के तीन प्रकार पहले कहे जा चुके हैं। कृत का मतलब स्वयं करना, कारित का मतलब दूसरे से कराना और अनुमत का मतलब किसी के कार्य में सम्मत होना है। क्रोध, मान आदि चारों कषाय प्रसिद्ध हैं।

जब कोई संसारी जीवदान आदि शुभ या हिंसा आदि अशुभ कार्य से संबन्ध रखता है, तब या तो वह क्रोध से या मान आदि किसी अन्य कषाय से प्रेरित होता है। कषायप्रेरित होकर भी कभी वह स्वयं करता है, या दूसरे से करवाता है, अथवा दूसरे के काम में सम्मत होता है। इसी तरह वह कभी उस काम के लिए कायिक, वाचिक और मानसिक संरम्भ, समारम्भ या आरम्भ से युक्त अवश्य होता है। ९।

परमाणु आदि मूर्त वस्तु, द्रव्य अजीवाधिकरण है। जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी होनेवाला मूर्त द्रव्य जिस जिस अवस्था में वर्तमान पाया जा सकता है वह सब भाव अजीवाधिकरण है। यहाँ इस भावाधिकरण के मुख्य चार भेद बतलाए हैं। जैसे निर्वर्तना—रचना, निक्षेप–रखना, संयोग–मिलना और निसर्ग–प्रवर्तन। निर्वर्तना के मूलगुणनिर्वर्तना और उत्तरगुणनिर्वर्तना ऐसे दो भेद हैं। पुद्गल द्रव्य की जो औदारिक आदि शरीररूप रचना अन्तरङ्ग साधन रूप से जीव को शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी होती है वह मूलगुणनिर्वर्तना और पुद्गल द्रव्य की जो लकड़ी, पत्थर आदि रूप परिणति बहिरङ्ग साधन रूप से जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी होती है वह उत्तरगुणनिर्वर्तना है।

निक्षेप के अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप, दुष्प्रमार्जितनिक्षेप, सहसानिक्षेप और अनाभोगनिक्षेप ऐसे चार भेद हैं। प्रत्यवेक्षण किये बिना ही अर्थात्

अच्छी तरह देखे बिना ही किसी वस्तु को कहीं भी रख देना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप है। प्रत्यवेक्षण करने पर भी ठीक तरह से प्रमार्जन किये बिना ही वस्तु को जैसे तैसे रख देना दुष्प्रमार्जितनिक्षेप है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किये बिना ही सहसा अर्थात् जल्दी से वस्तु को रखना सहसानिक्षेप है। उपयोग के बिना ही किसी वस्तु को कहीं रख देना अनाभोगनिक्षेप है।

संयोग के दो भेद हैं : अन्न, जल आदि का संयोजन करना तथा वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का संयोजन करना—अनुक्रम से भक्तपान—संयोगाधिकरण और उपकरण-संयोगाधिकरण है।

शरीर का, वचन का और मन का प्रवर्तन अनुक्रम से कायनिसर्ग, वचननिसर्ग और मनोनिसर्ग रूप से तीन निसर्ग हैं। १०।

आठ प्रकारों में से प्रत्येक सांपरायिक कर्म के भिन्न भिन्न बन्धहेतुओं का कथन—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः। ११।

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य। १२।

भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य। १३।

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। १४।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य। १५।

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः। १६।

माया तैर्यग्योनस्य। १७।

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ।१८।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् । १९ ।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य । २० ।

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः । २१ ।

विपरीतं शुभस्य । २२ ।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधि-वैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यका-परिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्त्वस्य । २३ ।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य । २४ ।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य । २५ ।

विघ्नकरणमन्तरायस्य । २६ ।

तत्प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, और उपघात ये ज्ञानावरण कर्म तथा दर्शनावरण कर्म के बन्धहेतु—आस्रव हैं ।

निज आत्मा में, पर आत्मा में या दोनों आत्मा में स्थित—विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु हैं ।

भूत-अनुकम्पा, व्रति-अनुकम्पा, दान, सराग संयमादि योग, क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु हैं

केवलज्ञानी, श्रुत, संघ, धर्म और देव का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बन्धहेतु है।

कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का बन्धहेतु है।

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह ये नरकायु के बन्धहेतु हैं।

माया तिर्यंच-आयु का बन्धहेतु है।

अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह, स्वभाव की मृदुता और सरलता ये मनुष्य-आयु के बन्धहेतु हैं।

शीलरहित और व्रतरहित होना तथा पूर्वोक्त अल्प आरम्भ आदि, सभी आयुओं के बन्धहेतु हैं।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायु के बन्धहेतु हैं।

---

१. दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस सूत्र का ऐसा अर्थ है कि निःशीलत्व और निर्व्रतत्व ये दोनों नारक आदि तीन आयुओं के आस्रव हैं। और भोगभूमि में उत्पन्न मनुष्यों की अपेक्षा से निःशीलत्व और निर्व्रतत्व ये दोनों देवायु के भी आस्रव हैं। इस अर्थ में देवायु के आस्रव का समावेश होता है, जिसका वर्णन भाष्य में नहीं आया; परन्तु इसी भाष्य की वृत्ति में वृत्तिकार ने विचारपूर्वक भाष्य की यह त्रुटि जान करके इस बात की पूर्ति आगमानुसार कर लेने के लिये ही विद्वानों को सूचित किया है।

२. दिगम्बर परम्परा में देवायु के प्रस्तुत सूत्र में इन आस्रवों के अलावा दूसरा एक और भी आस्रव गिनाया है, और उसके लिए इस सूत्र के बाद ही एक दूसरा "सम्यक्त्वं च" ऐसा अलग सूत्र है। इस परम्परा के अनुसार उक्त सूत्र का अर्थ ऐसा है कि सम्यक्त्व सौधर्म आदि कल्पवासी देवों की आयु का आस्रव है। भाष्य में यह बात नहीं है। फिर भी वृत्तिकार ने भाष्यवृत्ति में दूसरे कई आस्रव गिनाते हुए सम्यक्त्व को भी ले लिया है।

योग की वक्रता और विसंवाद ये अशुभ नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

विपरीत अर्थात् योग की अवक्रता और अविसंवाद शुभ नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील और व्रतों में अत्यन्त अप्रमाद, ज्ञान में सतत उपयोग तथा सतत संवेग, शक्ति के अनुसार त्याग और तप, संघ और साधु की समाधि और वैयावृत्त्य करना, अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत तथा प्रवचन की भक्ति करना, आवश्यक क्रिया को न छोड़ना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये सब तीर्थंकर नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का आच्छादन और असद्गुणों का प्रकाशन ये नीच गोत्र के बन्धहेतु हैं।

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा आदि तथा नम्रवृत्ति और निरभिमानता ये उच्च गोत्रकर्म के बन्धहेतु हैं।

दानादि में विघ्न डालना अन्तरायकर्म का बन्धहेतु है।

यहाँ से लेकर इस अध्याय के अन्त तक प्रत्येक मूल कर्मप्रकृति के बन्धहेतुओं का क्रमशः वर्णन है। यद्यपि सब कर्मप्रकृतियों के बन्धहेतु सामान्य रूप से योग और कषाय ही हैं, तथापि कषायजन्य अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों में से कौन कौन सी प्रवृत्ति किस किस कर्म के बन्ध का हेतु हो सकती है, इसी बात को विभाग पूर्वक बतलाना प्रस्तुत प्रकरण का उद्देश्य है।

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों के बन्धहेतुओं का स्वरूप

१. ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों पर द्वेष करना और रखना अर्थात् तत्त्वज्ञान के निरूपण के समय कोई अपने मन ही मन में तत्त्वज्ञान के प्रति, उसके वक्ता के प्रति, अथवा उसके साधनों के प्रति जलते रहते हैं, यही तत्प्रदोष—ज्ञानप्रद्वेष कहलाता है। २. कोई किसी से पूछे या ज्ञान का साधन मांगे, तब ज्ञान तथा ज्ञान के साधन अपने

पास होने पर भी कलुषित भाव से यह कहना कि मैं नहीं जानता अथवा मेरे पास वह वस्तु है ही नहीं, यह ज्ञाननिह्नव है। ३. ज्ञान अभ्यस्त और परिपक्क हो, तथा देने योग्य भी हो, फिर भी उसके अधिकारी ग्राहक के मिलने पर उसे न देने की कलुषित वृत्ति ही ज्ञानमात्सर्य है। ४. कलुषित भाव से ज्ञानप्राप्ति में किसी को बाधा पहुँचाना ही ज्ञानान्तराय है। ५. दूसरा कोई ज्ञान दे रहा हो, तब वाणी अथवा शरीर से उसका निषेध करना ज्ञानासादन है। ६. किसी ने उचित ही कहा हो, फिर भी अपनी उलटी मति के कारण अयुक्त भासित होने से उलटा उसके दोष निकालना उपघात कहलाता है।

जब पूर्वोक्त प्रद्वेष, निह्नव आदि ज्ञान, ज्ञानी या उसके साधन आदि के साथ संबन्ध रखते हों, तब वे ज्ञानप्रद्वेष, ज्ञाननिह्नव आदि कहलाते हैं; और दर्शन—सामान्य बोध, दर्शनी अथवा दर्शन के साधन के साथ संबन्ध रखते हों, तब दर्शनप्रद्वेष, दर्शननिन्हव आदि रूप से समझना चाहिए।

प्र०—आसादन और उपघात में क्या अन्तर है ?

उ०—ज्ञान के विद्यमान होने पर भी उसकी विनय न करना, दूसरे के सामने उसे प्रकाशित न करना, उसके गुणों को न दरसाना आसादन है, और उपघात अर्थात् ज्ञान को ही अज्ञान मान कर उसे नष्ट करने का इरादा रखना, इन दोनों के बीच यही अन्तर है। ११।

१. बाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीड़ा का होना दुःख है। २. किसी हितैषी के संबन्ध के टूटने से चिन्ता और खेद होना शोक है। ३. अपमान से मन कलुषित होने के कारण जो तीव्र संताप होता है वह ताप है। ४. गद्गद स्वर से आँसू गिराने के साथ रोना-पीटना आक्रन्दन है। ५. किसी के प्राण लेना वध है। ६. वियुक्त व्यक्ति

असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

के गुणों का स्मरण होने से जो करुणाजनक रुदन होता है वह परिदेवन कहलाता है।

उक्त दुःख आदि छः और उन जैसे अन्य भी ताड़न तर्जन आदि अनेक निमित्त जब अपने में, दूसरे में या दोनों में ही पैदा किये जायँ, तब वे उत्पन्न करने वाले के असातावेदनीय कर्म के बन्धहेतु बनते हैं।

प्र०—अगर दुःख आदि पूर्वोक्त निमित्त अपने में या दूसरे में उत्पन्न करने से असातावेदनीय कर्म के बन्धक होते हैं; तो फिर लोच, उपवास, व्रत तथा वैसे दूसरे नियम भी दुःखकारी होने से वे भी असातावेदनीय के बन्धक होने चाहिएँ, और यदि ऐसा हो, तो उन व्रत आदि नियमों का अनुष्ठान करने की अपेक्षा उनका त्याग ही करना उचित क्यों नहीं माना जाय?

उ०—उक्त दुःख आदि निमित्त जब क्रोध आदि आवेश से उत्पन्न हुए हों, तभी आस्रव के कारण बनते हैं, न सिर्फ सामान्य रीति से ही अर्थात् दुःखकारी होने मात्र से ही। सच्चे त्यागी या तपस्वी के चाहे जितने कठोर व्रत, नियमों का पालन करने पर भी असातावेदनीय का बन्ध नहीं होता। इसके दो कारण हैं: पहला यह कि सच्चा त्यागी चाहे जैसे कठोर व्रत का पालन करके दुःख उठावे, पर वह क्रोध या वैसे ही दूसरे किसी दुष्ट भाव से नहीं, किन्तु सद्वृत्ति और सद्बुद्धि से प्रेरित हो कर ही दुख उठाता है। वह कठिन व्रत धारण करता है, पर चाहे जितने दुःखद प्रसंग क्यों न आ जायँ, उनमें क्रोध, संताप आदि कषाय न होने से वे प्रसंग भी उसके लिए बन्धक नहीं बनते। दूसरा कारण यह है कि कई बार तो वैसे त्यागियों को कठोरतम व्रत, नियमों के पालन करने में भी वास्तविक प्रसन्नता का अनुभव होता है और इसी कारण वैसे प्रसंगों में उनको दुःख या शोक आदि संभव ही नहीं होते। यह तो प्रसिद्ध ही है कि एक को जिन प्रसंगों में दुःख होता है, उसी

प्रसंग में दूसरे को भी दुःख होता है, ऐसा नियम नहीं। इसलिए ऐसे नियम-व्रतों के पालन में भी मानसिक रति होने से उनके लिए वह दुःख रूप न होकर सुख रूप ही होता है। जैसे, कोई दयालु वैद्य चीर-फाड़ से किसी को दुःख देने में निमित्त होने पर भी करुणा वृत्ति से प्रेरित होने के कारण पापभागी नहीं होता, वैसे सांसारिक दुःख दूर करने के लिए उसके ही उपायों को प्रसन्नता पूर्वक आजमाता हुआ त्यागी भी सद्वृत्ति के कारण पाप का बन्धक नहीं होता।

१. प्राणि-मात्र पर अनुकम्पा रखना ही भूतानुकम्पा है अर्थात् दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानने का भाव ही—अनुकम्पा है।

सातावेदनीय कर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

२. व्रत्यनुकम्पा अर्थात् अल्पांश रूप से व्रतधारी गृहस्थ और सर्वांश रूप से व्रतधारी त्यागी इन दोनों पर विशेष प्रकार से अनुकम्पा रखना व्रत्यनुकम्पा है। ३. अपनी वस्तु दूसरों को नम्रभाव से अर्पण करना दान है। ४. सरागसंयमादि योग का अर्थ है सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप इन सबों में यथोचित ध्यान देना। संसार की कारण रूप तृष्णा को दूर करने के लिए तत्पर होकर संयम स्वीकार कर लेने पर भी जब कि मन में राग के संस्कार क्षीण नहीं होते—तब वह संयम सरागसंयम कहलाता है। आंशिक संयम को स्वीकार करना संयमासंयम है। अपनी इच्छा से नहीं, किन्तु परतंत्रता से जो भोगों का त्याग किया जाता है, वह अकामनिर्जरा है। बाल अर्थात् यथार्थ ज्ञान से शून्य मिथ्यादृष्टि वालों का अग्निप्रवेश, जलपतन, गोबर आदि का भक्षण, अनशन आदि तप बालतप है। ५. क्षान्ति अर्थात् धर्मदृष्टि से क्रोधादि दोषों का शमन। ६. लोभवृत्ति और तत्समान दोषों का शमन ही शौच है। १३।

१. केवली का अवर्णवाद अर्थात् दुर्बुद्धि से केवली के असत्य दोषों को प्रकट करना, जैसे सर्वज्ञता की संभावना को स्वीकार न करना और कहना कि सर्वज्ञ होकर भी उसने मोक्ष के सरल उपाय न बतला कर जिनका आचरण शक्य नहीं ऐसे दुर्गम उपाय क्यों बतलाए हैं ? इत्यादि । २. श्रुत का अवर्णवाद अर्थात् शास्त्र के मिथ्या दोषों का द्वेषबुद्धि से वर्णन करना, जैसे यह कहना कि यह शास्त्र अनपढ़ लोगों की प्राकृत भाषा में अथवा पण्डितों की जटिल संस्कृत आदि भाषा में रचित होने से तुच्छ है, अथवा इसमें विविध व्रत, नियम तथा प्रायश्चित्त आदि का अर्थहीन एवं परेशान करने वाला वर्णन है; इत्यादि । ३. साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ के मिथ्या दोष प्रकट करना संघ—अवर्णवाद है । जैसे यह कहना कि साधु-लोग-व्रत नियम आदि का व्यर्थ क्लेश उठाते हैं, साधुत्व तो संभव ही नहीं तथा उसका कुछ अच्छा परिणाम भी नहीं निकलता । श्रावकों के बारे में ऐसा कहना कि वे स्नान, दान आदि शिष्ट प्रवृत्तियां नहीं करते, और न पवित्रता को ही मानते हैं, इत्यादि । ४. धर्म का अवर्णवाद अर्थात् अहिंसा आदि महान् धर्मों के मिथ्या दोष बतलाना या यह कहना कि धर्म प्रत्यक्ष कहाँ दीखता है ? और जो प्रत्यक्ष नहीं दीखता, उसका अस्तित्व संभव ही कैसे ? तथा ऐसा कहना कि अहिंसा से मनुष्य जाति अथवा राष्ट्र का पतन हुआ है, इत्यादि । ५. देवों का अवर्णवाद अर्थात् उनकी निन्दा करना, जैसे यह कहना कि देव तो हैं ही नहीं, और हों तो भी व्यर्थ ही हैं; क्योंकि वे शक्तिशाली होकर भी यहाँ आकर हम लोगों की मदद क्यों नहीं करते; तथा अपने संबन्धियों का दुःख दूर क्यों नहीं करते ? इत्यादि । १४ ।

दर्शनमोहनीय कर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

१. स्वयं कषाय करना और दूसरों में भी कषाय पैदा करना तथा कषाय के वश होकर अनेक तुच्छ प्रवृत्तियाँ करना ये सब कषायमोहनीय

चारित्रमोहनीय कर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

कर्म के बन्ध के कारण हैं। २. सत्य धर्मका उपहास करना, गरीब या दीन मनुष्य की हंसी उड़ाना; ठट्ठेबाजी की आदत रखना आदि हास्य-वृत्तियाँ हास्य मोहनीय कर्म के बन्ध के कारण हैं। ३. विविध क्रीड़ाओं में संलग्न रहना, व्रत-नियम आदि योग्य अंकुश में अरुचि रखना आदि रतिमोहनीय का आस्रव है। ४. दूसरों को बेचैन बनाना, किसी के आराम में विघ्न डालना, हलके आदमियों की संगति करना आदि अरतिमोहनीय के आस्रव हैं। ५. स्वयं शोकातुर रहना तथा दूसरों की शोक-वृत्ति को उत्तेजित करना आदि शोकमोहनीय के आस्रव हैं। ६. स्वयं डरना और दूसरों को डराना भयमोहनीय का आस्रव है। ७. हितकर क्रिया और हितकर आचरणसे घृणा करना आदि जुगुप्सा-मोहनीय का आस्रव है। ८–१० ठगने की आदत, परदोषदर्शन आदि स्त्री वेद के आस्रव हैं। स्त्री जाति के योग्य, पुरुष जाति के योग्य तथा नपुंसक जाति के योग्य संस्कारों का अभ्यास करना ये तीनों क्रमशः स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद के आस्रव हैं। १५।

१. प्राणियों को दुःख पहुँचे, ऐसी कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना आरंभ है। २. यह वस्तु मेरी है और मैं इसका मालिक हूं ऐसा संकल्प

नरकायु के कर्म के बंधहेतुओं का स्वरूप

रखना परिग्रह है। जब आरंभ और परिग्रह वृत्ति बहुत ही तीव्र हो, तथा हिंसा आदि क्रूर कामों में सतत प्रवृत्ति हो, दूसरे के धन का अपहरण किया जावे, अथवा भोगों में अत्यन्त आसक्ति बनी रहे, तब वे नरकायु के आस्रव होते हैं। १६।

छलप्रपञ्च करना अथवा कुटिल भाव रखना माया है। उदाहरणार्थ—धर्मतत्त्व के उपदेश में धर्म के नाम से मिथ्या बातों को

तिर्यञ्चआयु के कर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

मिलाकर उनका स्वार्थ-बुद्धि से प्रचार करना तथा जीवन को शील से दूर रखना आदि सब माया कहलाती है, वही तिर्यंच आयु का आस्रव है। १७।

मनुष्य-आयु के कर्मबन्धके हेतुओं का स्वरूप

आरंभ-वृत्ति तथा परिग्रह-वृत्ति को कम रखना, स्वभाव से ही अर्थात् बिना कहे-सुने मृदुलता और सरलता का होना मनुष्यआयु का आस्रव है। १८।

नारक, तिर्यंच और मनुष्य इन तीनों आयुओं के जो पहले भिन्न भिन्न बन्धहेतु बतलाए गए हैं, उनके अलावा तीनों आयुओं के सामान्य बन्धहेतु भी हैं। प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं का कथन है।

उक्त तीनों आयुओं के सामान्य बन्ध-हेतुओं का स्वरूप

वे बन्धहेतु ये हैं: निःशीलत्व-शील से रहित होना, और निर्व्रतत्व—व्रतों से रहित होना। १. अहिंसा, सत्य, आदि पाँच प्रधान नियमोंको व्रत कहते हैं। २. इन्हीं व्रतों की पुष्टि के लिए ही जो अन्य उपव्रत पालन किये जाते हैं, उन्हें शील कहते हैं, जैसे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। इसी प्रकार उक्त व्रतों के पालनार्थ ही जो क्रोध, लोभ आदि का त्याग है, उसे भी शील कहते हैं।

व्रत का न होना निर्व्रतत्व एवं शील का न होना निःशीलत्व है। १९।

देवायुकर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

१. हिंसा, असत्य, चोरी आदि महान् दोषों से विरति रूप संयम के लेने के बाद भी कषायों का कुछ अंश जब बाकी रहता है तब वह सरागसंयम है। २. हिंसाविरति आदि व्रत जब अल्पांश में धारण किये जाते हैं, तब संयमासंयम हैं। ३. पराधीनता के कारण या अनुसरण के लिए अहितकर प्रवृत्ति अथवा आहार आदि का त्याग अकाम निर्जरा है और ४. बालभाव से

अर्थात् विवेक बिना ही अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, पर्वत-प्रपात, विषभक्षण, अनशन आदि देहदमन करना बाल तप है। २०।

अशुभ और शुभ नामकर्म के बन्ध-हेतुओं का स्वरूप

१. योगवक्रता अर्थात् मन, वचन और काय की कुटिलता। कुटिलता का अर्थ है सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ। २. विसंवादन अर्थात् अन्यथा प्रवृत्ति कराना अथवा दो स्नेहियों के बीच भेद डालना। ये दोनों अशुभनाम कर्म के आस्रव हैं।

प्र०—इन दोनों में क्या अन्तर है?

उ०—स्व और पर की अपेक्षा से अन्तर समझना चाहिए। अपने ही बारे में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति भिन्न पड़े, तब योग-वक्रता और यदि दूसरे के विषय में वैसा हो तब विसंवादन। जैसे कोई रास्ते जा रहा हो, उसे उलटा समझा कर 'ऐसे नहीं, पर ऐसे, इस प्रकार कुमार्ग की ओर प्रवृत्त करना।

ऊपर जो कहा है, उससे उलटा अर्थात् मन, वचन और काय की सरलता—प्रवृत्ति की एकरूपता, तथा संवादन अर्थात् दो के बीच भेद मिटाकर एकता करा देना अथवा उलटे रास्ते जाते हुए को अच्छे रास्ते लगा देना—ये दोनों शुभनाम कर्म के आस्रव हैं। २१,२२।

१. दर्शन विशुद्धि का अर्थ है वीतराग के कहे हुए तत्त्वों पर निर्मल और दृढ़ रुचि। २. ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधनों के

तीर्थंकर नामकर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

प्रति योग्य रीति से बहुमान रखना विनयसंपन्नता है। ३. अहिंसा, सत्यादि मूलगुण रूप व्रत हैं और इन व्रतों के पालन में उपयोगी ऐसे जो अभिग्रह आदि दूसरे नियम हैं वे शील हैं; इन दोनों के पालन में कुछ प्रमाद न करना—यही शीलव्रतानतिचार है। ४. तत्त्वविषयक ज्ञान में सदा जागरित रहना—

यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। ५. सांसारिक भोग जो वास्तव में सुख के बदले दुःख के ही साधन बनते हैं, उनसे डरते रहना अर्थात् कभी भी लालच में न पड़ना अभीक्ष्ण संवेग है। ६. थोड़ी भी शक्ति को बिना छिपाये आहारदान, अभयदान, ज्ञान दान आदि दानों को विवेकपूर्वक देना यथाशक्ति त्याग है। ७. कुछ भी शक्ति छुपाए बिना विवेक-पूर्वक हर तरह की सहनशीलता का अभ्यास करना—यह यथाशक्ति तप है। ८. चतुर्विध संघ और विशेष कर साधुओं को समाधि पहुँचाना अर्थात् वैसा करना जिससे कि वे स्वस्थ रहें—संघसाधुसमाधिकरण है। ९. कोई भी गुणी यदि कठिनाई में आ पड़े उस समय योग्य रीति से उसकी कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न ही वैयावृत्त्यकरण है। १०,११,१२,१३, अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत और शास्त्र इन चारों में शुद्ध निष्ठा पूर्वक अनुराग रखना—अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत, प्रवचन-भक्ति है। १४. सामायिक आदि षड्आवश्यकों के अनुष्ठान को भाव से न छोड़ना—आवश्यकापरिहाणि है। १५. अभिमान छोड़ कर ज्ञानादि मोक्ष मार्ग को जीवन में उतारना, तथा दूसरों को उसका उपदेश देकर प्रभाव बढ़ाना—मोक्षमार्गप्रभावना है। १६. जैसे बछड़े पर गाय स्नेह रखती है, वैसे ही साधर्मियों पर निष्काम स्नेह रखना—प्रवचनवात्सल्य कहलाता है। २३।

नीचगोत्र कर्म के आस्रवों का स्वरूप

१. दूसरे की निन्दा करना परनिन्दा है। निन्दा का अर्थ है सच्चे या झूठे दोषों को दुर्बुद्धि से प्रकट करने की वृत्ति। २. अपनी बड़ाई करना आत्मप्रशंसा है। अर्थात् सच्चे या झूठे गुणों को प्रकट करने की वृत्ति प्रशंसा है। ३. दूसरे में यदि गुण हों, तो उन्हें छिपाना और उनके कहने का प्रसंग पड़ने पर भी द्वेष से उन्हें न कहना दूसरे के सद्गुणों का

अच्छादन है, तथा ४. अपने में गुण न होनेपर भी उनका प्रदर्शन करना—निज के असद्गुणों का उद्भावन कहलाता है। २४।

उच्चगोत्र कर्म के आस्रवों का स्वरूप

१. अपने दोषों को देखना आत्मनिन्दा है। २. दूसरे के गुणों की सराहना परप्रशंसा है। ३. अपने दुर्गुणों को प्रकट करना असद्गुणोद्भावन है। ४. अपने विद्यमान गुणों को छिपाना स्वगुणाच्छादन है। ५. पूज्य व्यक्तियों के प्रति नम्र वृत्ति धारण करना नम्रवृत्ति है। ६. ज्ञान, संपत्ति आदि में दूसरे से अधिकता होने पर भी उसके कारण गर्व न करना अनुत्सेक कहलाता है। २५।

अन्तराय कर्म के आस्रवों का स्वरूप

किसी को दान देने में या किसी को कुछ लेने में अथवा किसी के भोग, उपभोग आदि में बाधा डालना अथवा मन में वैसी वृत्ति लाना विघ्नकरण है। २६।

सांपरायिक कर्मों के आस्रव के विषय में विशेष वक्तव्य

ग्यारहवें से छब्बीसवें सूत्र तक सांपरायिक कर्म की प्रत्येक मूल प्रकृति के जो भिन्न भिन्न आस्रव कहे गए हैं, वे सब उपलक्षण मात्र हैं, अर्थात् प्रत्येक मूल प्रकृति के गिनाए हुए आस्रवों के अलावा दूसरे भी उसी तरह के उन प्रकृतियों के आस्रव न कहने पर भी स्वयं समझ लेने चाहिए। जैसे कि आलस्य, प्रमाद, मिथ्योपदेश आदि ज्ञानावरणीय अथवा दर्शनावरणीय के आस्रव रूप से नहीं गिनाए हैं, तथापि उन्हें उनके आस्रवों में गिन लेना चाहिए। इसी तरह वध, बन्धन, ताडन आदि तथा अशुभ प्रयोग आदि असाता वेदनीय के आस्रवों में नहीं गिनाए हैं, फिर भी उन्हें उसके आस्रव समझना।

प्र०—प्रत्येक मूल प्रकृति के आस्रव भिन्न भिन्न बतलाए हैं; इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ज्ञानप्रदोष आदि गिनाए हुए आस्रव

सिर्फ ज्ञानावरणीय आदि कर्म के ही बन्धक हैं, अथवा ज्ञानावरणीय आदि के अलावा अन्य कर्मों के भी बन्धक हो सकते हैं ? यदि एक कर्म प्रकृति के आस्रव अन्य प्रकृति के भी बन्धक हो सकते हैं, तब प्रकृतिविभाग से आस्रवों का अलग अलग वर्णन करना ही व्यर्थ है; क्योंकि एक प्रकृति के आस्रव दूसरी प्रकृति के भी तो आस्रव हैं ही। और अगर किसी एक प्रकृति के गिनाए हुए आस्रव सिर्फ उसी प्रकृति के आस्रव हैं, दूसरी के नहीं, ऐसा माना जाय तब शास्त्र-नियम में विरोध आता है। शास्त्र-नियम ऐसा है कि सामान्य रीति से आयु को छोड़ कर बाकी सातों प्रकृतियों का बन्ध एक साथ होता है। इस नियम के अनुसार जब ज्ञानावरणीय का बन्ध होता है, तब अन्य वेदनीय आदि छहों प्रकृतियों का भी होता है, ऐसा मानना पड़ता है। आस्रव तो एक समय में एक एक कर्मप्रकृति का ही होता है, किन्तु बन्ध तो एक समय में एक प्रकृति के अलावा दूसरी अविरोधी प्रकृतियों का भी होता है। अर्थात् अमुक आस्रव अमुक प्रकृति का ही बन्धक है, यह पक्ष शास्त्रीय नियम से बाधित हो जाता है। अतः प्रकृतिविभाग से आस्रवों के विभाग करने का प्रयोजन क्या है ?

उ०—यहाँ जो आस्रवों का विभाग दरसाया गया है, वह अनुभाग अर्थात् रसबन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि किसी भी एक कर्मप्रकृति के आस्रव के सेवन के समय उस कर्म के अलावा दूसरी भी कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है, यह शास्त्रीय नियम सिर्फ प्रदेश बन्ध के बारे में ही घटाना चाहिए, न कि अनुभाग बन्ध के बारे में। सारांश यह कि आस्रवों का विभाग प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से नहीं, अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है। अतः एक साथ अनेक कर्मप्रकृतियों का प्रदेशबन्ध मान लेने के कारण पूर्वोक्त शास्त्रीय नियम में अड़चन नहीं आती; तथा प्रकृतिविभाग से गिनाए हुए आस्रव भी केवल उन उन प्रकृतियों के

अनुभागबन्ध में ही निमित्त पड़ते हैं। इसलिए यहाँ जो आस्रवों का विभाग किया गया है, वह भी बाधित नहीं होता।

इस तरह व्यवस्था करने से पूर्वोक्त शास्त्रीय-नियम और प्रस्तुत आस्रवों का विभाग दोनों अबाधित बने रहते हैं। ऐसा होने पर भी इतना विशेष समझ लेना चाहिए कि अनुभागबन्ध को आश्रित करके जो आस्रव के विभाग का समर्थन किया गया है, वह भी तुल्यभाव की अपेक्षा से ही। अर्थात् ज्ञानप्रदोष आदि आस्रवों के सेवन के समय ज्ञानावरणीय के अनुभाग का बन्ध मुख्यरूप से होता है, और उसी समय बँधने वाली इतर कर्म-प्रकृतियों के अनुभाग का गौण रूप से बन्ध होता है इतना समझ लेना चाहिए। ऐसा तो माना ही नहीं जा सकता कि एक समय में एक प्रकृति के ही अनुभाग का बन्ध होता है और दूसरी कर्मप्रकृतियों के अनुभाग का बन्ध होता ही नहीं। कारण यह है कि जिस समय जितनी कर्मप्रकृतियों का प्रदेशबन्ध योग द्वारा संभव है, उसी समय कषाय द्वारा उतनी ही प्रकृतियों का अनुभागबन्ध भी संभव है। इसलिए मुख्यरूप से अनुभागबन्ध की अपेक्षा को छोड़ कर आस्रव के विभाग का समर्थन अन्य प्रकार से ध्यान में नहीं आता। २६।

सातवाँ अध्याय

साता वेदनीय के आस्रवों में व्रती पर अनुकम्पा, और दान ये दोनों गिनाए गये हैं। प्रसङ्गवशात् उन्हीं का विशेष खुलासा करने के लिए जैन परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले व्रत और दान दोनों का सविशेष निरूपण इस अध्याय में किया जाता है।

व्रत का स्वरूप–

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् । १ ।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से (मन, वचन, काय द्वारा) निवृत्त होना व्रत है।

हिंसा, असत्य आदि दोषों का स्वरूप आगे कहा जायगा। दोषों को समझ कर उनके त्याग की प्रतिज्ञा करने के बाद फिर से उनका सेवन न करना ही व्रत है।

अहिंसा अन्य व्रतों की अपेक्षा प्रधान होने से उसका प्रथम स्थान है। खेत की रक्षा के लिए जैसे बाड़ होती है, वैसे ही अन्य सभी व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए हैं; इसीसे अहिंसा की प्रधानता मानी गई है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति व्रत के ये दो पहलू हैं। इन दोनों के होने से ही वह पूर्ण बनता है। सत्कार्य में प्रवृत्त होने के व्रत का अर्थ है उसके विरोधी असत्कार्यों से पहले निवृत्त हो जाना। यह अपने आप प्राप्त होता है। इसी तरह असत्कार्यों से निवृत्त होने के व्रत का मतलब है उसके विरोधी सत्कार्यों में मन, वचन, और काय की प्रवृत्ति करना। यह भी स्वतःप्राप्त है। यद्यपि यहाँ पर स्पष्ट रूप से दोषनिवृत्ति को ही व्रत कहा

गया है. फिर भी उसमें सत्प्रवृत्ति का अंश आ ही जाता है। इसलिए यह समझना चाहिए कि व्रत सिर्फ निष्क्रियता नहीं है।

प्र०—रात्रिभोजनविरमण व्रत के नाम से प्रसिद्ध है, तो फिर उसका सूत्र में निर्देश क्यों नहीं किया गया ?

उ०—बहुत समय से रात्रिभोजनविरमण नामक भिन्न व्रत प्रसिद्ध है पर वास्तव में वह मूल व्रत नहीं है। यह तो मूल व्रत से निष्पन्न होनेवाला एक तरह का आवश्यक व्रत है। ऐसे और भी कई व्रत हैं, और कल्पना भी कर सकते हैं। किन्तु यहाँ तो मूल व्रत का ही निरूपण इष्ट है। मूलव्रत में से निष्पन्न होनेवाले अन्य अवान्तर व्रत तो उसके व्यापक निरूपण में आ ही जाते हैं। रात्रिभोजनविरमण अहिंसा व्रत में से निष्पन्न होनेवाले अनेक व्रतों में से एक व्रत है।

प्र०—अन्धकार में न देख सकने से होनेवाले जन्तु-नाश के कारण और दीपक जलाने से भी होनेवाले अनेक प्रकार के आरम्भ को दृष्टि में रख कर ही रात्रिभोजनविरमण को अहिंसा व्रत का अंग मानने में आता है पर यहाँ यह प्रश्न होता है कि जहाँ पर अन्धकार भी न हो, और दीपक से होनेवाले आरम्भ का प्रसंग भी न आवे ऐसे शीतप्रधान देश में, तथा जहाँ बिजली का प्रकाश सुलभ हो, वहाँ पर रात्रिभोजन और दिवा-भोजन इन दोनों में हिंसा की दृष्टि से क्या भेद है ?

उ०—उष्णप्रधान देश तथा पुराने ढंग के दीपक आदि की व्यवस्था में साफ दीख पड़नेवाली हिंसा की दृष्टि से ही रात्रिभोजन को दिन के भोजन की अपेक्षा अधिक हिंसावाला कहा है। यह बात स्वीकार कर लेने पर और साथ ही किसी खास परिस्थिति में दिन की अपेक्षा रात्रि में विशेष हिंसा का प्रसंग न भी आता हो, इस कल्पना को समुचित

स्थान देने पर भी साधारण समुदाय की दृष्टि से और खास कर त्यागी जीवन की दृष्टि से रात्रिभोजन से दिन का भोजन ही विशेष प्रशंसनीय है। इस मान्यता के कारण संक्षेप में निम्न प्रकार हैं—

१. आरोग्य की दृष्टि से बिजली या चन्द्रमा आदि का प्रकाश भले ही अच्छा हो, लेकिन वह सूर्य के प्रकाश जैसा सार्वत्रिक, अखण्ड तथा आरोग्यप्रद नहीं। इसलिए जहाँ दोनों संभव हों, वहाँ समुदाय के लिए आरोग्य की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश ही अधिक उपयोगी है।

२. त्यागधर्म का मूल सन्तोष में है, इस दृष्टि से भी दिन की अन्य सभी प्रवृत्तियों के साथ भोजन की प्रवृत्ति को समाप्त कर लेना, तथा संतोषपूर्वक रात्रि के समय जठर को विश्राम देना ही योग्य है। इससे भली भाँति निद्रा आती है, और ब्रह्मचर्य पालन में सहायता मिलती है तथा फलस्वरूप आरोग्य की वृद्धि भी होती है।

३. दिवसभोजन और रात्रिभोजन दोनों में से संतोष के विचार से यदि एक को ही चुनना हो, तब भी जागृत, कुशल बुद्धि दिवस-भोजन की तरफ ही झुकेगी। इस प्रकार आज तक के महान संतों का जीवन-इतिहास कह रहा है।

व्रत के भेद—

देशसर्वतोऽणुमहती। २।

अल्प अंश में विरति अणुव्रत और सर्वांश में विरति महाव्रत है।

प्रत्येक त्यागाभिलाषी दोषों से निवृत्त होता है। किन्तु इन सब का त्याग एक जैसा नहीं होता और ऐसा होना विकास-क्रम की दृष्टि से स्वाभाविक भी है। इसलिए यहाँ हिंसा आदि दोषों की थोड़ी या बहुत सभी निवृत्तियों को व्रत मान कर उनके संक्षेप में दो भेद किये गए हैं।

१. हिंसा आदि दोषों से मन, वचन, काय द्वारा हर तरह से छूट जाना—यह हिंसाविरमण ही महाव्रत है। और—

२. चाहे जितना हो, लेकिन किसी भी अंश में कम छूटना—ऐसा हिंसाविरमण अणुव्रत कहलाता है।

व्रतों की भावनाएँ—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च। ३।

उन व्रतों को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच पाँच भावनाएँ हैं।

अत्यन्त सावधानी के साथ विशेष विशेष प्रकार की अनुकूल प्रवृत्तियों का सेवन न किया जाय, तो स्वीकार करने मात्र से ही व्रत आत्मा में नहीं उतर सकते। ग्रहण किये हुए व्रत जीवन में गहरे उतर सकें, इसीलिए प्रत्येक व्रत के अनुकूल पड़ने वाली थोड़ी बहुत प्रवृत्तियाँ स्थूल दृष्टि से विशेष रूप में गिनाई गई हैं, जो भावना के नाम से प्रसिद्ध हैं। यदि इन भावनाओं के अनुसार बराबर बर्ताव किया जाय, तो किए हुए व्रत उत्तम औषधि के समान प्रयत्नशील के लिए सुंदर परिणामकारक सिद्ध होंगे। वे भावनाएँ क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

१. ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, और आलोकितपानभोजन—ये पाँच भावनाएँ अहिंसा व्रत की हैं।

२. अनुवीचिभाषण, क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, निर्भयता और हास्यप्रत्याख्यान—ये पाँच भावनाएँ सत्यव्रत की हैं।

३. अनुवीचिअवग्रहयाचन, अभीक्ष्णअवग्रहयाचन, अवग्रहावधारण, साधर्मिक के पास से अवग्रहयाचन और अनुज्ञापितपानभोजन—ये पाँच भावनाएँ अचौर्यव्रत की हैं।

४. स्त्री, पशु अथवा नपुंसक द्वारा सेवित शयन आदि का वर्जन, रागपूर्वक स्त्रीकथा का वर्जन, स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन, पूर्व में किये हुए रतिविलास के स्मरण का वर्जन, और प्रणीतरस-भोजन का वर्जन ये पाँच भावनाएँ ब्रह्मचर्य की हैं।

५. मनोज्ञ या अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप तथा शब्द पर समभाव रखना ये पाँच भावनाएँ अपरिग्रह की हैं।

भावनाओं का खुलासा

१. स्व-पर को क्लेश न हो, इस प्रकार यत्नपूर्वक गमन करना ईर्यासमिति है। मन को अशुभ ध्यान से बचाकर शुभ ध्यान में लगाना—मनोगुप्ति है। वस्तु का गवेषण, उसका ग्रहण या उपयोग इन तीन प्रकार की एषणा में दोष न लगे, इस बात का उपयोग रखना—एषणासमिति है। वस्तु को लेते-छोड़ते समय अवलोकन व प्रमार्जन आदि द्वारा बर्तना-रखना—आदान-निक्षेपण समिति है। खाने पीने की वस्तु को भलीभाँति देख-भाल कर ही लेना और लेने के बाद भी वैसे ही अवलोकन करके खाना या पीना आलोकितपानभोजन है।

२. विचारपूर्वक बोलना अनुवीचिभाषण है। क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य का त्याग करना—ये क्रमशः बाकी की चार भावनाएँ हैं।

३. सम्यक् विचार करके ही उपयोग के लिए आवश्यक अवग्रह-स्थान की याचना करना—अनुवीचिअवग्रहयाचन है। राजा, कुटुम्बपति, शय्यातर—जिसकी भी जगह माँग कर ली हो, ऐसे साधर्मिक आदि अनेक प्रकार के स्वामी हो सकते हैं। उनमें से जिस जिस स्वामी के पास से जो जो स्थान मांगने में विशेष औचित्य प्रतीत हो, उनके पास से वही स्थान मांगना तथा एक बार देने के बाद मालिक ने वापिस ले लिया हो, फिर भी रोग आदि के कारण खास जरूरत पड़े, तो वह स्थान

उसके मालिक के पास से उसको क्लेश न होने पावे, इस विचार से बार बार मांग कर लेना अभीक्ष्णअवग्रहयाचन है। मालिक के पास से मांगते समय ही अवग्रह का परिणाम निश्चित कर लेना—अवग्रहावधारण कहलाता है। अपने से पहले दूसरे किसी समान धर्मवाले ने कोई स्थान ले लिया हो, और उसी स्थान को उपयोग में लाने का प्रसंग आ पड़े, तो उस साधर्मिक के पास से ही स्थान मांग लेना—साधर्मिक के पास से अवग्रह-याचन है। विधिपूर्वक अन्न पानादि लाने के बाद गुरु को दिखला कर उनकी अनुज्ञा ले कर ही उसको उपयोग में लाना—वह अनुज्ञापितपान-भोजन है।

४. ब्रह्मचारी पुरुष या स्त्री का—अपने से विजातीय व्यक्ति द्वारा सेवित शयन व आसन का त्याग करना, स्त्रीपशुपण्डकसेवितशयनासनवर्जन है। ब्रह्मचारी का कामवर्धक बातें न करना—रागसंयुक्त स्त्रीकथा वर्जन है। ब्रह्मचारी का अपने विजातीय व्यक्ति के कामोद्दीपक अंगों को न देखना—मनोहरेन्द्रियालोकवर्जन है। ब्रह्मचर्य स्वीकार करने से पहले जो भोग भोगे हों, उनका स्मरण न करना—वह पूर्व के रतिविलास के स्मरण का वर्जन है। कामोद्दीपक रसयुक्त खानपान का त्याग करना—प्रणीतरसभोजन वर्जन है।

५. राग पैदा करनेवाले स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर न ललचाना और द्वेष पैदा करनेवाले हों, तो रुष्ट न होना—वे क्रमशः मनोज्ञामनोज्ञस्पर्शसमभाव एवं मनोज्ञामनोज्ञरससमभाव आदि पाँच भावनाएँ हैं।

जैन धर्म त्यागलक्षी होने से जैन-संघ में महाव्रतधारी साधु का ही प्रथम स्थान है। यही कारण है यहाँ पर महाव्रत को लक्ष्य में रख कर साधु धर्म के अनुसार ही भावनाओं का वर्णन किया गया है। फिर भी ऐसा तो है ही कि—कोई भी व्रतधारी अपनी अपनी भूमिका के अनुसार

इनमें संकोचविस्तार कर सके इसलिए देश काल की परिस्थिति और आन्तरिक योग्यता को ध्यान में रखकर—सिर्फ व्रत की स्थिरता के शुद्ध उद्देश्य से ये भावनाएँ, संख्या तथा अर्थ में घटाई, बढ़ाई तथा पल्लवित की जा सकती हैं।

कई अन्य भावनाएँ—

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् । ४ ।

दुःखमेव वा । ५ ।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु । ६ ।

जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् । ७ ।

हिंसा आदि पाँच दोषों में ऐहिक आपत्ति और पारलौकिक अनिष्ट का दर्शन करना।

अथवा उक्त हिंसा आदि दोषों में दुःख ही है, ऐसी भावना करना।

प्राणिमात्र में मैत्री वृत्ति, गुणाधिकों में प्रमोद वृत्ति, दुःखी में करुणा वृत्ति, और जड़ जैसे अपात्रों में माध्यस्थ वृत्ति रखना।

संवेग तथा वैराग्य के लिए जगत् के स्वभाव और शरीर के स्वभाव का विचार करना।

जिसका त्याग किया जावे, उसके दोषों का वास्तविक दर्शन होने से ही त्याग टिक सकता है। यही कारण है कि अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता के लिये हिंसा आदि में उनके दोषों का दर्शन करना आवश्यक माना गया है। यह दोषदर्शन यहाँ पर दो तरह से बताया गया है। हिंसा, असत्य आदि के सेवन से जो ऐहिक आपत्तियाँ अपने को अथवा दूसरों को अनुभव करनी पड़ती हैं, उनका भान सदा ताजा रखना—

यही ऐहिक दोषदर्शन है। तथा इन्हीं हिंसा आदि से जो पारलौकिक अनिष्ट की संभावना की जा सकती है, उसका खयाल रखना पारलौकिक दोषदर्शन है। इन दोनों तरह के दोषदर्शनों के संस्कारों को बढ़ाते रहना अहिंसा आदि व्रतों की भावनाएँ हैं।

पहले की तरह ही त्याज्य वृत्तियों में दुःख के दर्शन का अभ्यास किया हो, तभी उनका त्याग भलीभांति टिक सकता है। इसके लिए हिंसा आदि दोषों को दुःख रूप से मानने की वृत्ति के अभ्यास (दुःख-भावना) का यहाँ उपदेश दिया गया है। अहिंसादि व्रतों का धारक हिंसा आदि से अपने को होनेवाले दुःख के समान दूसरों को भी उससे होनेवाले दुःख की कल्पना करे—यही दुःख भावना है। और यह भावना इन व्रतों के स्थिरीकरण में उपयोगी भी है।

मैत्री, प्रमोद आदि चार भावनाएँ तो किसी सद्गुण के अभ्यास के लिए ज्यादा से ज्यादा उपयोगी होने से अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता में विशेष उपयोगी हैं ही। इसी विचार से यहाँ पर इन चार भावनाओं का विषय अमुक अंश में तो अलग अलग ही है। क्योंकि जिस विषय में इन भावनाओं का अभ्यास किया जायगा, वास्तविक परिणाम भी वैसा ही आयगा। इसीलिए इन भावनाओं के साथ इनका विषय भी अलग अलग कहा है।

१. प्राणि-मात्र के साथ मैत्री वृत्ति हो तभी प्रत्येक प्राणी के प्रति अहिंसक तथा सत्यवादी के रूप में रहकर बर्ताव किया जा सकता है। अतः मैत्री का विषय प्राणिमात्र है। मैत्री का अर्थ है दूसरे में अपनेपन की बुद्धि, और इसीलिए अपने समान ही दूसरे को दुःखी न करने की वृत्ति अथवा इच्छा।

२. कई बार मनुष्य को अपने से बढ़े हुए को देखकर ईर्ष्या होती है। जबतक इस वृत्ति का नाश नहीं हो जाता, तब तक अहिंसा, सत्य आदि

टिक ही नहीं सकते। इसीलिए ईर्ष्या के विरुद्ध प्रमोद गुण की भावना करने को कहा गया है। प्रमोद अर्थात् अपने से अधिक गुणवान् के प्रति आदर करना, तथा उसके उत्कर्ष को देखकर खुश होना। इस भावना का विषय सिर्फ अधिक गुणवान् ही है। क्योंकि उसके प्रति ही ईर्ष्या—असूया आदि दुर्वृत्तियाँ संभव हैं।

३. किसी को पीड़ा पाते देखकर भी यदि अनुकम्पा का भाव पैदा न हो, तो अहिंसा आदि व्रत कभी भी निभ नहीं सकते, इसलिए करुणा की भावना को आवश्यक माना गया है। इस भावना का विषय सिर्फ क्लेश से पीड़ित दुःखी प्राणी है; क्योंकि अनुग्रह तथा मदद की अपेक्षा दुःखी, दीन व अनाथ को ही रहती है।

४. सर्वदा और सर्वत्र सिर्फ प्रवृत्तिरूप भावनाएँ ही साधक नहीं होतीं; कई बार अहिंसा आदि व्रतों को स्थिर करने के लिए सिर्फ तटस्थ भाव ही धारण करना उपयोगी होता है। इसी कारण से माध्यस्थ्य भावना का उपदेश किया गया है। माध्यस्थ्य का अर्थ है उपेक्षा या तटस्थता। जब बिलकुल संस्कारहीन अथवा किसी तरह की भी सद्वस्तु ग्रहण करने के अयोग्य पात्र मिल जाय, और यदि उसे सुधारने के सभी प्रयत्नों का परिणाम अन्ततः शून्य ही दिखाई पड़े, तब ऐसे व्यक्ति के प्रति तटस्थ भाव रखना ही अच्छा है। अतः माध्यस्थ्य भावना का विषय अविनेय–अयोग्य पात्र इतना ही है।

संवेग तथा वैराग्य न हों, तो अहिंसा आदि व्रत संभव ही नहीं हो सकते। अतः इस व्रत के अभ्यासी के लिए संवेग और वैराग्य तो पहले आवश्यक हैं। संवेग अथवा वैराग्य का बीजवपन जगत्स्वभाव तथा शरीरस्वभाव के चिन्तन से होता है, इसीलिए इन दोनों के स्वभाव के चिन्तन का भावनारूप में यहाँ उपदेश किया है।

प्राणिमात्र थोड़े बहुत दुःख का अनुभव तो करते ही रहते हैं। जीवन सर्वथा विनश्वर है, और दूसरी वस्तुएँ भी कोई नहीं ठहरतीं। इस तरह के जगत्स्वभाव के चिन्तन में से ही संसार के प्रति मोह दूर हो कर उससे भय—संवेग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शरीर के अस्थिर, अशुचि और असारता के स्वभावचिन्तन में से ही बाह्याभ्यन्तर विषयों की अनासक्ति—वैराग्य उदित होता है। ४-७।

हिंसा का स्वरूप—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। ८।

प्रमत्त योग से होनेवाला प्राण वध हिंसा है।

अहिंसा आदि जिन पाँच व्रतों का निरूपण पहले किया है, उनको भली भाँति समझने और जीवन में उतारने के लिए विरोधी दोषों का स्वरूप यथार्थ रूप से समझना जरूरी है। अतः इन पाँच दोषों के निरूपण का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। उनमें से प्रथम दोष—हिंसा की व्याख्या इस सूत्र में की गई है।

हिंसा की व्याख्या दो अंशों द्वारा पूरी की गई है। पहिला अंश है—प्रमत्तयोग अर्थात् रागद्वेषयुक्त अथवा असावधान प्रवृत्ति, और दूसरा है—प्राणवध। पहला अंश कारण रूप में और दूसरा कार्य रूप में है। इसका फलित अर्थ यह है कि जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो वह हिंसा है।

प्र०—किसी के प्राण लेना या किसी को दुःख देना हिंसा है। हिंसा का यह अर्थ सब के द्वारा जाने जा सकने योग्य और बहुत प्रसिद्ध भी है। फिर भी इस अर्थ में प्रमत्तयोग अंश के जोड़ने का क्या कारण है?

उ०—जब तक मनुष्य-समाज के विचार और व्यवहार में उच्च संस्कार का प्रवेश नहीं होता, तब तक मनुष्य-समाज और अन्य प्राणियों

के बीच जीवन-व्यवहार में खास अन्तर नहीं पड़ता। पशु-पक्षी की ही तरह असंस्कृत समाज के मनुष्य भी मानसिक वृत्तियों से प्रेरित होकर जाने या अनजाने जीवन की आवश्यकताओं के निमित्त अथवा जीवन की आवश्यकताओं के बिना ही दूसरे के प्राण लेते हैं। मानव-समाज की हिंसा-मय इस प्राथमिक दशा में जब एकाध मनुष्य के विचार में हिंसा के स्वरूप के बारे में जागृति होती है, तब वह प्रचलित हिंसा को अर्थात् प्राण-नाश को दोषरूप बतलाता है। और दूसरे के प्राण न लेने को कहता है। एक तरफ हिंसा जैसी प्रथा के पुराने संस्कार और दूसरी तरफ अहिंसा की नवीन भावना का उदय—इन दोनों के बीच संघर्ष होते समय हिंसकवृत्ति की ओर से हिंसा-निषेधक के सामने कितने ही प्रश्न अपने आप खड़े होने लगते हैं, और ये उसके सामने रक्खे जाते हैं। वे प्रश्न संक्षेप में तीन हैं—

१. अहिंसा के पक्षपाती भी जीवन धारण तो करते ही हैं, और यह जीवन किसी न किसी तरह की हिंसा किये बिना निभ सकने जैसा न होने से जीवन के वास्ते उनकी तरफ से जो हिंसा होती है, वह हिंसा दोष में आ सकती है या नहीं ?

२. भूल और अज्ञान का जब तक मानुषीवृत्ति में सर्वथा अभाव सिद्ध न हो जाय तब तक अहिंसा के पक्षपातियों के हाथ से अनजानपने या भूल से किसी के प्राणनाश का होना तो संभव ही है, अतः ऐसा प्राणनाश हिंसा दोष में आयगा या नहीं ?

३. कितनी बार अहिंसकवृत्ति वाला किसी को बचाने या उसको सुख-आराम पहुँचाने का प्रयत्न करता है; परन्तु परिणाम उल्टा ही निकलता है, अर्थात् बचाये जानेवाले के प्राण चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्राणनाश हिंसा दोष में आयगा या नहीं ?

ऐसे प्रश्नों के उपस्थित होने पर उनके उत्तर देते समय हिंसा और अहिंसा के स्वरूप की विचारणा गम्भीर बन जाती है। फलतः हिंसा और अहिंसा का अर्थ विशाल हो जाता है। किसी के प्राण लेना या बहुत हुआ तो उसके निमित्त किसी को दुःख देना—ऐसा जो हिंसा का अर्थ समझा जाता था तथा किसी के प्राण न लेना और उसके निमित्त किसी को दुःख न देना ऐसा जो अहिंसा का अर्थ समझा जाता था—उसके स्थान में अहिंसा के विचारकों ने सूक्ष्मता से विचार करके निश्चय किया कि सिर्फ किसी के प्राण लेना या किसी को दुःख देना—इसमें हिंसा दोष है ही, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्राणवध या दुःख देने के साथ ही उसके पीछे वैसा करनेवाले की भावना क्या है, उसका विचार करके ही हिंसा की सदोषता या निर्दोषता का निर्णय किया जा सकता है। वह भावना अर्थात् राग द्वेष की विविध ऊर्मियाँ तथा असावधानता जिसको शास्त्रीय परिभाषा में प्रमाद कहते हैं; ऐसी अशुभ अथवा क्षुद्र भावना से ही यदि प्राणनाश हुआ हो, या दुःख दिया हो, तो वही हिंसा है, और वही हिंसा दोष रूप भी है। ऐसी भावना के बिना यदि प्राणनाश हुआ हो, या दुःख दिया हो तो वह देखने में भले ही हिंसा कहलाए, लेकिन दोषकोटि में नहीं आ सकती। इस तरह हिंसक समाज में अहिंसा के संस्कार के फैलने और उसके कारण विचारविकास के होने से दोषरूप हिंसा की व्याख्या के लिए सिर्फ 'प्राणनाश' इतना ही अर्थ पर्याप्त नहीं हो सका, इसीलिए उसमें 'प्रमत्त योग' जैसे महत्त्व के अंश की वृद्धि की गई।

प्र०—हिंसा की इस व्याख्या पर से यह प्रश्न होता है कि यदि प्रमत्तयोग के बिना ही प्राणवध हो जाय, तब उसे हिंसा कहें या नहीं? इसी तरह यदि प्राणवध तो न हुआ हो, लेकिन प्रमत्तयोग हो, तब उसे भी हिंसा गिनें या नहीं? यदि इन दोनों स्थलों में हिंसा गिनी जाय, तो

वह हिंसा प्रमत्तयोगजनित प्राणवध रूप हिंसा की कोटि की ही होगी, या उससे भिन्न प्रकार की ?

उ०—सिर्फ प्राणवध स्थूल होने से दृश्य हिंसा तो है ही जब कि सिर्फ प्रमत्तयोग सूक्ष्म होने से अदृश्य है। इन दोनों में दृश्यत्व, अदृश्यत्व रूप अन्तर के अलावा एक और ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण अन्तर है, और उसके ऊपर ही हिंसा की सदोषता या अदोषता का आधार भी है। देखने में भले ही प्राणनाश हिंसा हो, फिर भी वह दोषरूप ही है, ऐसा एकान्त नहीं, क्योंकि उसकी दोषरूपता स्वाधीन नहीं है। हिंसा की सदोषता हिंसक की भावना पर अवलम्बित है। अतः वह पराधीन है। भावना स्वयं खराब हो, तभी उसमें से होने वाला प्राणवध दोषरूप होगा, और यदि भावना वैसी न हो, तो वह प्राणवध भी दोषरूप नहीं होगा। इसीलिए शास्त्रीय परिभाषा में ऐसी हिंसा को द्रव्य हिंसा अथवा व्यावहारिक हिंसा कहा गया है। द्रव्यहिंसा अथवा व्यावहारिक हिंसा का अर्थ इतना ही है कि उसकी दोषरूपता अबाधित नहीं है। इसके विपरीत प्रमत्तयोग रूप जो सूक्ष्म भावना है वह स्वयं ही दोष रूप है; जिससे उसकी दोष-रूपता स्वाधीन है। अर्थात् उसकी दोषरूपता स्थूल प्राणनाश, या किसी दूसरी बाह्य वस्तु पर अवलम्बित नहीं है। स्थूल प्राणनाश न हुआ हो, किसी को दुःख भी न पहुँचाया हो, बल्कि प्राणनाश करने या दुःख देने का प्रयत्न होने पर उलटा दूसरे का जीवन बढ़ गया हो या उसको सुख ही पहुँच गया हो; फिर भी यदि उसके पीछे भावना अशुभ हो, तो वह सब एकान्त दोष रूप ही गिना जायगा। यही कारण है, ऐसी भावना को शास्त्रीय परिभाषा में भावहिंसा अथवा निश्चय हिंसा कहा है। भाव हिंसा अथवा निश्चय हिंसा का अर्थ इतना ही है कि उसकी दोषरूपता स्वाधीन होने से तीनों कालों में अबाधित रहती है। सिर्फ प्रमत्तयोग या सिर्फ प्राणवध—इन दोनों को स्वतन्त्र (अलग अलग) हिंसा मान लेने

और दोनों की दोषरूपता का तारतम्य पूर्वोक्त रीति से जान लेने के बाद इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों प्रकार की हिंसाएँ प्रमत्तयोग जनित प्राणवध रूप हिंसा की कोटि की ही हैं या भिन्न प्रकार की हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भले ही स्थूल आँख न देख सके, लेकिन तात्त्विक रीति से तो सिर्फ प्रमत्तयोग ही प्रमत्तयोग जनित प्राणनाश की कोटि की हिंसा है; और सिर्फ प्राणनाश ऐसी हिंसा नहीं है जो उक्त कोटि में आ सके।

प्र०—पूर्वोक्त कथन के अनुसार यदि प्रमत्तयोग ही हिंसा की दोषरूपता का मूल बीज हो, तब तो हिंसा की व्याख्या में इतना ही कहना काफी होगा कि प्रमत्तयोग हिंसा है। यदि यह दलील सत्य हो, तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से होता है कि फिर हिंसा की व्याख्या में 'प्राणनाश' को स्थान देने का कारण क्या है?

उ०—तात्त्विक रीति से तो प्रमत्तयोग ही हिंसा है। लेकिन समुदाय द्वारा एकदम और बहुत अंशों में उसका त्याग करना शक्य नहीं। इसके विपरीत सिर्फ प्राणवध स्थूल होने पर भी उसका त्याग सामुदायिक जीवनहित के लिए वाञ्छनीय है; और यह बहुत अंशों में शक्य भी है। प्रमत्तयोग न भी छूटा हो, लेकिन स्थूल प्राणवधवृत्ति के कम हो जाने से भी बहुधा सामुदायिक जीवन में सुख-शान्ति रह सकती है। अहिंसा के विकास क्रम के अनुसार भी पहले स्थूल प्राणनाश का त्याग और बाद में धीरे धीरे प्रमत्तयोग का त्याग समुदाय में संभव होता है। इसीसे आध्यात्मिक विकास में साधकरूप से प्रमत्तयोग रूप हिंसा का ही त्याग इष्ट होने पर भी सामुदायिक जीवन की दृष्टि से हिंसा के स्वरूप के अन्तर्गत स्थूल प्राणनाश को स्थान दिया गया है। तथा उसके त्याग को भी अहिंसा कोटि में रक्खा है।

प्र०—यह तो समझ लिया कि शास्त्रकार ने जिसको हिंसा कहा है, उससे निवृत्त होना ही अहिंसा है। पर यह बतलाइये कि ऐसी अहिंसा का व्रत लेनेवाले के लिये जीवन बनाने के वास्ते क्या क्या कर्तव्य अनिवार्य है ?

उ०—१. जीवन को सादा बनाते जाना और उसकी आवश्यकताओं को कम करते रहना।

२. मानुषी वृत्ति में अज्ञान की कितनी ही गुंजाइश हो, लेकिन ज्ञान का भी पुरुषार्थ के अनुसार स्थान है ही। इसलिए प्रतिक्षण सावधान रहना, और कहीं भूल न हो जाय, इस बात को ध्यान में रखना और यदि भूल हो जाय, तो वह ध्यान से ओझल न हो सके ऐसी दृष्टि को बना लेना।

३. आवश्यकताओं को कम कर देने और सावधान रहने का लक्ष्य रखने पर भी चित्त के जो असली दोष हैं, जैसे स्थूल जीवन की तृष्णा, और उसके कारण पैदा होनेवाले जो दूसरे राग द्वेषादि दोष हैं, उन्हें कम करने का सतत प्रयत्न करना।

प्र०—ऊपर जो हिंसा की दोषरूपता बतलाई है, उसका क्या मतलब है ?

उ०—जिससे चित्त की कोमलता घटे और कठोरता पैदा हो, तथा स्थूल जीवन की तृष्णा बढ़े वही हिंसा की दोषरूपता है। और जिससे उक्त कठोरता न बढ़े, एवं सहज प्रेममय वृत्ति व अंतर्मुख जीवन में जरा सी भी खलल न पहुँचे, तब भले ही देखने में हिंसा हो, लेकिन उसकी वही अदोषरूपता है।

असत्य का स्वरूप—

असदभिधानमनृतम् । ९ ।

असत् बोलना अनृत—असत्य है।

यद्यपि सूत्र में असत् कथन को असत्य कहा है, तथापि उसका भाव विशाल होने से उसमें असत्-चिन्तन, असत्-आचरण इन सभी का समावेश हो जाता है। इसीलिए असत्-चिन्तन, असत्-भाषण और असत्-आचरण—ये सभी असत्य दोष में आ जाते हैं। जैसे अहिंसा की व्याख्या में 'प्रमत्तयोग' विशेषण लगाया है, वैसे ही असत्य तथा अदत्तादानादि बाकी के दोषों की व्याख्या में भी इस विशेषण को समझ लेना चाहिए। इसीसे प्रमत्तयोग पूर्वक जो असत् कथन है वह असत्य है, यह असत्य दोष का फलित अर्थ होता है।

'असत्' शब्द के मुख्य दो अर्थ करने से यहाँ काम चल जाता है—

१. जो वस्तु अस्तित्व रखती हो उसका बिलकुल निषेध करना; अथवा निषेध न भी करे, लेकिन जिस रूप में वस्तु हो, उसको उस रूप में न कह कर अन्यथा कथन करना—वह असत् है।

२. गर्हित—असत् अर्थात् जो सत्य होने पर भी दूसरे को पीड़ा पहुँचावे, ऐसे दुर्भावयुक्त हो, तो वह असत् है।

पहले अर्थ के अनुसार पास में पूँजी होने पर भी जब लेनदार माँगे, तब कह देना कि कुछ भी नहीं है—यह असत्य है। इसी प्रकार पास में पूँजी है—यह स्वीकार कर लेने पर भी लेनदार सफल न हो सके इस तरह का बयान देना—यह भी असत्य है।

---

१. अब्रह्म में 'प्रमत्तयोग' विशेषण नहीं लगाना चाहिए; क्योंकि यह दोष अप्रमत्त दशा में संभव ही नहीं है। इसीलिए तो ब्रह्मचर्य को निरपवाद कहा है। विशेष खुलासे के लिए देखो गुजराती में 'जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य' नामक निबन्ध।

दूसरे अर्थ के अनुसार किसी भी अनपढ़ या नासमझ को नीचा दिखलाने के लिए अथवा ऐसे ढंग से कि जिससे उसे दुःख पहुँचे, सत्य होने पर भी 'अनपढ़' या 'नासमझ' ऐसा वचन कहना भी असत्य है।

असत्य के उक्त अर्थ पर से सत्य व्रतधारी के लिए निम्न अर्थ फलित होते हैं :

१. प्रमत्तयोग का त्याग करना।

२. मन, वचन और काय की प्रवृत्ति में एकरूपता रखना।

३. सत्य होने पर भी दुर्भाव से अप्रिय न चिन्तना, न बोलना और न करना। ९।

चोरी का स्वरूप–

अदत्तादानं स्तेयम्। १०।

बिना दिये लेना—वह स्तेय अर्थात् चोरी है।

जिस वस्तु पर किसी दूसरे की मालिकी हो, भले ही वह वस्तु तृण समान या बिल्कुल मूल्य रहित हो, पर उसके मालिक की आज्ञा के बिना चौर्य बुद्धि से ग्रहण करने को स्तेय कहते हैं।

इस व्याख्या पर से अचौर्य व्रतधारी के लिए निम्न अर्थ फलित होते हैं :

१. किसी भी वस्तु की तरफ ललचा जानेवाली वृत्ति को हटाना।

२. जब तक ललचाने की आदत न छूटे, तब तक अपने ललच की वस्तु न्यायपूर्वक अपने आप ही प्राप्त करना और दूसरे की वैसी वस्तु को आज्ञा के बिना लेने का विचार तक न करना। १०।

अब्रह्म का स्वरूप–

मैथुनमब्रह्म। ११।

मैथुन प्रवृत्ति– अब्रह्म है।

मैथुन का अर्थ मिथुन की प्रवृत्ति है। 'मिथुन' शब्द सामान्य रूप से 'स्त्री और पुरुष का 'जोड़ा' के अर्थ में प्रसिद्ध है। फिर भी इसका अर्थ जरा विस्तृत करने की जरूरत है। जोड़ा स्त्री-पुरुष का, पुरुष-पुरुष का, या स्त्री-स्त्री का हो सकता है। और वह सजातीय—मनुष्य आदि एक जाति का, अथवा विजातीय—मनुष्य, पशु आदि भिन्न भिन्न जाति का भी हो सकता है। ऐसे जोड़े की काम राग के आवेश से उत्पन्न मानसिक, वाचिक अथवा कायिक कोई भी प्रवृत्ति मैथुन अर्थात् अब्रह्म कहलाती है।

प्र—जहाँ पर जोड़ा न हो; और स्त्री या पुरुष में से कोई एक ही व्यक्ति कामराग के आवेश में जड़ वस्तु के आलम्बन से अथवा अपने हस्त आदि अवयवों द्वारा मिथ्या आचार का सेवन करे, तो ऐसी चेष्टा को ऊपर की व्याख्या के अनुसार क्या मैथुन कह सकते हैं?

उ०—हाँ, अवश्य। क्योंकि मैथुन का असली भावार्थ तो कामरागजनित कोई भी चेष्टा ही है। यह अर्थ तो किसी एक व्यक्ति की वैसी दुश्चेष्टाओं में भी लागू हो सकता है। अतः उसमें भी मैथुन का दोष है ही।

प्र०—मैथुन को अब्रह्म कहा गया है, उसका क्या कारण है?

उ०—जो ब्रह्म न हो वह अब्रह्म है। ब्रह्म का अर्थ है: जिसके पालन और अनुसरण से सद्गुणों की वृद्धि हो। जिस ओर जाने से सद्गुणों की वृद्धि न हो, बल्कि दोषों का ही पोषण हो—वह अब्रह्म है। मैथुन प्रवृत्ति एक ऐसी प्रवृत्ति है कि उसमें पड़ते ही सारे दोषों का पोषण और सद्गुणों का ह्रास शुरू हो जाता है। इसीलिए मैथुन को अब्रह्म कहा गया है। ११।

परिग्रह का स्वरूप—

मूर्च्छा परिग्रहः। १२।

मूर्च्छा ही परिग्रह है।

मूर्च्छा का अर्थ आसक्ति है। वस्तु छोटी, बड़ी, जड़, चेतन, बाह्य या आन्तरिक चाहे जो हो और कदाचित् न भी हो, तो भी उसमें बंध जाना; अर्थात् उसकी लगन में विवेक खो बैठना परिग्रह है।

प्र०—हिंसा से परिग्रह तक के पाँच दोषों का स्वरूप ऊपर से देखने से भिन्न मालूम पड़ता है, पर सूक्ष्मता से विचार करने पर उसमें कोई खास भेद नहीं दीखता। कारण यह है कि इन पाँच दोषों के दोषरूपता का आधार सिर्फ राग, द्वेष और मोह है। तथा राग, द्वेष और मोह ही हिंसा आदि वृत्तियों का जहर है, और इसी से वे वृत्तियाँ दोष कहलाती हैं। यदि यह कथन सत्य हो, तब राग-द्वेष आदि ही दोष हैं, इतना कहना ही काफी होगा। फिर दोष के हिंसा आदि पाँच या न्यूनाधिक भेदों का वर्णन किस लिए किया जाता है?

उ०—निःसन्देह कोई भी प्रवृत्ति राग, द्वेष आदि के कारण ही होती है। अतः मुख्यरूप से राग, द्वेष आदि ही दोष हैं, और इन दोषों से विरत होना ही एक मुख्य व्रत है। ऐसा होने पर भी जब राग, द्वेष आदि के त्याग का उपदेश देना हो, तब उनसे होनेवाली प्रवृत्तियों को समझाकर ही उन प्रवृत्तियों तथा उनके प्रेरक राग, द्वेष आदि के त्याग करने को कह सकते हैं। स्थूल दृष्टिवाले लोगों के लिए दूसरा क्रम अर्थात् सीधे राग, द्वेषादि के त्याग का उपदेश शक्य नहीं है। राग-द्वेष से पैदा होनेवाली असंख्य प्रवृत्तियों में से हिंसा, असत्य आदि मुख्य हैं। और वे प्रवृत्तियाँ ही मुख्यरूप से आध्यात्मिक या लौकिक जीवन को कुरेद डालती हैं। इसीलिए हिंसा आदि प्रवृत्तियों को पाँच भागों में विभाजित करके पाँच दोषों का वर्णन किया गया है।

दोषों की इस संख्या में समय समय पर और देश भेद से परिवर्तन होता आया है और होता रहेगा; फिर भी संख्या और स्थूल नाम

के मोह में न पड़ कर खास तौर से इतना समझ लेना चाहिए कि इन प्रवृत्तियों के द्वारा राग, द्वेष और मोह रूप दोषों का त्याग करना ही सूचित किया है। इसी कारण हिंसा आदि पाँच दोषों में कौनसा दोष प्रधान है, किसका पहले त्याग करना चाहिए और किसका बाद में यह सवाल ही नहीं रहता। हिंसा दोष की विशाल व्याख्या में असत्य आदि सभी दोष समा जाते हैं। इसी तरह असत्य या चोरी आदि किसी भी दोष की विशाल व्याख्या में बाकी के सब दोष समा जाते हैं। यही कारण है कि अहिंसा को मुख्य धर्म मानने वाले हिंसादोष में असत्यादि सब दोषों को समा लेते हैं, और सिर्फ हिंसा के त्याग में ही दूसरे सभी दोषों का त्याग भी समझते हैं; तथा सत्य को परम धर्म मानने वाले असत्य में बाकी के सब दोषों को घटा कर सिर्फ असत्य के त्याग में ही सब दोषों का त्याग समझते हैं। इसी प्रकार संतोष, ब्रह्मचर्य आदि को मुख्य धर्म मानने वाले भी करते हैं। १२।

यथार्थरूप में व्रती बनने की प्राथमिक योग्यता—

निःशल्यो व्रती। १३।

शल्य रहित ही व्रती हो सकता है।

अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के लेने मात्र से कोई सच्चा व्रती नहीं बन सकता। सच्चा व्रती होने के लिए छोटी से छोटी और सबसे पहली एक ही शर्त है। वह शर्त यह है कि 'शल्य' का त्याग करना। संक्षेपतः शल्य तीन हैं: १. दम्भ—कपट, ढोंग अथवा ठगने की वृत्ति, २. निदान—भोगों की लालसा, ३. मिथ्यादर्शन—सत्य पर श्रद्धा न लाना अथवा असत्य का आग्रह। ये तीनों मानसिक दोष हैं। जब तक ये रहते हैं, मन और शरीर दोनों को कुरेद डालते हैं, और आत्मा कभी

स्वस्थ नहीं रह सकता। इसलिए शल्ययुक्त आत्मा किसी कारण से व्रत ले भी ले, लेकिन वह उनके पालन में एकाग्र नहीं बन सकता। जैसे शरीर के किसी भाग में काँटा या वैसी ही दूसरी कोई तीक्ष्ण वस्तु चुभे तो वह शरीर और मन को अस्वस्थ बना डालती है, और आत्मा को किसी भी कार्य में एकाग्र नहीं होने देती; वैसे ही उक्त मानसिक दोष भी उसी प्रकार की व्यग्रता पैदा करते हैं। इसीलिए उनका त्याग व्रती बनने के लिए प्रथम शर्त के रूप में रक्खा गया है। १३।

व्रती के भेद–

अगार्यनगारश्च । १४ ।

व्रती के अगारी—गृहस्थ और अनगार—त्यागी, ऐसे दो भेद संभव है।

प्रत्येक व्रतधारी की योग्यता एकसी नहीं होती। इसीलिए योग्यता के तारतम्य के अनुसार संक्षेप में व्रती के यहाँ दो भेद बतलाए गए हैं : १. अगारी, २. अनगार। अगार घर को कहते हैं। जिसका घर के साथ संबन्ध हो वह अगारी है। अगारी अर्थात् गृहस्थ। जिसका घर के साथ संबन्ध न हो उसे अनगार अर्थात् त्यागी, मुनि कहते हैं।

यद्यपि अगारी और अनगार इन दोनों शब्दों का सीधा अर्थ घर में बसना या न बसना ही है। लेकिन यहाँ तो इनका तात्पर्य लेना है, और यह वह कि विषयतृष्णा रखने वाला—अगारी, तथा जो विषयतृष्णा से मुक्त हो—वह अनगार। इस तात्पर्यार्थ के लेने से फलितार्थ यह निकलता है कि कोई घर में बसता हुआ भी विषयतृष्णा से मुक्त हो, तो वह अनगार ही है। तथा कोई घर छोड़कर जंगल में जा बसे, लेकिन विषयतृष्णा से मुक्त न हो तो वह अगारी ही है। अगारीपन और

अनगारपन की सच्ची एवं मुख्य कसौटी एक यही है, तथा उसके आधार पर ही यहाँ व्रती के दो भेद किये गए हैं।

प्र०—यदि विषयतृष्णा के होने से अगारी होता है, तो फिर उसे व्रती कैसे कह सकते हैं?

उ०—स्थूल दृष्टि से। जैसे कोई आदमी अपने घर आदि किसी नियत स्थान में ही रहता है और फिर भी वह अमुक शहर में रहता है—ऐसा व्यवहार अपेक्षाविशेष से करते हैं, इसी तरह विषयतृष्णा के रहने पर भी अल्पांश में व्रत का संबन्ध होने के कारण उसे व्रती भी कह सकते हैं।१४।

अगारी व्रती का वर्णन

अणुव्रतोऽगारी । १५ ।

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोग-परिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च । १६ ।

मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता । १७ ।

अणुव्रतधारी अगारी व्रती कहलाता है।

वह व्रती दिग्विरति, देशविरति अनर्थदण्डविरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण, और अतिथिसंविभाग इन व्रतों से भी संपन्न होता है।

तथा वह मारणान्तिक संलेखना का भी आराधक होता है।

जो अहिंसा आदि व्रतों को संपूर्ण रूप से स्वीकार करने में समर्थ न हो, फिर भी त्यागवृत्ति युक्त हो, तो वह गृहस्थ मर्यादा में रहकर अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार इन व्रतों को अल्पांश में स्वीकार करता है। ऐसा गृहस्थ अणुव्रतधारी श्रावक कहलाता है।

संपूर्ण रूप से स्वीकार किये जाने वाले व्रतों को महाव्रत कहते हैं। उनके स्वीकार की प्रतिज्ञा में संपूर्णता के कारण तारतम्य नहीं रक्खा जाता। परन्तु जब व्रतों को अल्पांश में स्वीकार किया जाता है, तब अल्पता की विविधता के होने से तद्विषयक प्रतिज्ञा भी अनेक रूप में अलग-अलग ली जाती है। ऐसा होने पर भी एक एक अणुव्रत की विविधता में न जाकर सूत्रकार ने सामान्य रीति से गृहस्थ के अहिंसा आदि व्रतों का एक एक अणुव्रत के रूप में वर्णन किया है। ऐसे अणुव्रत पाँच हैं, जो मूलभूत अर्थात् त्याग के प्रथम स्तम्भरूप होने से मूलगुण या मूलव्रत कहलाते हैं। इन मूलव्रतों की रक्षा, पुष्टि अथवा शुद्धि के निमित्त गृहस्थ दूसरे भी अनेक व्रत स्वीकार करता है; जो उत्तरगुण या उत्तरव्रत के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे उत्तरव्रत यहाँ संक्षेप में सात बतलाए हैं। तथा गृहस्थ व्रती जीवन के अन्तिम समय में जो एक व्रत लेने के लिए

---

१. सामान्यतः भगवान महावीर की समग्र परम्परा में अणुव्रतों की पाँच संख्या, उनके नाम, तथा क्रम में कुछ भी अन्तर नहीं है। हां, दिगम्बर परम्परा में कितने ही आचार्यों ने रात्रिभोजन के त्याग को छठे अणुव्रत के रूप में गिनाया है। परन्तु उत्तरगुण रूप में माने हुए श्रावक के व्रतों के बारे में प्राचीन तथा नवीन अनेक परम्पराएँ हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में दिग्विरमण के बाद उपभोगपरिभोग परिणामव्रत को न गिनाकर देशविरमणव्रत को गिनाया है। जब कि आगमों में दिग्विरमण के बाद उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत गिनाया है। तथा देशविरमणव्रत सामायिक व्रत के बाद गिना है। ऐसे क्रम भेद के रहते भी जो तीन व्रत गुणव्रत के रूप में और चार व्रत शिक्षाव्रत के रूप में माने जाते हैं, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं देखा जाता। उत्तरगुणों के विषय में दिगम्बर संप्रदाय में भिन्न भिन्न छः परम्पराएँ देखने में आती हैं। कुन्दकुन्द, उमास्वातीय, समन्तभद्र, स्वामी कार्तिकेय, जिनसेन और वसुनन्दी–इन आचार्यों की भिन्न भिन्न मान्यताएँ हैं। इस मतभेद में कहीं नाम का, कहीं क्रम का, कहीं संख्या का और कहीं पर अर्थविकास का

प्रेरित होता है, वह संलेखना के नाम से प्रसिद्ध है। उसका भी यहाँ निर्देश है। इन सभी व्रतों का स्वरूप संक्षेप में निम्न प्रकार है :

पाँच अणुव्रत

१. छोटे बड़े प्रत्येक जीव की मानसिक, वाचिक, कायिक हिंसा का पूर्णतया त्याग न हो सकने के कारण अपनी निश्चित की हुई गृहस्थमर्यादा, जितनी हिंसा से निभ सके उससे अधिक हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत है।

२–५. इसी तरह असत्य, चोरी, कामाचार और परिग्रह का अपनी परिस्थिति के अनुसार मर्यादित त्याग करना क्रमशः सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अणुव्रत हैं।

तीन गुणव्रत

६. अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर हरतरह के अधर्म कार्य से निवृत्ति धारण करना दिग्विरति व्रत है।

७. सर्वदा के लिए दिशा का परिमाण निश्चित कर लेने के बाद भी उसमें से प्रयोजन के अनुसार समय समय पर क्षेत्र का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर अधर्म कार्य से सर्वथा निवृत्त होना देशविरति व्रत है।

८. अपने भोगरूप प्रयोजन के लिए होने वाले अधर्म व्यापार के अलावा बाकी के संपूर्ण अधर्म व्यापार से निवृत्त होना, अर्थात् कोई निरर्थक प्रवृत्ति न करना अनर्थदण्डविरति व्रत है।

भेद है। यह सब खुलासा जानने के लिए बाबू जुगलकिशोर जी मुख्तार की 'जैनाचार्यों का शासन-भेद' नामक पुस्तक, पृ० २१ से आगे अवश्य पढ़नी चाहिए। प्रकाशक—जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई।

९. काल का अभिग्रह लेकर अर्थात् अमुक समय तक अधर्म प्रवृत्ति का त्याग करके धर्मप्रवृत्ति में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है।

चार शिक्षाव्रत

१०. अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा या दूसरी कोई भी तिथि में उपवास धारण करके और सब तरह की शरीर विभूषा का त्याग करके धर्म जागरण में तत्पर रहना पौषधोपवास व्रत है।

११. जिसमें अधिक अधर्म संभव हो--ऐसे खान-पान, गहना, कपड़ा, बर्तन आदि का त्याग करके अल्प अधर्म वाली वस्तुओं का भी भोग के लिए परिमाण बांधना उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत है।

१२. न्याय से उपार्जित और जो खप सके ऐसी खान-पान आदि के योग्य वस्तुओं का इस रीति से शुद्ध भक्तिभाव पूर्वक सुपात्र को दान देना जिससे कि उभय पक्ष को लाभ पहुँचे अतिथिसंविभाग व्रत है।

कषाय का अन्त करने के लिए उसके निर्वाहक और पोषक कारणों को घटाते हुए कषाय को मन्द बनाना— संलेखना है। यह संलेखना व्रत वर्तमान शरीर का अन्त होने तक लिया जाता है। अतः इसको मारणान्तिक संलेखना कहते हैं। संलेखना व्रत को गृहस्थ भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करके उसका संपूर्णरूप से पालन करते हैं, इसीलिए उन्हें इस व्रत का आराधक कहा है।

प्र०—संलेखना व्रत को धारण करनेवाला अनशन आदि द्वारा शरीर का अन्त करता है, यह तो आत्महत्या हुई। तथा आत्महत्या तो स्वहिंसा ही है, तब फिर इसको व्रत मानकर त्यागधर्म में स्थान देना कहाँ तक उचित है ?

उ०—भले ही देखने में दुःख हो या प्राणनाश—पर इतने मात्र से ही यह व्रत हिंसा की कोटि में नहीं आ सकेगा। यथार्थ हिंसा का

स्वरूप तो राग, द्वेष तथा मोह की वृत्ति से ही बनता है। संलेखना व्रत में प्राणनाश है, पर वह राग, द्वेष तथा मोह के न होने के कारण हिंसा की कोटि में नहीं आता; उलटा निर्मोहत्व और वीतरागत्व साधने की भावना में से ही यह व्रत पैदा होता है और इस भावना की सिद्धि के प्रयत्न के कारण ही यह व्रत पूर्ण बनता है। इसलिए यह हिंसा नहीं है, बल्कि शुभध्यान अथवा शुद्धध्यान की कोटि में रखने योग्य होने से इसको त्यागधर्म में स्थान प्राप्त है।

प्र०—कमलपूजा, भैरवजप, जलसमाधि आदि अनेक तरह से जैनेतर पन्थों में प्राणनाश करने की और उनको धर्म मानने की प्रथाएँ चालू थीं, और हैं; उनमें और संलेखना की प्रथा में क्या अन्तर है?

उ०—प्राणनाश की स्थूल दृष्टि से भले ही ये समान दीखें, लेकिन भेद तो उनके पीछे रही हुई भावना में ही हो सकता है। कमलपूजा वगैरह के पीछे कोई भौतिक आशा या दूसरा प्रलोभन न हो और सिर्फ भक्ति का आवेश या अर्पण की वृत्ति हो ऐसी स्थिति में और वैसे ही आवेश या प्रलोभन से रहित संलेखना की स्थिति में अगर फर्क कहा जा सकता है, तो यही कि भिन्न भिन्न तत्त्वज्ञान पर अवलम्बित भिन्न भिन्न उपासनाओं में रही हुई भावनाओं का। जैन उपासना का ध्येय उसके तत्त्वज्ञान के अनुसार परार्पण या परप्रसन्नता नहीं है, परन्तु आत्मशोधन मात्र है। पुराने समय से चली आती हुई धर्म्य प्राणनाश की विविध प्रथाओं का उसी ध्येय की दृष्टि से संशोधित रूप जो कि जैन संप्रदाय में प्रचलित है, संलेखना व्रत है। इसी कारण संलेखना व्रत का विधान खास संयोगों में किया गया है।

जब जीवन का अन्त निश्चित रूप से समीप मालूम पड़े, धर्म और आवश्यक कर्तव्यों का नाश होता हो, इसी प्रकार जब कि किसी तरह

का भी दुर्ध्यान न हो, ऐसी स्थिति में ही यह व्रत विधेय माना गया है। १५–१७।

सम्यग्दर्शन के अतिचार–

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः । १८ ।

शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, और अन्यदृष्टिसंस्तव ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं।

ऐसे स्खलन, जिनसे कि कोई भी स्वीकार किया हुआ गुण मलिन हो जाता है और धीरे धीरे ह्रास को प्राप्त हो कर नष्ट हो जाता है, उन स्खलनों को ही अतिचार कहते हैं।

सम्यक्त्व ही चारित्र धर्म का मूल आधार है। उसकी शुद्धि पर ही चारित्र की शुद्धि अवलम्बित है। इसलिए जिनसे सम्यक्त्व की शुद्धि में विघ्न पहुँचने की संभावना है, ऐसे अतिचारों का यहाँ पाँच भागों में वर्णन किया है, वे निम्नानुसार हैं:

१. आर्हत प्रवचन की दृष्टि स्वीकार करने के बाद उसमें वर्णित अनेक सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों (जो सिर्फ केवलज्ञानगम्य तथा आगमगम्य हों) के विषय में शङ्का करना कि 'वे ऐसे होंगे या नहीं?' यह शङ्कातिचार है। संशय और तत्पूर्वक परीक्षा का जैन तत्त्वज्ञान में पूर्णतया स्थान होने पर भी यहाँ जो शङ्का को अतिचार रूप से बतलाया है, इसका तात्पर्य इतना ही है कि तर्कवाद के पार के पदार्थों को तर्क दृष्टि से कसने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से साधक सिर्फ श्रद्धागम्य प्रदेश को बुद्धिगम्य न कर सकेगा, जिससे अन्त में वह बुद्धिगम्य प्रदेश को भी छोड़ बैठेगा। अतः जिससे साधना के विकास में बाधा आती हो, वैसी शङ्का ही अतिचार रूप में त्याज्य है।

२. ऐहिक और पारलौकिक विषयों की अभिलाषा करना ही कांक्षा है। यदि ऐसी कांक्षा होगी, तो साधक गुणदोष का विचार किये बिना ही जब चाहे अपने सिद्धान्त को छोड़ देगा; इसीलिए उसको अतिचार दोष कहा गया है।

३. जहाँ भी मतभेद या विचारभेद का प्रसंग उपस्थित हो, वहाँ पर अपने आप कुछ भी निर्णय न करके सिर्फ मतिमन्दता के कारण यह सोचना कि 'यह बात भी ठीक है और वह बात भी ठीक हो सकती है'। इस प्रकार बुद्धि की अस्थिरता ही विचिकित्सा है। बुद्धि की ऐसी अस्थिरता साधक को किसी एक तत्त्व पर कभी भी स्थिर नहीं रहने देती; इसीलिए यह अतिचार है।

४-५ जिसकी दृष्टि मिथ्या हो, उसकी प्रशंसा करना या उससे परिचय करना ये अनुक्रम से मिथ्यादृष्टिप्रशंसा और मिथ्यादृष्टिसंस्तव नामक अतिचार हैं। भ्रान्तदृष्टि रूप दोष से युक्त व्यक्तियों में भी कई बार विचार, त्याग आदि गुण पाये जा सकते हैं। गुण और दोष का भेद किये बिना ही उन गुणों से आकृष्ट हो कर वैसे व्यक्ति की प्रशंसा करने अथवा उससे परिचय करने से अविवेकी साधक का सिद्धान्त से स्खलित होने का डर रहता है। इसीसे अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव को अतिचार माना है। मध्यस्थता और विवेकपूर्वक गुण को गुण और दोष को दोष समझने वाले साधक के लिए भी उक्त प्रकार के प्रशंसा और संस्तव हानिकारक होते ही हैं ऐसा एकान्त नहीं है।

उक्त पाँच अतिचार व्रती श्रावक और साधु दोनों के लिए समान हैं; क्योंकि सम्यक्त्व दोनों का साधारण धर्म है। १८।

व्रत और शील के अतिचारों की संख्या और अनुक्रम से उनका वर्णन—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्। १९।

बन्धवधच्छविच्छेदाऽतिभारारोपणाऽन्नपान-
निरोधाः । २० ।

मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासा-
पहारसाकारमन्त्रभेदाः । २१ ।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-
मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः । २२ ।

परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमना-
ऽनङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः । २३ ।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमा-
णातिक्रमाः । २४ ।

उर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि । २५ ।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः । २६ ।

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोप-
भोगाधिकत्वानि । २७ ।

योगदुष्प्रणिधानाऽनादरस्मृत्यनुपस्थापनानि । २८ ।

अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रम-
णाऽनादरस्मृत्यनुपस्थापनानि । २९ ।

सचित्तसंबद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः । ३० ।

सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालाति-
क्रमाः । ३१ ।

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकर-
णानि । ३२ ।

व्रतों और शीलों में पाँच पाँच अतिचार हैं। वे अनुक्रम से इस प्रकार हैं—

बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार का आरोपण और अन्न-पान का निरोध ये पाँच अतिचार प्रथम अणुव्रत के हैं।

मिथ्योपदेश, रहस्याभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये पाँच अतिचार दूसरे अणुव्रत के हैं।

स्तेनप्रयोग, स्तेन-आहृतादान, विरुद्ध राज्य का अतिक्रम, हीन-अधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच तीसरे अणुव्रत के अतिचार हैं।

परविवाहकरण, इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और तीव्रकामाभिनिवेश ये पाँच अतिचार चौथे अणुव्रत के हैं।

क्षेत्र और वस्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दासी-दास के प्रमाण का अतिक्रम, एवं कुप्य के प्रमाण का अतिक्रम ये पाँच अतिचार पाँचवें अणुव्रत के हैं।

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान ये पाँच अतिचार छठे दिग्विरति व्रत के हैं।

आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप ये पाँच अतिचार सातवें देशविरति व्रत के हैं।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्य-अधिकरण और उपभोग का अधिकत्व ये पाँच अतिचार आठवें अनर्थदण्डविरमण व्रत के हैं।

कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृति का अनुपस्थापन ये पाँच अतिचार सामायिकव्रत के हैं।

अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदान-निक्षेप, अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित संस्तार का उपक्रम, अनादर और स्मृति का अनुपस्थापन ये पाँच अतिचार पौषध-व्रत के हैं।

सचित आहार, सचित्तसंबद्ध आहार, सचित्तसंमिश्र आहार, अभिषव आहार और दुष्पक्व आहार ये पाँच अतिचार भोगोपभोग व्रत के हैं।

सचित्त में निक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाँच अतिचार अतिथिसंविभागव्रत के हैं।

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदानकरण ये मारणान्तिक संलेखना के पाँच अतिचार हैं।

जो नियम श्रद्धा और ज्ञान पूर्वक स्वीकार किया जाता है, उसे व्रत कहते हैं। इस अर्थ के अनुसार श्रावक के बारह व्रत व्रत शब्द में आ जाते हैं, फिर भी यहाँ व्रत और शील इन दो शब्दों का प्रयोग करके यह सूचित किया गया है कि चारित्र धर्म के मूल नियम अहिंसा, सत्य आदि पाँच हैं; और दिग्विरमण आदि बाकी के नियम तो इन मूल नियमों की पुष्टि के लिए ही हैं। हरएक व्रत और शील के जो पाँच पाँच अतिचार गिनाए हैं, वे मध्यम दृष्टि से समझने चाहिए; क्योंकि संक्षेप दृष्टि से तो इससे कम भी कल्पित किये जा सकते हैं, एवं विस्तार दृष्टि से पाँच से अधिक भी कहे जा सकते हैं।

चारित्र का मतलब है रागद्वेष आदि विकारों का अभाव साधकर समभाव का परिशीलन करना। चारित्र के इस मूल स्वरूप को सिद्ध करने के लिये अहिंसा, सत्य आदि जो जो नियम व्यावहारिक जीवन में उतारे जाते हैं, वे सभी चारित्र कहलाते हैं। व्यावहारिक जीवन देश, काल आदि की परिस्थिति तथा मनुष्य बुद्धि की संस्कारिता के अनुसार बनता है;

अतः उक्त परिस्थिति और संस्कारिता में परिवर्तन होने के साथ ही जीवन व्यवहार भी बदलता रहता है। यही कारण है कि चारित्र का मूल स्वरूप एक होने पर भी उसके पोषक रूप से स्वीकार किये जाने वाले नियमों की संख्या तथा स्वरूप में परिवर्तन होना अनिवार्य है। इसीलिए श्रावक के व्रत, नियम भी अनेक तरह से भिन्न रूप में शास्त्रों में मिलते हैं और भविष्य में भी परिवर्तन होता ही रहेगा। इतने पर भी यहाँ ग्रन्थकार ने श्रावक धर्म के तेरह ही भेद मानकर उनमें से प्रत्येक के अतिचारों का कथन किया है। जो क्रमशः निम्न प्रकार से हैं—

अहिंसाव्रत के अतिचार

१. किसी भी प्राणी को अपने इष्ट स्थान में जाते हुए रोकना या बाँधना—बन्ध है। डंडा या चाबुक आदि से प्रहार करना वध है। ३. कान, नाक, चमड़ी आदि अवयवों का भेदन या छेदन—छविच्छेद है। ४. मनुष्य या पशु आदि पर उसकी शक्ति से ज्यादा बोझ लादना—अतिभार-आरोपण है। ५. किसी के खानपान में रुकावट डालना—यह अन्नपान का निरोध है। किसी भी प्रयोजन के बिना व्रतधारी गृहस्थ इन दोषों को कदापि सेवन न करे, ऐसा उत्सर्ग मार्ग है; परन्तु घर-गृहस्थी का कार्य आ पड़ने पर विशेष प्रयोजन के कारण यदि इनका सेवन करना ही पड़े, तब भी कोमल भाव से ही काम लेना चाहिए। १९,२०।

सत्यव्रत के अतिचार

१. सच्चा झूठा समझाकर किसी को उल्टे रास्ते डालना मिथ्या उपदेश है। २. राग में आकर विनोद के लिए किसी पति, पत्नी को अथवा तथा अन्य स्नेहियों को अलग कर देना, अथवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोप करना—रहस्याभ्याख्यान है। ३. मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढ़ी करना तथा खोटा सिक्का चलाना आदि कूटलेखक्रिया है। ४. कोई

धरोहर रखकर भूल जाय, तो उसकी भूल का लाभ उठाकर थोड़ी या बहुत धरोहर को हजम कर जाना—न्यासापहार है। ५. आपस में प्रीति टूट जाय, इस खयाल से एक दूसरे की चुगली खाना, या किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना—साकारमंत्रभेद है। २१।

१. *किसी को चोरी करने के लिए स्वयं प्रेरित करना, या दूसरे के द्वारा प्रेरणा दिलाना, अथवा वैसे कार्य में सम्मत होना—स्तेनप्रयोग है।*

अस्तेयव्रत के अतिचार

२. निजी प्रेरणा या सम्मति के बिना कोई चोरी करके कुछ भी लाया हो, उसे ले लेना स्तेन-आहृतादान है। ३. भिन्न-भिन्न राज्य वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कुछ बन्धन लगा देते हैं, अथवा उन पर कर आदि की व्यवस्था कर देते हैं, राज्य के ऐसे नियमों का उल्लंघन करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। ४. न्यूनाधिक नाप, बाँट या तराजू आदि से लेन देन करना हीनाधिक मानोन्मान है। ५. असली के बदले बनावटी वस्तु को चलाना—प्रतिरूपकव्यवहार कहलाता है। २२।

१. निजी संतति के उपरांत कन्यादान के फल की इच्छा से अथवा स्नेह संबन्ध से दूसरे की संतति का विवाह कर देना—परविवाहकरण है।

ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार

२. किसी दूसरे ने अमुक समय तक वेश्या या वैसी साधारण स्त्री को स्वीकार किया हो, तो उसी कालावधि में उस स्त्री का भोग करना इत्वरपरिगृहीतागमन है। ३. वेश्या हो, जिसका पति विदेश गया हो ऐसी स्त्री हो अथवा कोई अनाथ हो या जो किसी पुरुष के कब्जे में न हो, उसका उपभोग करना—अपरिगृहीतागमन है। ४. अस्वाभाविक रीति से जो

---

१. इसके बारे में विशेष व्याख्या के लिए देखो 'जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य-नो विचार' नाम का गुजराती निबन्ध।

सृष्टिविरुद्ध काम का सेवन अनङ्गक्रीड़ा है। ५. बार बार उद्दीपन करके विविध प्रकार से कामक्रीड़ा करना तीव्रकामाभिलाष है। २३।

१. जो जमीन खेती-बाड़ी के लायक हो वह क्षेत्र और जो रहने योग्य हो वह वास्तु; इन दोनों का प्रमाण निश्चित करने के बाद लोभ में आकर उनकी मर्यादा का अतिक्रमण करना क्षेत्रवास्तु प्रमाणातिक्रम है। २. घड़े हुए या बिना घड़े हुए चाँदी और सोने दोनों का व्रत लेते समय जो प्रमाण निश्चित किया हो, उसका उल्लंघन करना हिरण्यसुवर्ण-प्रमाणातिक्रम है। ३. गाय, भैंस आदि पशुरूप धन और गेहूँ बाजरी आदि धान्य के स्वीकृत प्रमाण का उल्लंघन करना धनधान्य-प्रमाणातिक्रम है। ४. नौकर, चाकर आदि कर्मचारी संबन्धी प्रमाण का अतिक्रमण करना दासीदास-प्रमाणातिक्रम है। ५. अनेक प्रकार के बर्तनों और वस्त्रों का प्रमाण निश्चित करने के बाद उनका अतिक्रमण करना कुप्यप्रमाणातिक्रम है। २४।

अपरिग्रह व्रत के अतिचार

१. वृक्ष, पर्वत आदि पर चढ़ने की ऊँचाई का प्रमाण निश्चित करने के बाद लोभ आदि विकार के कारण प्रमाण की मर्यादा का भंग करना ऊर्ध्वव्यतिक्रम है। २, ३. इसी तरह नीचे जाने तथा तिरछा जाने का प्रमाण निश्चित करके उसका मोहवश भङ्ग कर देना अनुक्रम से अधोव्यतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम हैं। ४. भिन्न भिन्न दिशाओं का भिन्न भिन्न प्रमाण स्वीकार करने के बाद कम प्रमाण वाली दिशा में मुख्य प्रसंग आ पड़ने पर दूसरी दिशा के स्वीकृत प्रमाण में से अमुक भाग घटाकर इष्ट दिशा के प्रमाण में वृद्धि कर लेना क्षेत्रवृद्धि है। ५. प्रत्येक नियम के पालन का आधार स्मृति पर है, ऐसा जान कर भी प्रमाद या मोह के कारण नियम के स्वरूप या उसकी मर्यादा को भूल जाना स्मृत्यन्तर्धान है। २५।

दिग्विरमण व्रत के अतिचार

१. जितने प्रदेश का नियम किया हो, उसके बाहर वस्तु की आवश्यकता पड़ने पर स्वयं न आकर संदेश आदि द्वारा दूसरे से उस वस्तु को मँगवा लेना आनयन-प्रयोग है। २. जगह संबन्धी स्वीकृत मर्यादा के बाहर काम पड़ने पर स्वयं न जाना और न दूसरे से ही उस वस्तु को मँगवाना, किन्तु नौकर आदि को आज्ञा दे कर वहाँ बैठे-बिठाए काम करा लेना प्रेष्यप्रयोग है। ३. स्वीकृत मर्यादा के बाहर स्थित व्यक्ति को बुला कर काम कराना हो, तब खाँसी आदि शब्द द्वारा उसे पास आने के लिए सावधान करना शब्दानुपात है। ४. किसी तरह का शब्द न कर के सिर्फ आकृति आदि बतला कर दूसरे को अपने पास आने के लिए सावधान करना रूपानुपात है। ५. कंकड़, ढेला आदि फेंक कर किसी को अपने पास आने के लिए सूचना देना—पुद्गलक्षेप है। २६।

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

१. रागवश असभ्य भाषण तथा परिहास आदि करना कन्दर्प है। २. परिहास व अशिष्ट भाषण के अतिरिक्त भाँड जैसी शारीरिक दुश्चेष्टाएँ करना कौत्कुच्य है। ३. निर्लज्जता से, संबन्ध रहित एवं बहुत बकवाद करना मौखर्य है। ४. अपनी आवश्यकता का विचार किये बिना ही अनेक प्रकार के सावद्य उपकरण दूसरे को उसके काम के लिये दिया करना असमीक्ष्याधिकरण है। ५. अपनी आवश्यकता से अधिक वस्त्र, आभूषण, तेल, चन्दन आदि रखना उपभोगाधिकत्व है। २७।

अनर्थदंडविरमण व्रत के अतिचार

१. हाथ, पैर आदि अंगों को व्यर्थ और बुरी तरह से चलाते रहना कायदुष्प्रणिधान है। २ शब्दसंस्कार रहित तथा अर्थ रहित एवं हानिकारक भाषा बोलना वचनदुष्प्रणिधान है। ३. क्रोध, द्रोह आदि विकारों के वश होकर चिन्तन आदि मनोव्यापार करना मनोदुष्प्रणिधान है।

सामायिक व्रत के अतिचार

४. सामायिक में उत्साह का न होना अर्थात् समय होने पर भी प्रवृत्त न होना अथवा ज्यों त्यों करके प्रवृत्ति करना अनादर है। ५. एकाग्रता का अभाव अर्थात् चित्त के अव्यवस्थित होने से सामायिक की स्मृति का न रहना स्मृति का अनुपस्थापन है। २८।

पौषध व्रत के अतिचार

१. कोई जीव है या नहीं, ऐसा आँखों से बिना देखे, एवं कोमल उपकरण से प्रमार्जन किये बिना ही जहाँ तहाँ मल, मूत्र, श्लेष्म आदि का त्याग करना यह अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित में उत्सर्ग है। २. इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किये बिना ही लकड़ी, चौकी आदि वस्तुओं को लेना व रखना अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदाननिक्षेप है। ३. प्रत्यवेक्षण एवं प्रमार्जन किये बिना ही संथारा—बिछौना करना या आसन बिछाना अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित संस्तार का उपक्रम है। ४. पौषध में उत्साहरहित ज्यों त्यों करके प्रवृत्ति करना अनादर है। ५. पौषध कब और कैसे करना या न करना, एवं किया है या नहीं इत्यादि का स्मरण न रहना स्मृत्यनुपस्थापन है। २९।

भोगोपभोग व्रत के अतिचार

१. किसी भी तरह की वनस्पति आदि सचेतन पदार्थ का आहार करना सचित्त-आहार है। २. कठिन बीज या गुठली आदि सचेतन पदार्थ से युक्त बेर या आम आदि पके हुए फलों को खाना सचित्तसंबद्ध आहार है। ३. तिल, खसखस आदि सचित्त वस्तु से मिश्रित लड्डू आदि का भोजन अथवा चींटी, कुंथु आदि से मिश्रित वस्तु को खाना सचित्तसंमिश्र आहार है। ४. किसी भी किस्म के एक मादक द्रव्य का सेवन करना अथवा विविध द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न मद्य आदि रस का सेवन करना अभिषव आहार है। ५. अधपके या ठीक न पके हुए को खाना दुष्पक्व आहार है। ३०।

१. खान-पान की देने योग्य वस्तु को काम में न आ सके ऐसी बना देने की बुद्धि से किसी सचेतन वस्तु में रख देना सचित्तनिक्षेप है। २. इसी प्रकार देय वस्तु को सचेतन वस्तु से ढाँक देना सचित्तपिधान है। ३. अपनी देय वस्तु को 'यह दूसरे की है' ऐसा कह कर उसके दान से अपने आपको मानपूर्वक बचा लेना परव्यपदेश है। ४. दान देते हुए भी आदर न रखना अथवा दूसरे के दानगुण की ईर्ष्या से दान देने के लिए तैयार होना— मात्सर्य है। ५. किसी को कुछ देना न पड़े इस आशय से भिक्षा का समय न होने पर भी खा-पी लेना कालातिक्रम है। २१।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार

१. पूजा, सत्कार आदि विभूति देखकर उनके लालच में आकर जीवन को चाहना जीविताशंसा है। २. सेवा, सत्कार आदि करने के लिए किसी को पास आते न देखकर उद्वेग के कारण मृत्यु को चाहना मरणाशंसा है। ३. मित्रों पर या मित्रतुल्य पुत्रादि पर स्नेह-बन्धन रखना मित्रानुराग है। ४. अनुभूत सुखों का स्मरण करके उन्हें ताजा बनाना सुखानुबन्ध है। तप व त्याग का बदला किसी भी तरह के भोग के रूप में चाहना निदानकरण है।

संलेखना व्रत के अतिचार

ऊपर जो अतिचार कहे गए हैं, उन सभी का यदि जानबूझकर अथवा वक्रता से सेवन किया जाय, तब तो वे व्रत के खण्डन रूप होकर अनाचार कहलाएँगे, और यदि भूल से असावधानी के कारण सेवन किये जायँ, तब वे अतिचार होंगे। २२।

दान का वर्णन—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्। २३।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः । ३४ ।

अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है ।

विधि, देयवस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता से दान की विशेषता है ।

दानधर्म जीवन के समग्र सद्गुणों का मूल है; अतः उसका विकास पारमार्थिक दृष्टि से अन्य सद्गुणों के उत्कर्ष का आधार है, और व्यवहार दृष्टि से मानवी व्यवस्था के सामंजस्य का आधार है ।

दान का मतलब है न्यायपूर्वक प्राप्त हुई वस्तु का दूसरे के लिए अर्पण करना । यह अर्पण करने वाले कर्ता और स्वीकार करने वाले दोनों का उपकारक होना चाहिए । अर्पण करने वाले का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु पर से उसकी ममता हट जाय, और इस तरह उसे सन्तोष और समभाव की प्राप्ति हो । स्वीकार करने वाले का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसकी जीवनयात्रा में मदद मिले, और परिणाम-स्वरूप उसके सद्गुणों का विकास हो ।

सभी दान, दानरूप से एक जैसे होने पर भी उनके फल में तरतम-भाव रहता है । यह तरतमभाव दानधर्म की विशेषता के कारण होता है । और यह विशेषता मुख्यतया दानधर्म के चार अङ्गों की विशेषता के अनुसार होती है । इन चार अङ्गों की विशेषता निम्न प्रकार वर्णन की गई है ।

१. विधि की विशेषता — विधि की विशेषता में देश, काल का औचित्य और लेने वाले के सिद्धान्त को बाधा न पहुँचे ऐसी कल्पनीय वस्तु का अर्पण, इत्यादि बातों का समावेश होता है ।

द्रव्य की विशेषता में दी जाने वाली वस्तु के गुणों का समावेश होता है । जिस वस्तु का दान किया जावे, वह लेने वाले पात्र की

२. द्रव्य की विशेषता जीवनयात्रा में पोषक हो कर परिणामतः उसके निजी गुणविकास में निमित्त बननेवाली होनी चाहिए।

३. दाता की विशेषता दाता की विशेषता में लेने वाले पात्र के प्रति श्रद्धा का होना, उसकी तरफ तिरस्कार या असूया का न होना, तथा दान देते समय या बाद में विषाद न करना, इत्यादि दाता के गुणों का समावेश होता है।

४. पात्र की विशेषता दान लेने वाले का सत्पुरुषार्थ के लिए ही जागरूक रहना पात्र की विशेषता है। ३३, ३४।

आठवाँ अध्याय

आस्रव के वर्णन के प्रसंग में व्रत और दान का वर्णन करके अब बन्धतत्त्व का वर्णन किया जाता है।

बन्धहेतुओं का निर्देश–

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः। १।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच बन्ध के हेतु हैं।

बन्ध के स्वरूप का वर्णन अगले सूत्र में किया जाने वाला है। यहाँ तो उसके हेतुओं का ही निर्देश है। बन्ध के हेतुओं की संख्या के बारे में तीन परंपराएँ देखने में आती हैं। एक परंपरा के अनुसार कषाय और योग ये दोनों ही बन्धहेतु हैं। दूसरी परंपरा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्धहेतुओं की है। तीसरी परंपरा उक्त चार हेतुओं में प्रमाद को बढ़ाकर पाँच बन्धहेतुओं का वर्णन करती है। इस तरह से संख्या और उसके कारण नामों में भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन परंपराओं में कोई भेद नहीं है। प्रमाद एक तरह का असंयम ही तो है, अतः वह अविरति या कषाय के अन्तर्गत ही है; इसी दृष्टि से कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों में सिर्फ चार बन्धहेतु कहे गए हैं। बारीकी से देखने पर मिथ्यात्व और असंयम ये दोनों कषाय के स्वरूप से अलग नहीं पड़ते, अतः कषाय और योग इन दोनों को ही बन्धहेतु गिनाना प्राप्त होता है।

प्र०–यदि सचमुच ऐसा ही है, तब प्रश्न होता है कि उक्त संख्या-भेद की विभिन्न परंपराओं का आधार क्या है?

उ०—कोई भी कर्मबन्ध हो, उस समय उसमें ज्यादा से ज्यादा जिन चार अंशों का निर्माण होता है, उनके अलग अलग कारण रूप से कषाय और योग ये दोनों ही हैं; क्योंकि प्रकृति एवं प्रदेश रूप अंशों का निर्माण तो योग से होता है, और स्थिति एवं अनुभागरूप अंशों का निर्माण कषाय से होता है। इस प्रकार एक ही कर्म में उत्पन्न होने वाले उक्त चार अंशों के कारणों का विश्लेषण करने के विचार से शास्त्र में कषाय और योग इन दो बन्धहेतुओं का कथन किया गया है; और आध्यात्मिक विकास की चढ़ाव उतार वाली भूमिका स्वरूप गुणस्थानों में बँधने वाली कर्म प्रकृतियों के तरतमभाव के कारण को बतलाने के लिए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्धहेतुओं का कथन किया गया है। जिस गुणस्थान में उक्त चार में से जितने अधिक बन्धहेतु होंगे, उस गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी उतना ही अधिक होगा; और जहाँ पर ये बन्धहेतु कम होंगे, वहाँ पर कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी कम ही होगा। इस तरह मिथ्यात्व आदि चार हेतुओं के कथन की परंपरा अलग अलग गुणस्थानों में तरतमभाव को प्राप्त होने वाले कर्मबन्ध के कारण का खुलासा करने के लिए है; और कषाय एवं योग इन दो हेतुओं के कथन की परंपरा किसी भी एक ही कर्म में संभावित चार अंशों के कारण का पृथक्करण करने के लिए है। पाँच बन्धहेतुओं की परंपरा का आशय तो चार की परंपरा से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है, और यदि हो भी, तो वह इतना ही कि जिज्ञासु शिष्यों को बन्धहेतुओं का विस्तार से ज्ञान कराने के लिये।

बन्धहेतुओं की व्याख्या—

मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्यादर्शन, जो सम्यग्दर्शन से उलटा होता है। सम्यग्दर्शन—वस्तु का तात्त्विक श्रद्धान होने से विपरीतदर्शन दो तरह

मिथ्यात्व

का फलित होता है। पहला वस्तुविषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और दूसरा वस्तु का अयथार्थ श्रद्धान। पहले और दूसरे में फर्क इतना ही है कि पहला बिल्कुल मूढ़ दशा में भी हो सकता है, जबकि दूसरा विचारदशा में ही होता है। विचारशक्ति का विकास होने पर भी जब अभिनिवेश के कारण किसी एक ही दृष्टि को पकड़ लिया जाता है, तब विचारदशा के रहने पर भी अतत्त्व में पक्षपात होने से वह दृष्टि मिथ्यादर्शन कहलाती है; यह उपदेशजन्य होने से अभिगृहीत कही जाती है। जब विचारदशा जागरित न हुई हो, तब अनादिकालीन आवरण के भार के कारण सिर्फ मूढ़ता होती है, उस समय जैसे तत्त्व का श्रद्धान नहीं होता, वैसे अतत्त्व का भी श्रद्धान नहीं होता, इस दशा में सिर्फ मूढ़ता होने से तत्त्व का अश्रद्धान कह सकते हैं। वह नैसर्गिक–उपदेशनिरपेक्ष होने से अनभिगृहीत कहा गया है। दृष्टि या पन्थ संबन्धी जितने भी ऐकान्तिक कदाग्रह हैं, वे सभी अभिगृहीत मिथ्यादर्शन हैं, जो कि मनुष्य जैसी विकसित जाति में हो सकते हैं; और दूसरा अनभिगृहीत तो कीट, पतंग आदि जैसी मूर्छित चेतना वाली जातिओं में ही संभव है।

अविरति, प्रमाद

अविरति अर्थात् दोषों से विरत न होना। प्रमाद का मतलब है आत्मविस्मरण अर्थात् कुशल कार्यों में आदर न रखना; कर्तव्य, अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना।

कषाय, योग

कषाय अर्थात् समभाव की मर्यादा का तोड़ना। योग का अर्थ है मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति,

छठे अध्याय में वर्णित तत्प्रदोष आदि बन्धहेतुओं और यहाँ पर बतलाये हुए मिथ्यात्व आदि बन्धहेतुओं में अन्तर इतना ही है कि तत्प्रदोषादि प्रत्येक कर्म के खास खास बन्धहेतु होने से विशेषरूप हैं, जबकि मिथ्यात्व आदि तो समस्त कर्मों के समान बन्धहेतु होने से सामान्य हैं।

मिथ्यात्व से लेकर योग तक के पाँचों हेतुओं में से जहाँ पूर्व-पूर्व के बन्धहेतु होंगे, वहाँ उसके बाद के भी सभी होंगे, ऐसा नियम है; जैसे कि मिथ्यात्व के होने पर अविरति आदि चार और अविरति के होने पर प्रमाद आदि बाकी के तीन अवश्य होंगे। परन्तु जब उत्तर होगा, तब पूर्व बन्धहेतु हो, और न भी हो; जैसे अविरति के होने पर पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व होगा, परन्तु दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नहीं रहता। इसी तरह दूसरे में भी समझ लेना चाहिए। १।

बन्ध का स्वरूप—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते । २ ।

स बन्धः । ३ ।

कषाय के संबन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है।

वह बन्ध कहलाता है।

पुद्गल की वर्गणाएँ—(प्रकार) अनेक हैं। उनमें से जो वर्गणाएँ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं, जीव उन्हीं को ग्रहण करके निज आत्मप्रदेशों के साथ विशिष्ट रूप से जोड़ देता है; अर्थात् स्वभाव से जीव अमूर्त होने पर भी अनादिकाल से कर्मसंबन्ध वाला होने से मूर्तवत् हो जाने के कारण मूर्त कर्मपुद्गलों का ग्रहण करता है। जैसे दीपक बत्ती द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला रूप में परिणत कर लेता है; वैसे ही जीव काषायिक विकार से योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें कर्मरूप में परिणत कर लेता है। आत्मप्रदेशों के साथ कर्मरूप परिणत को प्राप्त पुद्गलों का यह संबन्ध ही बन्ध कहलाता है।

ऐसे बन्ध में मिथ्यात्व आदि अनेक निमित्त होते हैं, फिर भी यहाँ पर जो यह कहा गया है कि कषाय के संबन्ध से पुद्गलों का ग्रहण होता है, वह अन्य हेतुओं की अपेक्षा कषाय की प्रधानता प्रदर्शित करने के लिए ही है। २, ३।

बन्ध के प्रकार–

प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः। ४।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश ये चार उसके—बन्ध के प्रकार हैं।

कर्मपुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किये जाने पर कर्मरूप परिणाम को प्राप्त होते हैं, इसका अर्थ इतना ही है कि उसी समय उसमें चार अंशों का निर्माण होता है; वे अंश ही बन्ध के प्रकार हैं। उदाहरणार्थ; जब बकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाया हुआ घास वगैरह दूध रूप में परिणत होता है, तब उसमें मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है; वह स्वभाव अमुक समय तक उसी रूप में टिक सके ऐसी कालमर्यादा उसमें निर्मित होती है; इस मधुरता में तीव्रता, मन्दता आदि विशेषताएँ भी होती हैं; और इस दूध का पौद्गलिक परिणाम भी साथ ही बनता है; इसी तरह जीव द्वारा ग्रहण होकर उसके प्रदेशों में संश्लेष को प्राप्त हुए कर्मपुद्गलों में भी चार अंशों का निर्माण होता है। वे अंश ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश हैं।

१. कर्मपुद्गलों में जो ज्ञान को आवरण करने, दर्शन को रोकने, सुख-दुःख देने आदि का स्वभाव बनता है, वही स्वभावनिर्माण प्रकृतिबन्ध है। २. स्वभाव बनने के साथ ही उस स्वभाव से अमुक समय तक च्युत न होने की मर्यादा भी पुद्गलों में निर्मित होती है, यह कालमर्यादा का निर्माण ही स्थितिबन्ध है। ३. स्वभावनिर्माण के साथ ही उसमें तीव्रता

मन्दता आदि रूप में फलानुभव करानेवाली विशेषताएँ बँधती हैं, ऐसी विशेषता ही अनुभावबन्ध है। ४. ग्रहण किये जाने पर भिन्न भिन्न स्वभाव में परिणत होने वाली कर्मपुद्गलराशि स्वभावानुसार अमुक अमुक परिमाण में बँट जाती है—यह परिमाणविभाग ही प्रदेशबन्ध कहलाता है।

बन्ध के इन चार प्रकारों में से पहला और अन्तिम दोनों योग के आश्रित हैं; क्योंकि योग के तरतमभाव पर ही प्रकृति और प्रदेश बन्ध का तरतमभाव अवलंबित है। दूसरा और तीसरा प्रकार कषाय के आश्रित है, कारण यह कि कषाय की तीव्रता, मन्दता पर ही स्थिति और अनुभाव बन्ध की अधिकता या अल्पता अवलंबित है। ४।

मूलप्रकृति भेदों का नाम निर्देश—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनाम-गोत्रान्तरायाः । ५ ।

पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अन्तराय रूप है।

अध्यवसाय विशेष से जीव द्वारा एक ही बार में ग्रहण की हुई कर्मपुद्गलराशि में एक ही साथ आध्यवसायिक शक्ति की विविधता के अनुसार अनेक स्वभावों का निर्माण होता है। वे स्वभाव अदृश्य हैं, फिर भी उनका परिगणन सिर्फ उनके कार्य अर्थात् प्रभाव को देख कर कर सकते हैं। एक या अनेक जीवों पर होने वाले कर्म के असंख्य प्रभाव अनुभव में आते हैं। इन प्रभावों के उत्पादक स्वभाव भी वास्तव में असंख्यात ही हैं। ऐसा होने पर भी थोड़े में वर्गीकरण करके उन सभी को आठ भागों में बाँट दिया गया है। यही मूलप्रकृतिबन्ध कहलाता है। इन्हीं आठ मूलप्रकृति भेदों का निर्देश यहाँ किया है; जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अन्तराय।

१. जिसके द्वारा ज्ञान–विशेषबोध का आवरण हो वह ज्ञानावरण। २. जिसके द्वारा दर्शन—सामान्यबोध का आवरण हो वह दर्शनावरण। ३. जिससे सुख या दुःख का अनुभव हो वह वेदनीय। ४. जिससे आत्मा मोह को प्राप्त हो वह मोहनीय। ५. जिससे भव धारण हो वह आयुष्क। ६. जिससे विशिष्ट गति, जाति आदि की प्राप्ति हो वह नाम। ७. जिससे ऊँचपन या नीचपन मिले वह गोत्र। ८. जिससे देने, लेने आदि में विघ्न पड़े वह अन्तराय।

कर्म के विविध स्वभावों को संक्षिप्त दृष्टि से पूर्वोक्त आठ भागों में बाँट देने पर भी विस्तृतरुचि जिज्ञासुओं के लिए मध्यम मार्ग का अवलंबन करके उन आठ के पुनः दूसरे प्रकार वर्णन किये हैं, जो उत्तरप्रकृति के भेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे उत्तरप्रकृति भेद ९७ हैं, वे मूलप्रकृति के क्रम से आगे क्रमशः दरसाये गए हैं। ५।

उत्तरप्रकृति भेदों की संख्या और नामनिर्देश–

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम्। ६।

मत्यादीनाम्। ७।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च। ८।

सदसद्वेद्ये। ९।

दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः। १०।

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि । ११ ।

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेयशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च । १२ ।

उच्चैर्नीचैश्च । १३ ।

दानादीनाम् । १४ ।

आठ मूलप्रकृतियों के अनुक्रम से पाँच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच भेद हैं।

मति आदि पाँच-ज्ञानों के आवरण ही पाँच ज्ञानावरण हैं।

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चारों के आवरण; तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच वेदनीय ये नव दर्शनावरणीय हैं।

प्रशस्त—सुखवेदनीय और अप्रशस्त—दुःखवेदनीय ये दो वेदनीय हैं।

दर्शनमोह, चारित्रमोह, कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय इन के अनुक्रम से तीन, दो, सोलह और नव भेद हैं; जैसे—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, तदुभय—सम्यक्त्वमिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीय। कषाय और नोकषाय ये दो चारित्रमोहनीय हैं। जिनमें से क्रोध, मान, माया और लोभ ये प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन रूप से चार चार प्रकार के होने से सोलह भेद कषायचारित्रमोहनीय के बनते हैं; तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नव नोकषायचारित्रमोहनीय हैं।

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार आयु हैं।

गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति; और प्रतिपक्ष सहित अर्थात् साधारण और प्रत्येक, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयश और यश; एवं तीर्थंकरत्व बयालीस प्रकार नामकर्म हैं।

उच्च और नीच ऐसे दो प्रकार गोत्रकर्म के होते हैं।

दान आदि के पाँच अन्तराय हैं।

ज्ञानावरण कर्म की पाँच और दर्शनावरण की नव प्रकृतियाँ

१. मति आदि पाँच ज्ञान और चक्षुर्दर्शन आदि चार दर्शनों का वर्णन किया जा चुका है; उनमें से प्रत्येक को आवरण करनेवाले स्वभाव से युक्त कर्म अनुक्रम से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण इस तरह ये पाँच ज्ञानावरण हैं; तथा चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार दर्शनावरण हैं। उक्त चार के उपरांत अन्य भी पाँच दर्शनावरण हैं, जो निम्न प्रकार हैं—जिस कर्म के उदय से सुखपूर्वक जाग सके ऐसी निद्रा आवे तो वह निद्रावेदनीय दर्शनावरण है। २. जिस के उदय से निद्रा से जागना अत्यन्त दुष्कर हो वह निद्रानिद्रावेदनीय दर्शनावरण है। ३. जिस कर्म के उदय से बैठे बैठे या खड़े खड़े ही नींद आ जावे वह प्रचलावेदनीय है। ४. जिस कर्म के उदय से

---

१. देखो अ० १, सूत्र ९ से ३३ और अ० २, सू० ९

चलते-चलते ही नींद आ जाय वह प्रचलाप्रचलावेदनीय है। ५. जिस कर्म के उदय से जागरित अवस्था में सोचे हुए काम को निद्रावस्था में करने का ही सामर्थ्य प्रकट हो जाय वह स्त्यानगृद्धि है; इस निद्रा में सहज बल से कहीं अनेकगुण अधिक बल प्रकट होता है। ७,८।

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ

१. जिसके उदय से प्राणी को सुख का अनुभव हो वह सातावेदनीय; और २. जिसके उदय से प्राणी को दुःख का अनुभव हो वह असातावेदनीय। ९।

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ

१. जिसके उदय से तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि न हो वह मिथ्यात्वमोहनीय। २. जिसके उदय समय में यथार्थता की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे वह मिश्रमोहनीय। ३. जिसका उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिकभाव वाली तत्त्वरुचि का प्रतिबन्ध करता है वह सम्यक्त्वमोहनीय है।

चरित्रमोहनीय के पच्चीस प्रकार—

सोलह कषाय

क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय के चार मुख्य प्रकार हैं। प्रत्येक की तीव्रता के तरतमभाव की दृष्टि से उनके चार चार प्रकार बतलाये गए हैं। जो कर्म उक्त क्रोध आदि चार कषायों को इतना अधिक तीव्र बना देता है जिसके कारण जीव को अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करना पड़े, वह कर्म अनुक्रम से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ कहलाता है। जिन कर्मों के उदय से आविर्भाव को प्राप्त कषाय सिर्फ इतने ही तीव्र हों, जो कि विरति का ही प्रतिबन्ध कर सकें, वे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ कहलाते हैं। जिसका विपाक देशविरति का प्रतिबन्ध न

करके सिर्फ सर्वविरति का ही प्रतिबन्ध करे, वे प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। जिनके विपाक की तीव्रता सर्वविरति का प्रतिबन्ध तो न कर सके, लेकिन उसमें स्खलन और मालिन्य ही पैदा कर सके, वे संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ हैं।

नव नोकषाय

१. हास्य की उत्पादक प्रकृतिवाला कर्म हास्यमोहनीय है। २-३. कहीं प्रीति और कहीं अप्रीति को पैदा करने वाले कर्म अनुक्रम से रतिमोहनीय और अरतिमोहनीय कहलाते हैं। ४. भयशीलता का जनक भयमोहनीय ५. शोकशीलता का जनक शोकमोहनीय और, ६. घृणाशीलता का जनक जुगुप्सामोहनीय कहलाता है। ७. स्त्रैणभाव के विकार को पैदा करने वाला स्त्रीवेद। ८. पौरुषभाव के विकार को पैदा करने वाला पुरुषवेद और ९. नपुंसकभाव के विकार का उत्पादक कर्म नपुंसकवेद कहलाता है। ये नव ही मुख्य कषाय के सहचारी एवं उद्दीपक होने से नोकषाय कहलाते हैं। १०।

आयुष्कर्म के चार प्रकार

जिसके उदय से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक गति का जीवन बिताना पड़ता है, वे अनुक्रम से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक के आयुष्य हैं। ११।

नाम कर्म की बयालीस प्रकृतियाँ–

–विविध नाम–

चौदह पिण्डप्रकृतियाँ

१. सुख, दुःख भोगने के योग्य पर्यायविशेष स्वरूप देवादि चार गतियों को प्राप्त कराने वाला कर्म गति है। २. एकेन्द्रियत्व से लेकर पंचेन्द्रियत्व तक समान परिणाम को अनुभव कराने वाला कर्म जाति। ३. औदारिक आदि शरीर प्राप्त कराने वाला कर्म शरीर। ४. शरीरगत अङ्गों और उपाङ्गों का निमित्तभूत कर्म अङ्गोपाङ्गनाम। ५-६. प्रथम गृहीत औदारिक आदि

पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों का जो कर्म संबन्ध कराता है वह बन्धन है और बद्धपुद्गलों को शरीर के नानाविध आकारों में व्यवस्थित करने वाला कर्म संघात है। ७-८. अस्थिबन्ध की विशिष्ट रचना रूप संहनन और शरीर की विविध आकृतियों का निमित्त कर्म संस्थान। ९-१२. शरीर गत श्वेत आदि पाँच वर्ण, सुरभि आदि दो गन्ध, तिक्त आदि पाँच रस शीत आदि आठ स्पर्श– इनके नियामक कर्म अनुक्रम से वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम और स्पर्शनाम। १३. विग्रह द्वारा जन्मान्तर गमन के समय जीवको आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार गमन कराने वाला कर्म आनुपूर्वीनाम। १४. प्रशस्त और अप्रशस्त गमन का नियामक कर्म विहायोगतिनाम है। ये चौदह पिण्डप्रकृतियाँ कहलाती हैं, इनके अवान्तर भेद भी होते हैं, इसीलिए इस प्रकार नामकरण है।

विविध नाम कर्म प्रकृतियाँ–

त्रसदशक और स्थावरदशक

१, २. जिस कर्म के उदय से स्वतन्त्रभाव से गमन करने की शक्ति प्राप्त हो वह त्रसनाम, और इससे उलटा जिसके उदय से वैसी शक्ति न हो वह स्थावरनाम। ३,४. जिसके उदय से जीवों के चर्मचक्षु गोचर बादर शरीर की प्राप्ति हो वह बादर; इसके विपरीत जिससे चर्मचक्षु के अगोचर सूक्ष्म-शरीर की प्राप्ति हो वह सूक्ष्म। ५,६. जिसके उदय से प्राणी स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण करे वह पर्याप्त, इससे उलटा जिसके उदय से स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न कर सके वह अपर्याप्त। ७,८. जिसके उदय से जीव को भिन्न-भिन्न शरीर की प्राप्ति हो वह प्रत्येक, और जिसके उदय से अनन्त जीवों का एक ही साधारण शरीर हो वह साधारण। ९,१०. जिसके उदय से हड्डी, दाँत आदि स्थिर अवयव प्राप्त हों वह स्थिर और जिसके उदय से जिह्वा आदि अस्थिर अवयव प्राप्त हों वह अस्थिर।

११, १२. जिसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव प्रशस्त हों वह शुभ और जिससे नाभिके नीचे के अवयव अप्रशस्त हों वह अशुभ। १३, १४. जिसके उदय से जीवका स्वर श्रोता को प्रीति उत्पन्न करे वह सुस्वर और जिससे श्रोता को अप्रीति उत्पन्न करे वह दुःस्वर। १५, १६. जिसके उदय से कोई उपकार न करने पर भी सबके मन को प्रिय लगे वह सुभग और जिसके उदय से उपकार करने पर भी सब को प्रिय न लगे वह दुर्भग। १७, १८. जिसके उदय से वचन बहुमान्य हो वह आदेय और जिसके उदय से वैसा न हो वह अनादेय। १९, २०. जिसके उदय से दुनिया में यश व कीर्ति प्राप्त हो वह यशःकीर्ति और जिसके उदय से यश व कीर्ति प्राप्त न हो वह अयशःकीर्ति कहलाता है।

१. जिसके उदय से शरीर गुरु या लघु परिणाम को न पाकर अगुरुलघु रूप से परिणत होता है वह कर्म अगुरुलघु। २. प्रतिजिह्वा, चोरदन्त, रसौली आदि उपघातकारी अवयवों को प्राप्त कराने वाला कर्म उपघात। ३. दर्शन या वाणी से दूसरे को निष्प्रभ कर दे ऐसी दशा प्राप्त कराने वाला कर्म पराघात। ४. श्वास लेने, छोड़ने की शक्ति का नियामक श्वासोच्छ्वास। ५, ६. अनुष्ण शरीर में उष्ण प्रकाश का नियामक कर्म आतप और शीत प्रकाश का नियामक कर्म उद्योत। ७. शरीर में अङ्ग-प्रत्यङ्गों को यथोचित स्थान में व्यवस्थित करने वाला निर्माण। ८. धर्म, तीर्थ प्रवर्तने की शक्ति अर्पित करने वाला कर्म तीर्थंकर है। १२।

आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ

प्रतिष्ठा प्राप्त हो ऐसे कुल में जन्म दिलाने वाला कर्म उच्चगोत्र और शक्ति रहने पर भी प्रतिष्ठा न मिल सके ऐसे कुल में जन्मदाता कर्म नीचगोत्र कहलाता है। १३।

अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ

जो कर्म कुछ भी देने, लेने, एक बार या बार बार भोगने और सामर्थ्य में अन्तराय—विघ्न खड़ा कर देते हैं, वे क्रमशः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्म कहलाते हैं। १४।

स्थितिबन्ध का वर्णन—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटी-कोट्यः परा स्थितिः । १५ ।

सप्ततिर्मोहनीयस्य । १६ ।

नामगोत्रयोर्विंशतिः । १७ ।

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य । १८ ।

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य । १९ ।

नामगोत्रयोरष्टौ । २० ।

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् । २१ ।

पहली तीन प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय तथा अन्तराय—इन चार की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटी कोटी सागरोपम प्रमाण है।

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटीकोटी सागरोपम प्रमाण है।

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटी कोटी सागरोपम प्रमाण है।

आयुष्क की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम प्रमाण है।

वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त प्रमाण है।

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त प्रमाण है।

बाकी के पाँच अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय और आयुष्य की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

प्रत्येक कर्म की जो उत्कृष्ट स्थिति दरसाई गई है, उसके अधिकारी मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव होते हैं; जघन्य स्थिति के अधिकारी भिन्न भिन्न होते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छहों की जघन्य स्थिति सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में संभव है। मोहनीय की जघन्य स्थिति नौवें अनिवृत्तिबादरसंपराय नामक गुणस्थान में संभव है। और आयुष्य की जघन्य स्थिति संख्यात-वर्षजीवी तिर्यंच और मनुष्य में संभव है। मध्यमस्थिति के असंख्यात प्रकार होते हैं और उनके अधिकारी भी काषायिक परिणाम के तारतम्य के अनुसार असंख्यात होते हैं। १५–२१।

अनुभावबन्ध का वर्णन–

विपाकोऽनुभावः। २२।

स यथानाम। २३।

ततश्च निर्जरा। २४।

विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति ही अनुभाव कहलाती है।

अनुभाव भिन्न भिन्न कर्म की प्रकृति अथवा स्वभाव के अनुसार वेदन किया जाता है।

उससे अर्थात् वेदन से निर्जरा होती है।

अनुभाव और उसके बन्ध का पृथक्करण

बन्धनकाल में उसके कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्र-मन्द भाव के अनुसार प्रत्येक कर्म में तीव्र-मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है यह फल देने का सामर्थ्य ही अनुभाव है और उसका निर्माण ही अनुभावबन्ध है।

अनुभाव अवसर आने पर ही फल देता है; परन्तु इस बारे में इतना जान लेना चाहिए कि प्रत्येक अनुभाव—फलप्रद शक्ति स्वयं जिस कर्म में निष्ठ हो, उसी कर्म के स्वभाव अर्थात् प्रकृति के अनुसार ही फल देती है, दूसरे कर्म के स्वभावानुसार नहीं। उदाहरणार्थ, ज्ञानावरण कर्म का अनुभाव उस कर्म के स्वभावानुसार ही तीव्र या मन्द फल उत्पन्न करता है अर्थात् वह ज्ञान को आवृत्त करने का ही काम करता है; लेकिन दर्शनावरण, वेदनीय आदि अन्य कर्म के स्वभावानुसार फल नहीं देता; सारांश यह है कि वह न तो दर्शनशक्ति को आवृत करता है और न सुख दुःख के अनुभव आदि कार्य को ही उत्पन्न करता है। इसी तरह दर्शनावरण का अनुभाव दर्शन शक्ति को तीव्र या मन्द रूप से आवृत करता है, लेकिन ज्ञान के आच्छादन आदि अन्य कर्मों के कार्यों को नहीं करता।

अनुभाव के फल देने का प्रकार

कर्म के स्वभावानुसार विपाक के अनुभावबन्ध का नियम भी मूलप्रकृतियों में ही लागू होता है, उत्तर प्रकृतियों में नहीं। कारण यह है कि किसी भी कर्म की एक उत्तरप्रकृति बाद में अध्यवसाय के बल से उसी कर्म की दूसरी उत्तरप्रकृति के रूप में बदल सकती है, जिससे पहली का अनुभाव परिवर्तित उत्तरप्रकृति के स्वभावानुसार तीव्र या मन्द फल प्रदान करता है। जैसे—मतिज्ञानावरण जब श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय उत्तरप्रकृति के रूप में संक्रमण करता है, तब मतिज्ञानावरण का अनुभाव भी श्रुतज्ञानावरण आदि के स्वभावानुसार ही श्रुतज्ञान या अवधि आदि ज्ञान को आवृत करने का काम करता है। लेकिन, उत्तरप्रकृतियों में कितनी ही ऐसी हैं, जो सजातीय होने पर भी परस्पर संक्रमण नहीं करतीं; जैसे—दर्शनमोह और चारित्रमोह इनमें से दर्शनमोह, चारित्रमोह के रूप में अथवा चारित्रमोह दर्शनमोह के रूप में संक्रमण नहीं करता। इसी

तरह नारकआयुष्क तिर्यंचआयुष्क के रूप में अथवा किसी अन्य आयुष्क के रूप में भी संक्रमण नहीं करता।

प्रकृतिसंक्रम की तरह ही बन्धकालीन रस और स्थिति में भी बाद में अध्यवसाय के कारण से परिवर्तन हो सकता है; तीव्ररस मन्द और मन्दरस तीव्र बन सकता है। इसी प्रकार स्थिति भी उत्कृष्ट से जघन्य और जघन्य से उत्कृष्ट बन सकती है।

अनुभाव के अनुसार कर्म का तीव्र या मन्द फल का वेदन हो जाने पर वह कर्म आत्मप्रदेशों से अलग पड़ जाता है, अर्थात् फिर संलग्न नहीं रहता। यही कर्मनिवृत्ति—निर्जरा कहलाती है। कर्म की निर्जरा जैसे उसके फल वेदन से होती है, वैसे बहुधा तप से भी होती है। तप के बल से अनुभावानुसार फलोदय के पहले ही कर्म आत्मप्रदेशों से अलग पड़ सकते हैं। यह बात सूत्र में 'च' शब्द रखकर सूचित की गई है। २२-२४।

फलोदय के बाद मुक्त कर्म की दशा

प्रदेशबन्ध का वर्णन—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढ-स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः। २५।

कर्म (प्रकृति) के कारणभूत सूक्ष्म, एकक्षेत्र को अवगाहन करके रहे हुए तथा अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गल योगविशेष से सभी ओर से सभी आत्मप्रदेशों में बन्ध को प्राप्त होते हैं।

प्रदेशबन्ध यह एक प्रकार का संबन्ध है, और उस संबन्ध के कर्मस्कन्ध और आत्मा ये दो आधार हैं। अतः इनके बारे में जो आठ प्रश्न पैदा होते हैं, उन्हीं का उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। वे प्रश्न इस प्रकार हैं—

१. जब कर्मस्कन्धों का बन्ध होता है, तब उनमें से क्या बनता है? अर्थात् उनमें निर्माण क्या होता है? २. इन स्कन्धों का ऊँचे, नीचे या तिरछे किन आत्मप्रदेशों द्वारा ग्रहण होता है? ३. सभी जीवों का कर्मबन्ध समान होता है, या असमान? यदि असमान होता है तो वह किस कारण से? ४. वे कर्मस्कन्ध स्थूल होते हैं या सूक्ष्म? ५. जीव-प्रदेशवाले क्षेत्र में रहे हुए कर्मस्कन्धों का ही जीवप्रदेश के साथ बन्ध होता है या उससे भिन्न क्षेत्र में रहे हुये का भी? ६. वे बन्ध के समय गतिशील होते हैं या स्थितिशील? ७. उन कर्मस्कन्धों का संपूर्ण आत्म-प्रदेशों में बन्ध होता है या कुछ एक आत्मप्रदेशों में? ८. वे कर्मस्कन्ध संख्यात, असंख्यात, अनन्त या अनन्तानन्त में से कितने प्रदेश वाले होते हैं?

इन आठों प्रश्नों के क्रम से सूत्र में दिये हुए उत्तर निम्न प्रकार है—

१. आत्मप्रदेशों के साथ बँधने वाले पुद्गलस्कन्धों में कर्मभाव अर्थात् ज्ञानावरणत्व आदि प्रकृतियाँ बनती हैं; सारांश यह कि वैसे स्कन्धों से उन प्रकृतियों का निर्माण होता है। इसीलिए उन स्कन्धों को सभी प्रकृतियों का कारण कहा है। २. ऊँचे, नीचे और तिरछे इस तरह सभी दिशाओं में रहे हुए आत्मप्रदेशों के द्वारा कर्मस्कन्धों का ग्रहण होता है, किसी एक ही दिशा में रहे हुए आत्मप्रदेशों के द्वारा नहीं। ३. सभी जीवों के कर्मबन्ध के असमान होने का कारण यह है कि सभी के मान-सिक, वाचिक और कायिक योग—व्यापार समान नहीं होते, यही कारण है कि योग के तरतमभाव के अनुसार प्रदेशबन्ध में भी तरतमभाव आ जाता है। ४. कर्मयोग्य पुद्गलस्कन्ध स्थूल—बादर नहीं होते, परन्तु सूक्ष्म ही होते हैं, वैसे सूक्ष्मस्कन्धों का ही कर्मवर्गणा में से ग्रहण होता है। ५. जीवप्रदेश के क्षेत्र में ही रहे हुए कर्मस्कन्धों का बन्ध होता है,

उसके बाहर के क्षेत्र में रहे हुये का नहीं। ६. सिर्फ स्थिर होने से ही बन्ध होता है, क्योंकि गतिशील स्कन्ध अस्थिर होने से बन्ध को प्राप्त नहीं होते। ७. प्रत्येक कर्म के अनन्त स्कन्धों का सभी आत्मप्रदेशों में बन्ध होता है। ८. बँधने वाले प्रत्येक कर्मयोग स्कन्ध अनन्तानन्त परमाणुओं के ही बने होते हैं; कोई भी संख्यात, असंख्यात या अनन्त परमाणुओं का बना हुआ नहीं होता। २५।

पुण्य और पाप प्रकृतियों का विभाग–

सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्। २६।

सातावेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति, पुरुष, वेद, शुभ-आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र—इतनी प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं; बाकी की सभी प्रकृतियाँ पाप रूप हैं।

जिन जिन कर्मों का बन्ध होता है, उन सभी का विपाक केवल शुभ या अशुभ ही नहीं होता, बल्कि अध्यवसाय रूप कारण की शुभाशुभता के निमित्त से वे शुभाशुभ दोनों प्रकार के निर्मित होते हैं। शुभ अध्यवसाय के निर्मित विपाक शुभ—इष्ट होता है और अशुभ अध्यवसाय को निर्मित विपाक अशुभ—अनिष्ट होता है। जिस परिणाम में संक्लेश जितना ही कम होगा, वह परिणाम उतना ही अधिक शुभ और जिस परिणाम में संक्लेश जितना अधिक होगा, वह परिणाम उतना ही अशुभ होगा। कोई भी एक परिणाम ऐसा नहीं, जिसको सिर्फ शुभ या अशुभ कहा जा सके। हरएक परिणाम शुभ, अशुभ अथवा उभय रूप होने पर भी उसमें जो शुभत्व अशुभत्व का व्यवहार किया जाता है, वह गौण-मुख्यभाव की अपेक्षा से समझना चाहिए, इसीलिए जिस शुभ परिणाम से

पुण्य प्रकृतियों में शुभ अनुभाग बँधता है, उसी परिणाम से पाप प्रकृतियों में अशुभ अनुभाग भी बँधता है; इसके विपरीत जिस परिणाम से अशुभ अनुभाग बँधता है, उसी परिणाम से पुण्य प्रकृतियों में शुभ अनुभाग भी बँधता है। अन्तर इतना ही है, जैसे प्रकृष्ट शुभ परिणाम से होने वाला शुभ अनुभाग प्रकृष्ट होता है और अशुभ अनुभाग निकृष्ट होता है, वैसे ही प्रकृष्ट अशुभ परिणाम से बँधने वाला अशुभ अनुभाग प्रकृष्ट होता है और शुभ अनुभाग निकृष्ट होता है।

पुण्य रूप से प्रसिद्ध ४२ प्रकृतियाँ

सातावेदनीय, मनुष्यायुष्क, देवायुष्क, तिर्यंच-आयुष्क, मनुष्य गति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति; औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण—ये पाँच शरीर; औदारिक-अंगोपांग, वैक्रिय-अंगोपांग, आहारक-अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वज्रर्षभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श; मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माणनाम, तीर्थंकरनाम और उच्चगोत्र।

---

१. विवेचन में गिनाई गई ४२ पुण्य प्रकृतियाँ कर्मप्रकृति, नव तत्त्व आदि अनेक ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। दिगंबरीय ग्रन्थों में भी वे ही प्रकृतियाँ पुण्य रूप से प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत सूत्र में पुण्यरूप निर्देश की गई सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद ये चार प्रकृतियाँ दूसरे किसी ग्रन्थ में पुण्यरूप से वर्णन नहीं की गई।

उन चार प्रकृतियों को पुण्यरूप मानने वाला मतविशेष बहुत प्राचीन है, ऐसा मालूम पड़ता है; क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में उपलब्ध इनके उल्लेख के उपरांत भाष्यवृत्तिकार ने भी मतभेद को दरसाने वाली कारिकाएँ दी हैं, और लिखा है कि इस मंतव्य का रहस्य संप्रदाय का विच्छेद होने से हमें मालूम नहीं पड़ता; हाँ, चौदह पूर्वधारी जानते होंगे।

पाँच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नव नोकषाय, नारकायुष्क, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पहले संहनन को छोड़ कर बाकी के पाँच संहनन—अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त; पहले संस्थान को छोड़ कर बाकी के पाँच संस्थान—न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुंड; अप्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श; नारकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, उपघातनाम, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नीचगोत्र और पाँच अन्तराय। २६।

पाप रूप से प्रसिद्ध ८२ प्रकृतियाँ

नववाँ अध्याय

आठवें अध्याय में बन्ध का वर्णन किया गया है, अब इस अध्याय में संवर का निरूपण किया जायगा।

संवर का स्वरूप—

आस्रवनिरोधः संवरः । १ ।

आस्रव का निरोध ही संवर है।

जिस निमित्त से कर्म बँधते हैं, वह आस्रव है। आस्रव की व्याख्या पहले की जा चुकी है; उस आस्रव का निरोध अर्थात् प्रतिबन्ध करना ही संवर कहलाता है। आस्रव के ४२ भेद पहले गिनाए जा चुके हैं; उनका जितने-जितने अंशमें निरोध होगा, उतने-उतने अंश में संवर कहलायगा। आध्यात्मिक विकासका क्रम ही आस्रवनिरोध के विकास के आश्रित है; अतः ज्यों ज्यों आस्रवनिरोध बढ़ता जायगा, त्यों त्यों गुणस्थान की भी वृद्धि होगी।

संवर के उपाय

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः । २ ।

---

१. जिस गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरति आदि चार हेतुओं में से जिन जिन हेतुओं का संभव हो, और उनके कारण से जिन जिन कर्म प्रकृतियों के बन्ध संभव हो, उन हेतुओं और तज्जन्य कर्म प्रकृतियों के बन्ध का विच्छेद ही तो उस गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान का संवर है; अर्थात् पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान के आस्रव या तज्जन्यबन्ध का अभाव ही उत्तर-उत्तरवर्ती गुणस्थान का संवर है। इसके लिए देखो दूसरे कर्मग्रन्थ में बन्धप्रकरण और चौथा कर्मग्रन्थ (गाथा ५१–५८) तथा प्रस्तुत सूत्र की सर्वार्थसिद्धि।

तपसा निर्जरा च । ३ ।

वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है।

तप से संवर और निर्जरा होती है।

सामान्यतः संवर का स्वरूप एक ही है, फिर भी प्रकारान्त से उसके अनेक भेद बतलाये गए हैं। संक्षेपतः इसके ७ उपाय और विस्तार से ६९ गिनाये गए हैं। भेदों की यह गणना धार्मिक आचारों के विधानों पर अवलंबित है।

जैसे तप संवर का उपाय है, वैसे ही निर्जरा का भी प्रमुख कारण है। सामान्यतया तप अभ्युदय—लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है, फिर भी यह जानने योग्य है कि वह निःश्रेयस––आध्यात्मिक सुख का भी साधन होता है; क्योंकि तप एक होने पर भी उसके पीछे रही हुई भावनाके भेद के कारण वह सकाम और निष्काम इस तरह दो प्रकार का हो जाता है। सकाम अभ्युदय का साधक होता है और निष्काम निःश्रेयस का। २, ३।

गुप्ति का स्वरूप–

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । ४ ।

योगों का भली प्रकार निग्रह करना गुप्ति है।

कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया तथा योग का सभी तरह निग्रह गुप्ति नहीं है; किन्तु प्रशस्त निग्रह ही गुप्ति होकर संवर का उपाय बनता है। प्रशस्त निग्रह का अर्थ है सोचसमझ कर तथा श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया गया अर्थात् बुद्धि और श्रद्धापूर्वक मन, वचन, और काय को उन्मार्ग से रोकना और सन्मार्ग में लगाना। योग के

संक्षेप में तीन भेद होने से निग्रह रूप गुप्ति के भी तीन भेद होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

१. किसी भी चीज के लेने व रखने में अथवा बैठने, उठने व चलने आदि में कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक हो, ऐसे शारीरिक व्यापार का नियमन करना ही कायगुप्ति है। २. बोलने के प्रत्येक प्रसंग पर या तो वचन का नियमन करना या प्रसंग पाकर मौन धारण कर लेना वचनगुप्ति है। ३. दुष्ट संकल्प एवं अच्छे-बुरे मिश्रित संकल्प का त्याग करना और अच्छे संकल्प का सेवन करना ही मनोगुप्ति है।

समिति के भेद

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः । ५ ।

सम्यग्- ईर्या, सम्यग् भाषा, सम्यग् एषणा, सम्यग् आदान, निक्षेप और सम्यग् उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं।

सभी समितियाँ विवेकयुक्त प्रवृत्तिरूप होने से संवर का उपाय बनती हैं। वे पाँचों समितियाँ इस प्रकार हैं—

१. किसी भी जन्तु को क्लेश न हो इसलिए सावधानी पूर्वक चलना ही ईर्यासमिति है। २. सत्य हितकारी, परिमित और संदेह रहित बोलना भाषासमिति है। ३. जीवन यात्रा में आवश्यक हों ऐसे निर्दोष साधनों को जुटाने के लिए सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना एषणासमिति है। ४. वस्तुमात्र को भलीभांति देखकर एवं प्रमार्जित करके लेना या रखना आदाननिक्षेपसमिति है। ५. जहाँ जन्तु न हों ऐसे प्रदेश में देखकर एवं प्रमार्जित करके ही अनुपयोगी वस्तुओं को डालना उत्सर्गसमिति है।

प्र०—गुप्ति और समिति में क्या अन्तर है?

उ०—गुप्ति में असत्क्रिया का निषेध मुख्य है और समिति में सत्क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है। ५।

धर्म के भेद–

उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः । ६ ।

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस प्रकार के उत्तम धर्म हैं।

क्षमा आदि गुणों को जीवन में उतारने से ही क्रोध आदि दोषों का अभाव सिद्ध हो सकता है, इसीलिए इन गुणों को संवर का प्रमुख कारण बतलाया है। क्षमा आदि दस धर्म जब अहिंसा, सत्य आदि मूल गुणों और स्थान, आहार शुद्धि आदि उत्तर गुणों के प्रकर्ष से युक्त होता है तभी यतिधर्म बनता है, अन्यथा नहीं। अभिप्राय यह है कि अहिंसा आदि मूल गुणों या उसके उत्तर गुणों के प्रकर्ष से रहित यदि क्षमा आदि गुण हों, तो भले ही वे सामान्य धर्म कहलावें पर यतिधर्म की कोटि में नहीं रक्खे जा सकते। वे दस धर्म निम्न प्रकार हैं—

१. क्षमा का मतलब है सहनशीलता रखना अर्थात् क्रोध को पैदा न होने देना और उत्पन्न हुये क्रोध को विवेकबल से, नम्रता से निष्फल बना डालना। क्षमा की साधना के लिए पाँच उपाय बतलाये गए हैं–जैसे अपने में क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन करना, क्रोधवृत्ति के दोषों का विचार करना, बालस्वभाव का विचार करना, अपने द्वारा किये कर्म के परिणाम का विचार करना और क्षमा के गुणों का चिन्तन करना।

(क) कोई क्रोध करे, तब उसके कारण को अपने में ढूँढना, यदि दूसरे के क्रोध का कारण अपने में दृष्टिगोचर हों तो ऐसा विचारना कि भूल

तो मेरी ही है, इसमें दूसरे का कहना तो सच है। और कदाचित् अपने में दूसरे के क्रोध का कारण नजर न आता हो, तब ऐसा सोचना चाहिए कि यह बेचारा बेसमझी से मेरी भूल निकालता है—यही अपने में क्रोध के निमित्त के होने देने या न होने का चिन्तन है।

(ख) जिसे क्रोध आता है वह विभ्रममतियुक्त होने से आवेश में आकर दूसरे के साथ शत्रुता बाँधता है; फिर उसे मारता या नुकसान पहुँचाता है और ऐसा करने से अपने अहिंसाव्रत का लोप करता है, इत्यादि अनर्थ का चिन्तन ही क्रोधवृत्ति के दोषों का चिन्तन कहलाता है।

(ग) कोई अपनी पीठ पीछे निन्दा करे तो ऐसा चिन्तन करना कि बाल—बेसमझ लोगों का यह स्वभाव ही है, इसमें बात ही क्या है? उलटा लाभ है, जो बेचारा पीछे से गाली देता है; सामने तो नहीं आता यही खुशी की बात है। जब कोई सामने आ कर गाली देता हो, तब ऐसा सोचना कि बाल लोगों की तो यह बात ही है, जो अपने स्वभाव के अनुसार ऐसा करते हैं इससे ज्यादा तो कुछ नहीं करते; सामने आकर गाली ही देते हैं, पर प्रहार तो नहीं करते; यह भी तो लाभ ही है। इसी तरह यदि कोई प्रहार करे, तब प्राणमुक्त न करने के बदले में उपकार मानना और यदि कोई प्राणमुक्त करे तब धर्मभ्रष्ट न कर सकने के कारण लाभ मानकर प्रदत्त दया का चिन्तन करना। इस प्रकार से ज्यों ज्यों अधिक कठिनाइयाँ आवें, त्यों त्यों विशेष उदारता और विवेकवृत्ति का विकास करके उपस्थित कठिनाइयों को सरल बनाना ही बालस्वभाव का चिन्तन है।

(घ) कोई क्रोध करे तब यह सोचना कि इस प्रसंग में दूसरा तो सिर्फ निमित्तमात्र है, वास्तव में यह प्रसंग मेरे अपने ही पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है। यही अपने किये कर्मों का चिन्तन है।

(ङ) कोई क्रोध करे तब ऐसा सोचना कि 'क्षमा धारण करने से चित्त की स्वस्थता रहती है, बदला लेने या सामना करने में व्यय होने वाली शक्ति को बचा कर उसका उपयोग सन्मार्ग में किया जा सकता है' यही क्षमा के गुणों का चिन्तन है।

२. चित्त में मृदुता और बाह्य व्यवहार में भी नम्रवृत्ति का होना मार्दव है। इस गुण की सिद्धि के लिए जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य—बड़प्पन, विज्ञान—बुद्धि, श्रुत—शास्त्र, लाभ—प्राप्ति, वीर्य—शक्ति इनके बारे में अपने बड़प्पन में आकर गर्व से न फूलना और उलटा इन वस्तुओं की विनश्वरता का विचार करके चित्त में से अभिमान के काँटे को निकाल फेंकना। ३. भाव की विशुद्धि अर्थात् विचार, भाषण और बर्ताव की एकता ही आर्जव है; इसकी प्राप्ति के लिए कुटिलता के दोषों का विचार करना चाहिए। ४. धर्म के साधन तथा शरीर तक में भी आसक्ति न रखना ऐसी निर्लोभता को शौच कहते हैं। ५. सत्पुरुषों के लिए जो हितकारी हो ऐसा यथार्थ वचन ही सत्य है। भाषासमिति और सत्य में कुछ फर्क बतलाया गया है, वह यह है कि हरएक मनुष्य के साथ संभाषण-व्यवहार में विवेक रखना तो भाषासमिति है और अपने समशील साधु पुरुषों के साथ संभाषणव्यवहार में हित, मित और यथार्थ वचन का उपयोग करना सत्य नामक यतिधर्म है। ६. मन, वचन और देह का नियमन करना अर्थात् विचार, वाणी और गति, स्थिति आदि में यतना का अभ्यास करना [1]संयम कहलाता है। ७. मलिन वृत्तियों को निर्मूल करने

---

१. संयम के सत्रह प्रकार प्रसिद्ध हैं, जो कि भिन्न भिन्न रूप में पाये जाते हैं: पाँच इन्द्रियोंका निग्रह, पाँच अव्रतों का त्याग, चार कषायों का जय तथा मन, वचन और काय की विरति। इसी तरह पाँच स्थावर, और चार त्रस–इन नव के विषय में नव संयम, प्रेक्ष्यसंयम, उपेक्ष्य संयम, अपहृत्यसंयम, प्रमृज्यसंयम, कायसंयम, वाक्संयम, मनःसंयम और उपकरणसंयम ये कुल सत्रह हुए।

के निमित्त अपेक्षित बल की साधना के लिए जो आत्मदमन किया जाता है वह तप है। ८. पात्र को ज्ञानादि सद्गुणों का प्रदान करना त्याग है। ९. किसी भी वस्तु में ममत्वबुद्धि न रखना आकिंचन्य है। १०. त्रुटियों को हटाने के लिए ज्ञानादि सद्गुणों का अभ्यास करना एवं गुरु की अधीनता के सेवन के लिए ब्रह्म—गुरुकुल में चर्य—बसना ब्रह्मचर्य है। इसके परिपालन के लिए अतिशय उपकारक कितने ही गुण हैं, जैसे—आकर्षक स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द और शरीर संस्कार आदि में न फँसना, इसी प्रकार सातवें अध्यायके तीसरे सूत्र में चतुर्थ महाव्रत की पाँच भावनाएँ गिनाई हैं, उनका विशेष रूप से अभ्यास करना। ६।

अनुप्रेक्षा के भेद–

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरा-लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः।७।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभत्व और धर्म का स्वाख्याततत्व– इनका अनुचिन्तन ही अनुप्रेक्षाएँ है।

---

१. इसका वर्णन इसी अध्याय के सूत्र १९,२० में है। इसके उपरांत अनेक तपस्वियों द्वारा अलग अलग रीतियों से आचरण किये जानेवाले तप जैन परंपरा में प्रसिद्ध हैं। जैसे–यवमध्य और वज्रमध्य ये दो; चान्द्रायण; कनकावली, रत्नावली और मुक्तावली ये तीन; क्षुल्लक और महा इस प्रकार दो सिंहविक्रीड़ित; सप्तसप्तमिका, अष्टअष्टमिका, नवनवमिका, दशदशमिका ये चार प्रतिमाएँ; क्षुद्र और महा ये दो सर्वतोभद्र; भद्रोत्तर आचाम्ल; वर्धमान; एवं बारह भिक्षुप्रतिमाएँ—इत्यादि। इनके विशेष वर्णन के लिए देखो आत्मानन्दसभा का श्रीतपोरत्नमहोदधि।

२. गुरु–आचार्य पाँच प्रकार के बतलाए हैं, प्रव्राजक, दिगाचार्य, श्रुतोद्देष्टा, श्रुतसमुद्देष्टा, आम्नायार्थवाचक। जो प्रव्रज्या देता है वह

अनुप्रेक्षा का अर्थ गहन चिन्तन है। जो चिन्तन तात्त्विक और गहरा होगा उसके द्वारा रागद्वेष आदि वृत्तियों का होना रुक जाता है; इसीलिए ऐसे चिन्तन का संवर के उपाय रूप में वर्णन किया है।

जिन विषयों का चिन्तन जीवनशुद्धि में विशेष उपयोगी हो सकता है, ऐसे बारह विषयों को चुनकर उनके विविध चिन्तन को ही बारह अनुप्रेक्षाओं के रूप में गिनाया है। अनुप्रेक्षा को भावना भी कहते हैं। वे अनुप्रेक्षाएँ निम्न प्रकार हैं—

१. अनित्यानुप्रेक्षा

किसी भी प्राप्त वस्तु के वियोग होने से दुःख न हो इसलिए वैसी सभी वस्तुओं में आसक्ति का घटाना आवश्यक है और इसके घटाने के लिए ही शरीर और घरबार आदि वस्तुएँ एवं उनके संबन्ध में नित्यत्व और स्थिरत्व का चिन्तन ही अनित्यानुप्रेक्षा है।

२. अशरणानुप्रेक्षा

एक मात्र शुद्ध धर्म को ही जीवन का शरणभूत स्वीकार करने के लिए उसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं से ममत्व को हटाना जरूरी है। इसके हटाने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि जैसे सिंह के पंजे में पड़े हुए हिरन को कोई भी शरण नहीं, वैसे ही आधि (मानसिक रोग) व्याधि (शरीर का रोग) और उपाधि से ग्रस्त मैं भी सर्वदा के लिए अशरण हूँ, यही अशरणानुप्रेक्षा है।

संसारतृष्णा के त्याग करने के लिए सांसारिक वस्तुओं में निर्वेद—उदासीनता की साधना जरूरी है और इसीलिए ऐसी वस्तुओं से मन

प्रव्राजक, जो वस्तुमात्र की अनुज्ञा प्रदान करे वह दिगाचार्य, जो आगम का प्रथम पाठ पढ़ाये वह श्रुतोद्देष्टा, जो स्थिर परिचय कराने के लिए आगम का विशेष प्रवचन करता है वह श्रुतसमुद्देष्टा और जो आम्नाय के उत्सर्ग और अपवाद का रहस्य बतलाता है वह आम्नायार्थवाचक है।

हटाने के लिए इस प्रकार चिन्तन करना कि इस अनादि जन्म-मरण चक्र में न तो कोई स्वजन है और न परजन; क्योंकि प्रत्येक के साथ हरतरह के संबन्ध जन्म जन्मान्तरों में हो चुके हैं। इसी तरह राग, द्वेष और मोह से संतप्त प्राणी विषयतृष्णा के कारण एक दूसरे को हड़प जाने की नीति से असह्य दुःखों का अनुभव करते हैं। यह संसार हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का उपवन है और सचमुच ही कष्टमय है इस प्रकार का चिन्तन ही संसारानुप्रेक्षा है।

३. संसारानुप्रेक्षा

मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त रागद्वेष के प्रसंगों में निर्लेपता की साधना आवश्यक है। अतः स्वजन के प्रति होने वाले राग और परजन के प्रति होने वाले द्वेष को दूर करने के लिए ऐसा सोचना कि 'मैं अकेला ही जन्मता, मरता हूँ, तथा अकेला ही अपने बोये हुए कर्म बीजों के सुख-दुःखादि फलों का अनुभव करता हूं वास्तव में कोई मेरे सुख-दुःख का कर्ता हर्ता नहीं है' यही एकत्वानुप्रेक्षा है।

४. एकत्वानुप्रेक्षा

मनुष्य मोहावेश से शरीर और अन्य वस्तुओं की ह्रास-वृद्धि में अपनी ह्रास-वृद्धि को मानने की भूल करके असली कर्तव्य का भान भूल जाता है; ऐसी स्थिति के निरासार्थ शरीर आदि अन्य वस्तुओं में अपने मन के अभ्यास को दूर करना आवश्यक है। इसीलिए इन दोनों के गुण-धर्मों की भिन्नता का चिन्तन करना कि शरीर तो स्थूल, आदि और अन्त युक्त तथा जड़ है और मैं स्वयं तो सूक्ष्म, आदि और अन्त रहित एवं चेतन हूँ इस प्रकार का चिन्तन ही अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

५. अन्यत्वानुप्रेक्षा

सबसे अधिक तृष्णास्पद शरीर ही है; अतः उस पर से मूर्छा घटाने के लिए ऐसा सोचना कि शरीर स्वयं अशुचि है, अशुचि में से ही पैदा हुआ है, अशुचि वस्तुओं से

७. अशुचित्वानुप्रेक्षा

इसका पोषण हुआ है, अशुचि का स्थान है और अशुचि परंपरा का कारणभूत है, यही अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

७. आस्रवानुप्रेक्षा इन्द्रियों के भोगों की आसक्ति घटाने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के भोग संबन्धी राग में से उत्पन्न होनेवाले अनिष्ट परिणामों का चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

८. संवरानुप्रेक्षा दुर्वृत्ति के द्वारों को बंद करने के लिए सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है।

९. निर्जरानुप्रेक्षा कर्म के बन्धनों को नष्ट करने की वृत्ति को दृढ़ करने के लिए उसके विविध विपाकों का चिन्तन करना कि दुःख के प्रसंग दो तरह के होते हैं, एक तो इच्छा और सज्ञान प्रयत्न के बिना प्राप्त हुआ; जैसे—पशु, पक्षी और बहरे, गूंगे आदि के दुःखप्रधान जन्म तथा वारिसे में मिली हुई गरीबी; दूसरा प्रसंग है सदुद्देश से सज्ञान प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया हुआ, जैसे—तप और त्याग के कारण प्राप्त किया हुआ, जैसे—तप और त्याग के कारण से प्राप्त हुई गरीबी और शारीरिक कृशता आदि। पहले में वृत्ति का समाधान न होने से वह अरुचि का कारण होकर अकुशल परिणामदायक बनता है; और दूसरा तो सद्वृत्तिजनित होने से उसका परिणाम कुशल ही होता है। अतः अचानक प्राप्त हुए कटुक विपाकों में समाधान वृत्ति को साधना तथा जहाँ शक्य हो वहाँ तप और त्याग द्वारा कुशल परिणाम की प्राप्ति हो इस प्रकार संचित कर्मों को भोग लेना यही श्रेयस्कर है,' ऐसा चिन्तन निर्जरानुप्रेक्षा है।

१०. लोकानुप्रेक्षा तत्त्वज्ञान की विशुद्धि के निमित्त विश्व के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है।

प्राप्त हुए मोक्षमार्ग में अप्रमत्तभाव की साधना के लिए ऐसा सोचना कि 'अनादि प्रपंच जाल में विविध दुःखों के प्रवाह में बहते हुए और मोह आदि कर्मों के तीव्र आघातों को सहन करते हुए जीव को शुद्ध दृष्टि और शुद्ध चारित्र प्राप्त होना दुर्लभ है' यही बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है।

११. बोधिदुर्लभ-त्वानुप्रेक्षा

धर्ममार्ग से च्युत न होने और उसके अनुष्ठान में स्थिरता लाने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि जिसके द्वारा संपूर्ण प्राणियों का कल्याण हो सकता है, ऐसे सर्वगुणसम्पन्न धर्म का सत्पुरुषों ने उपदेश किया है यह कितना बड़ा सौभाग्य है यही धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है।

१२. धर्मस्वाख्यात-त्वानुप्रेक्षा

परीषहों का वर्णन—

मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः । ८ ।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्या-निषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमल-सत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि । ९ ।

सूक्ष्मसंपरायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश । १० ।

एकादश जिने । ११ ।

बादरसंपराये सर्वे । १२ ।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने । १३ ।

---

१. सभी श्वेतांबर, दिगम्बर पुस्तकों में 'ष' छपा हुआ देखा जाता है, परन्तु यह परीषह शब्द में 'ष' के साम्य के कारण व्याकरणविषयक भ्रान्ति-मात्र है; वस्तुतः व्याकरण के अनुसार 'परिसोढव्याः' यही रूप शुद्ध है। जैसे देखो, सिद्धहेम २।३।४८। तथा पाणिनीय ८।३।११५।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ । १४ ।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कार-पुरस्काराः । १५ ।

वेदनीये शेषाः । १६ ।

एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः । १७ ।

मार्ग से च्युत न होने और कर्मों के क्षयार्थ जो सहन करने योग्य हों वे परीषह हैं ।

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मेल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और अदर्शन—इनके परीषह, इस प्रकार कुल बाईस परीषह हैं ।

सूक्ष्मसंपराय और छद्मस्थवीतराग में चौदह परीषह संभव हैं ।

जिन भगवान में ग्यारह संभव हैं ।

बादरसंपराय में सभी अर्थात् बाईस ही संभव हैं ।

ज्ञानावरण रूप निमित्त से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं ।

दर्शनमोह और अन्तराय कर्म से क्रमशः अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं ।

चारित्रमोह से नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं ।

बाकी के सभी वेदनीय से होते हैं ।

एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर १९ तक परीषह विकल्प से संभव हैं ।

संवर के उपाय रूप में परीषहों का वर्णन करते समय सूत्रकार ने जिन पाँच प्रकारों का निरूपण किया है, वे ये हैं—परीषहों का लक्षण, उनकी संख्या, अधिकारी भेद से उनका विभाग, उनके कारणों का निर्देश तथा एक साथ एक जीव में संभव परीषहों की संख्या। हरएक मुद्दे पर विशेष विचार अनुक्रम से निम्न अनुसार हैं—

लक्षण अङ्गीकार किए हुए धर्ममार्ग में स्थिर रहने और कर्मबन्धनों के विनाशार्थ जो जो स्थिति समभाव पूर्वक सहन करने योग्य है, उसे परीषह कहते हैं। ८।

संख्या यद्यपि परीषह संक्षेप में कम और विस्तार में अधिक भी कल्पित किए एवं गिनाए जा सकते हैं, तथापि त्याग को विकसित करने के लिए जो खास जरूरी हैं, वे ही बाईस परीषह शास्त्र में गिनाये गए हैं, जैसे—

१-२. क्षुधा और तृषा की चाहे कैसी भी वेदना हो, फिर भी अङ्गीकार की हुई मर्यादा के विरुद्ध आहार, जल न लेते हुए समभाव पूर्वक ऐसी वेदनाओं को सहन करना क्रमशः क्षुधा और पिपासा परीषह हैं। ३-४. ठंड और गरमी से चाहे कितना ही कष्ट होता हो, तो भी उसके निवारणार्थ अकल्प्य किसी भी वस्तु का सेवन किये बिना ही समभावपूर्वक उन वेदनाओं को सहन कर लेना अनुक्रम से शीत और उष्ण परीषह हैं। ५. डाँस, मच्छर आदि जन्तुओं का उपद्रव होने पर खिन्न न होते हुए उसे समभाव पूर्वक सहन कर लेना दंशमशकपरीषह है। ६. नग्नता को समभाव पूर्वक सहन करना नग्नतापरीषह है।[1] ७. अंगीकार किये हुए मार्ग में अनेक कठिनाइयों के कारण अरुचि का प्रसंग आ

१. इस परीषह के विषय में श्वेतांबर, दिगंबर दोनों संप्रदायों में खास मतभेद है; इसी मतभेद के कारण श्वेतांबर और दिगंबर ऐसे नाम पड़े हैं।

पड़ने पर उस समय अरुचि को न लाते हुए धैर्यपूर्वक उसमें रस लेना अरतिपरीषह है। ८. साधक पुरुष या स्त्री का अपनी साधना में विजातीय आकर्षण से न ललचाना स्त्रीपरीषह है। ९. स्वीकार किये हुए धर्मजीवन को पुष्ट रखने के लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानों में विहार और किसी भी एक स्थान में नियतवास स्वीकार न करना चर्यापरीषह है। १०. साधना के अनुकूल एकान्त जगह में मर्यादित समय तक आसन लगाकर बैठे हुए ऊपर यदि भय का प्रसंग आ पड़े तो उसे अकम्पितभाव से जीतना अथवा आसन से च्युत न होना निषद्यापरीषह है। ११. कोमल या कठिन, ऊँची या नीची जैसी भी सहजभाव से मिले वैसी जगह में समभाव पूर्वक शयन करना शय्यापरीषह है। १२. कोई पास आकर कठोर या अप्रिय कहे तब भी उसे सत्कारवत् समझ लेना आक्रोशपरीषह है। १३. कोई ताड़न, तर्जन करे फिर भी उसे सेवा ही मानना वधपरीषह है। १४. दीनभाव या अभिमान न रखते हुए सिर्फ धर्मयात्रा के निर्वाहार्थ याचकवृत्ति स्वीकार करना याचनापरीषह है। १५. याचना करने पर पर भी यदि अभीष्ट वस्तु न मिले तो प्राप्ति की बजाय अप्राप्ति को ही सच्चा तप मानकर उसमें संतोष रखना

श्वेतांबरशास्त्र विशिष्ट साधकों के लिए सर्वथा नग्नत्व को स्वीकार करके भी अन्य साधकों के लिए मर्यादित वस्त्रपात्र की आज्ञा देते हैं, और वैसी आज्ञाके अनुसार अमूर्छित भावसे वस्त्रपात्र रखने वाले को भी वे साधु मानते हैं, जब कि दिगंबर शास्त्र मुनिनामधारक सभी साधकों के लिए एक सरीखा ऐकान्तिक नग्नत्व का विधान करते हैं। नग्नत्व को अचेलकपरीषह भी कहते हैं। आधुनिक शोधक विद्वान वस्त्रपात्र धारण करने वाली श्वेतांबरीय मत की परंपरा में भगवान पार्श्वनाथ की सवस्त्र परंपरा का मूल देखते हैं, और सर्वथा नग्नत्व को रखने की दिगंबर परंपरा में भगवान महावीर की अवस्त्र परंपरा का मूल देखते हैं।

अलाभ परीषह है। १६. किसी भी रोग से व्याकुल न होकर समभाव पूर्वक उसे सहन करना रोगपरीषह है। १७. संथारे में या अन्यत्र तृण आदि की तीक्ष्णता अथवा कठोरता अनुभव हो तो मृदुशय्या के सेवन सरीखा उल्लास रखना तृणस्पर्शपरीषह है। १८. चाहे जितना शारीरिक मल हो फिर भी उससे उद्वेग न पाना और स्नान आदि संस्कारों को न चाहना मलपरीषह है। १९. चाहे कितना भी सत्कार मिले फिर भी उससे न फूलना और सत्कार न मिलने पर खिन्न न होना सत्कारपुरस्कार परीषह है। २०. प्रज्ञा——चमत्कारिणी बुद्धि हो तो उसका गर्व न करना और न होने पर खेद न करना प्रज्ञापरीषह है। २१. विशिष्ट शास्त्रज्ञान से गर्वित न होना और उसके अभाव में आत्मावमानता न रखना ज्ञानपरीषह है; अथवा इसे अज्ञानपरीषह भी कहते हैं। २२. सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन न होने से स्वीकार किया हुआ त्याग निष्फल प्रतीत होने पर विवेक से श्रद्धा बनाये रखना और ऐसी स्थिति में प्रसन्न रहना अदर्शनपरीषह है। ९।

अधिकारी भेद से विभाग

जिसमें संपराय—— लोभकषाय की बहुत ही कम संभावना हो वस सूक्ष्मसंपराय नामक गुणस्थान में और उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह नामक गुणस्थानों में चौदह ही परीषह संभव हैं, वे ये हैं—— क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल; बाकी के आठ संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि ये मोहजन्य हैं, लेकिन ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में मोहोदय का अभाव है। यद्यपि दसवें गुणस्थान में मोह है पर यह इतना अल्प है कि न होने जैसा ही है इसीलिए इस गुणस्थान में भी मोहजन्य आठ परीषहों के संभव का उल्लेख न करके सिर्फ चौदह का ही संभव है ऐसा उल्लेख किया गया है।

[1]तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में केवल ग्यारह ही परीषह संभव हैं, जैसे—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। बाकी के ग्यारह घातिकर्मजन्य होने से उस कर्म का ही अभाव होने से वे उक्त गुणस्थानों में संभव नहीं।

जिसमें संपराय—कषाय का बादर अर्थात् विशेष रूप में संभव हो, ऐसे [2]बादरसंपराय नामक नौवें गुणस्थान में बाईस ही परीषह होते हैं। इसका कारण यह है कि परीषहों के कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं। नौवें गुणस्थान में बाईस के संभव का कथन करने से उसके पहले के छठे आदि गुणस्थानों में उतने ही परीषह संभव हैं, यह स्वतः फलित हो जाता है। १०–१२।

---

१. इन दो गुणस्थानों में परीषहों के बारे में दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायों के बीच मतभेद है। यह मतभेद सर्वज्ञ में कवलाहार मानने और न मानने के मतभेद के कारण है। इसीलिए दिगंबर व्याख्याग्रन्थ "एकादश जिने" इस रूप में इस सूत्र को मान कर भी इसकी व्याख्या तोड़-मरोड़ कर करते हुए प्रतीत होते हैं। व्याख्या एक नहीं, बल्कि दो की गई हैं, तथा वे दोनों संप्रदायों के तीव्र मतभेद के बाद की ही हैं ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है। पहली व्याख्या के अनुसार ऐसा अर्थ किया जाता है कि जिन—सर्वज्ञ में क्षुधा आदि ग्यारह परीषह (वेदनीय-कर्मजन्य) हैं, लेकिन मोह न होने से वे क्षुधा आदि वेदना रूप न होने के कारण सिर्फ उपचार से द्रव्य परीषह हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'न' शब्द का अध्याहार करके ऐसा अर्थ किया जाता है कि जिनमें वेदनीय कर्म होने पर भी तदाश्रित क्षुधा आदि ग्यारह परीषह मोह के अभाव के कारण बाधा रूप न होने से हैं ही नहीं।

२. दिगंबर व्याख्या ग्रन्थ इस जगह बादरसंपराय शब्द को संज्ञा रूप न मानकर विशेषण रूप में मानते हैं, जिस पर से वे छठे आदि चार गुणस्थानों का अर्थ फलित करते हैं।

परीषहों के कारण कुल चार कर्म माने गए हैं। उनमें से ज्ञानावरण प्रज्ञा और अज्ञान इन दो परीषहों का निमित्त है; अन्तरायकर्म अलाभपरीषह का कारण है; मोह में से दर्शनमोह अदर्शन का और चारित्रमोह नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार—इन सात परीषहों का कारण है; वेदनीय कर्म ऊपर गिनाये गए सर्वज्ञ में संभवित ग्यारह परीषहों का कारण है। १३–१६।

कारणों का निर्देश

बाईस परीषहों में एक समय में परस्पर विरोधी अनेक परीषह हैं; जैसे—शीत, उष्ण, चर्या, शय्या और निषद्या—इनमें से पहले दो और पिछले तीन एक साथ संभव ही नहीं हैं। शीत होगा तब उष्ण और उष्ण होगा तब शीत संभव ही नहीं। इसी तरह चर्या, शय्या और निषद्या में से भी एक समय में एक ही हो सकता है। इसीलिए उक्त पाँचों में से एक समय में किन्हीं भी दो को संभव और तीन को असंभव मानकर एक आत्मा में एक साथ अधिक से अधिक १९ परीषह संभव बतलाए गए हैं। १७।

एक साथ एक जीव में संभाव्य परीषहों की संख्या

चारित्र के भेद—

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराय-यथाख्यातानि चारित्रम्। १८।

सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात यह पाँच प्रकार का चारित्र है।

---

१. चमत्कारिणी बुद्धि कितनी भी क्यों न हो, वह परिमित होने के कारण ज्ञानावरण के आश्रित है, अतः प्रज्ञापरीषह को ज्ञानावरणजन्य ही समझना चाहिए।

आत्मिक शुद्धदशा में स्थिर रहने का प्रयत्न करना ही चारित्र है। परिणाम शुद्धि के तरतम भाव की अपेक्षा से चारित्र के सामायिक आदि उपर्युक्त पाँच विभाग किए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—

समभाव में स्थित रहने के लिए संपूर्ण अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिकचारित्र है। छेदोपस्थान आदि बाकी के चार चारित्र सामायिक रूप तो हैं ही इतने पर भी कितनी ही आचार और गुण की विशेषताओं के कारण इन चारों का सामायिक से भिन्न रूप में वर्णन किया गया है। इत्वरिक—कुछ समय के लिए अथवा यावत्कथिक—संपूर्ण जीवन के लिए जो पहले पहल मुनि दीक्षा ली जाती है—वह सामायिक है।

१. सामायिक चारित्र

प्रथम दीक्षा लेने के बाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर विशेष शुद्धि के निमित्त जो जीवनपर्यंत पुनः दीक्षा ली जाती है, एवं प्रथम ली हुई दीक्षा में दोषापत्ति आने से उसका छेद करके फिर नये सिरे से जो दीक्षा का आरोपण किया जाता है वह छेदोपस्थापन चारित्र है। जिसमें से पहला निरतिचार और दूसरा सातिचार छेदोपस्थापन कहलाता है।

२. छेदोपस्थापन चारित्र

जिसमें खास विशिष्ट प्रकार के तपःप्रधान आचार का पालन किया जाता है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है।

३. परिहारविशुद्धि चारित्र

जिसमें क्रोध आदि कषायों का तो उदय नहीं होता, सिर्फ लोभ का अंश अतिसूक्ष्म रूप में रहता है, वह सूक्ष्मसंपराय चारित्र है।

४. सूक्ष्मसंपराय चारित्र

१. देखो हिंदी चौथा कर्मग्रन्थ पृ० ५९-६१।

५. यथाख्यात चारित्र जिसमें किसी भी कषाय का उदय बिलकुल नहीं रहता वह यथाख्यात अर्थात् वीतराग चारित्र है।[1]

तप का वर्णन–

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः । १९ ।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् । २० ।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश यह बाह्य तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह आभ्यन्तर तप हैं।

वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक बल की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन जिन उपायों से तपाया जाता है वे सभी तप हैं। तप के बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो भेद हैं। जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है, तथा जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा युक्त होने से दूसरों को दीख सके वह बाह्य तप है। इसके विपरीत जिसमें मानसिक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो मुख्यरूप से बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरों को न भी दीख सके वह आभ्यन्तर तप है। बाह्य तप स्थूल और लोगों द्वारा ज्ञात होने पर भी उसका महत्त्व आभ्यन्तर तप की पुष्टि में उपयोगी होने की दृष्टि से ही माना गया है। इस बाह्य और आभ्यन्तर तप के वर्गीकरण में समग्र स्थूल और सूक्ष्म धार्मिक नियमों का समावेश हो जाता है।

---

१. इसके अथाख्यात और तथाख्यात ये नाम भी मिलते हैं।

१. मर्यादित समय तक या जीवन के अन्त तक सभी प्रकार के आहार का त्याग करना— अनशन है। इनमें पहला इत्वरिक और दूसरा यावत्कथिक समझना चाहिए। २. अपनी जितनी भूख हो उससे कम आहार करना—अवमौदर्य—ऊनोदरी है। ३. विविधि वस्तुओं के लालच को कम करना—वृत्तिसंक्षेप है। ४. घी, दूध आदि तथा मद्य, मधु, मक्खन आदि विकारकारक रस का त्याग करना—रसपरित्याग है। ५. बाधारहित एकान्त स्थान में रहना—विविक्त-शय्यासनसंलीनता है। ६. ठंढ, गरमी या विविध आसनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना कायक्लेश है।

बाह्य तप

१. धारण किये हुए व्रत में प्रमादजनित दोषों का जिससे शोधन किया जा सके वह प्रायश्चित्त है। २. ज्ञान आदि सद्गुणों में बहुमान रखना विनय है। ३. योग्य साधनों को जुटा कर अथवा अपने आपको काम में लगाकर सेवाशुश्रूषा करना वैयावृत्त्य है। विनय और वैयावृत्त्य में इतना ही अन्तर है कि विनय तो मानसिक धर्म है और वैयावृत्त्य शारीरिक धर्म है। ४. ज्ञान प्राप्ति के लिए विविध प्रकार का अभ्यास करना स्वाध्याय है। ५. अहंता और ममता का त्याग करना व्युत्सर्ग है। ६. चित्त के विक्षेपों का त्याग करना ध्यान है। १९,२०।

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्त आदि तपों के भेदों की संख्या—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्। २१।

ध्यान से पहले के आभ्यन्तर तपों के अनुक्रम से नव, चार, दस, पाँच और दो भेद हैं।

ध्यान का विचार विस्तृत होने से उसे अन्त में रखकर उसके पहले के प्रायश्चित्त आदि पाँच आभ्यन्तर तपों के भेदों की संख्या ही यहाँ बतलाई गई है। २१।

प्रायश्चित्त के भेद–

आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि । २२ ।

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन यह नव प्रकार का प्रायश्चित्त है।

दोष—भूल के शोधन करने के अनेक प्रकार हैं, वे सभी प्रायश्चित्त हैं। उनके यहाँ संक्षेप में नव भेद इस प्रकार हैं— १. गुरु के समक्ष शुद्धभाव से अपनी भूल प्रकट करना आलोचन है। २. हो चुकी भूल का अनुताप करके उससे निवृत्त होना और नई भूल न हो इसके लिए सावधान रहना प्रतिक्रमण है। ३. उक्त आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों साथ करना तदुभय अर्थात् मिश्र है। ४. खानपान आदि वस्तु यदि अकल्पनीय आ जाय और पीछे से मालूम पड़े तो उसका त्याग करना विवेक है। ५. एकाग्रतापूर्वक शरीर और वचन के व्यापारों को छोड़ देना व्युत्सर्ग है। ६. अनशन आदि बाह्य तप करना तप है। ७. दोष के अनुसार दिवस, पक्ष, मास या वर्ष की प्रव्रज्या घटा देना छेद है। ८. दोषपात्र व्यक्ति को उसके दोष के अनुसार पक्ष, मास आदि पर्यन्त किसी किस्म का संसर्ग न रख कर दूर से परिहरना—परिहार है। ९. अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, आदि महाव्रतों के भंग हो जाने से फिर शुरू से ही उन महाव्रतों का आरोपण करना— उपस्थापन है। २२।

---

१. परिहार और उपस्थापन इन दोनों के स्थान में मूल, अनवस्थाप्य, पारांचिक ये तीन प्रायश्चित्त होने से बहुत से ग्रन्थों में दस प्रायश्चित्तों का वर्णन है। ये प्रत्येक प्रायश्चित्त किन किन और कैसे-कैसे दोषों पर लागू होते हैं, उनका विशेष स्पष्टीकरण व्यवहार, जीतकल्पसूत्र आदि प्रायश्चित्त-प्रधान ग्रन्थों से जानना चाहिए।

विनय के भेद–

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः । २३ ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार ये विनय के चार प्रकार हैं।

विनय वस्तुतः गुणरूप से एक ही है, फिर भी उसके ये भेद सिर्फ विषय की दृष्टि से ही किये गए हैं।

विनय के विषय को मुख्य रूप से यहाँ चार भागों में बाँटा गया है; जैसे– १. ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास चालू रखना और भूलना नहीं यह ज्ञान का असली विनय है। २. तत्त्व की यथार्थप्रतीति स्वरूप सम्यग्दर्शन से चलित न होना, उसमें होने वाली शङ्काओं का संशोधन करके निःशंक भाव की साधना करना दर्शनविनय है। ३. सामायिक आदि पूर्वोक्त किसी भी चारित्र में चित्त का समाधान रखना चारित्रविनय है। ४. जो कोई सद्गुणों में अपने से श्रेष्ठ हो उसके प्रति अनेक प्रकार से योग्य व्यवहार करना, जैसे– उसके सामने जाना, उसके आने पर उठ कर खड़ा हो जाना, आसन देना, वन्दन करना इत्यादि उपचारविनय है। २३।

वैयावृत्य के भेद–

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधुसमनोज्ञानाम् । २४ ।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और समनोज्ञ इस तरह दस प्र ार का वैयावृत्य है।

वैयावृत्य सेवारूप होने से दस प्रकार के सेव्य– सेवायोग्य पात्रों के होने के कारण उसके भी दस प्रकार किये गए हैं। वे इस प्रकार हैं–१. मुख्य रूप से जिसका कार्य व्रत और आचार ग्रहण कराने का हो– वह आचार्य

है। २. मुख्य रूप से जिसका कार्य श्रुताभ्यास कराने का हो—वह उपाध्याय है। ३. जो महान् और उग्र तप करने वाला हो—वह तपस्वी है। ४. जो नवदीक्षित होकर शिक्षण प्राप्त करने का उम्मीदवार हो—वह शैक्ष है। ५. रोग आदि से क्षीण हो—वह ग्लान है। ६. जुदे जुदे आचार्यों के शिष्य रूप साधु यदि परस्पर सहाध्यायी होने से समान वाचना वाले हों तो उनका समुदाय ही गण है। ७. एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य परिवार—कुल कहलाता है। ८. धर्म का अनुयायी संघ है, इसके साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका ये चार भेद हैं। ९. जो प्रव्रज्या धारी हो उसे साधु कहते है। १०. ज्ञान आदि गुणों में समान हो वह समनोज्ञ—समान शील है। २४।

स्वाध्याय के भेद—

वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः । २५ ।

वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाँच स्वाध्याय के भेद हैं।

ज्ञान प्राप्त करने का, उसे निःशंक, विशद और परिपक्व बनाने का एवं उसके प्रचार का प्रयत्न ये सभी स्वाध्याय में आ जाते हैं; अतः उसके यहाँ पाँच भेद अभ्यासशैली के क्रमानुसार बतलाये गए हैं। वे इस प्रकार हैं— १. शब्द या अर्थ का पहला पाठ लेना—वाचना है। २. शंका दूर करने अथवा विशेष निर्णय के लिए पूछना—प्रच्छना है। ३. शब्द पाठ या उसके अर्थ का मन से चिन्तन करना—अनुप्रेक्षा है। ४. सीखी हुई वस्तु के उच्चारण का शुद्धिपूर्वक पुनरावर्तन करना—आम्नाय अर्थात् परावर्तन है। ५. जानी हुई वस्तु का रहस्य समझाना अथवा धर्म का कथन करना धर्मोपदेश है। २५।

व्युत्सर्ग के भेद—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः । २६ ।

बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का त्याग ऐसा दो तरह का व्युत्सर्ग है।

वास्तव में अहंत्व-ममत्व की निवृत्ति रूप त्याग एक ही है, फिर भी त्यागने की वस्तु बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो प्रकार की है। इसीसे उसके—व्युत्सर्ग या त्याग के दो प्रकार माने गए हैं। वह इस प्रकार हैं—१. धन, धान्य, मकान, क्षेत्र आदि बाह्य वस्तुओं से ममता हटा लेना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है और २. शरीर पर से ममता हटाना एवं काषायिक विकारों में तन्मयता का त्याग करना—आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है। २६।

ध्यान का वर्णन—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । २७ ।

आ मुहूर्तात् । २८ ।

उत्तम संहनन वाले का एक विषय में अन्तःकरण की वृत्ति का स्थापन—ध्यान है।

वह मुहूर्त तक अर्थात् अन्तर्मुहूर्त पर्यंत रहता है।

यहाँ ध्यान से संबन्ध रखने वाली अधिकारी, स्वरूप और काल का परिमाण ये तीन बातें बतलाई गई हैं।

छः प्रकार के संहननों—शारीरिक संघटनों में वज्रर्षभनाराच, अर्धवज्रर्षभनाराच और नाराच ये तीन उत्तम गिने जाते हैं। जो उत्तम संहनन वाला होता है वही ध्यान का अधिकारी है; क्योंकि ध्यान करने में आवश्यक मानसिक बल के लिए जितना

अधिकारी

१. दिगंबर ग्रन्थों में तीन उत्तम संहनन वाले को ही ध्यान का अधिकारी माना है; लेकिन भाष्य और उसकी वृत्ति प्रथम के दो संहनन वाले को ध्यान का स्वामी मानने के पक्ष में हैं।

२. इसकी जानकारी के लिए देखो अ० ८, सू० १२।

शारीरिक बल चाहिए, उसका संभव उक्त तीन संहनन वाले शरीर में है; बाकी के तीन संहनन वाले में नहीं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि मानसिक बल का एक मुख्य आधार शरीर ही है, और शरीर बल शारीरिक संघटन पर निर्भर है; अतः उत्तम संहनन वाले के सिवाय दूसरा ध्यान का अधिकारी नहीं है। जितना ही शारीरिक संघटन कमजोर होगा, मानसिक बल भी उतना ही कम होगा; मानसिक बल जितना कम होगा, चित्त की स्थिरता भी उतनी ही कम होगी। इसलिए कमजोर शारीरिक संघटन—अनुत्तम संहनन वाला प्रशस्त या किसी भी विषय में जितनी एकाग्रता साध सकता है, वह इतनी कम होती है कि उसकी गणना ही ध्यान में नहीं हो सकती।

स्वरूप

सामान्य रूप से क्षण में एक, क्षण में दूसरे, क्षण में तीसरे ऐसे अनेक विषयों को अवलंबन करके प्रवृत्त हुई ज्ञानधारा भिन्न भिन्न दिशाओं में से बहती हुई हवा के बीच स्थित दीपशिखा की तरह— अस्थिर होती है। ऐसी ज्ञानधारा— चिन्ता को विशेष प्रयत्न के साथ बाकी के सब विषयों से हटा कर किसी भी एक ही इष्ट विषय में स्थिर रखना अर्थात् ज्ञानधारा को अनेक विषयगामिनी बनने से रोक कर एक विषयगामिनी बना देना ही ध्यान है। ध्यान का यह स्वरूप असर्वज्ञ— छद्मस्थ में ही संभव है, इसलिए ऐसा ध्यान बारहवें गुणस्थान तक होता है।

सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के बाद अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में भी ध्यान स्वीकार किया है सही, पर उसका स्वरूप भिन्न प्रकार का है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में जब मानसिक, वाचिक और कायिक योग व्यापार के निरोध का क्रम शुरू होता है, तब स्थूल कायिक व्यापार निरोध के बाद सूक्ष्म कायिक व्यापार के अस्तित्व के समय में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का तीसरा शुक्लध्यान माना गया है, और चौदहवें गुणस्थान की संपूर्ण

अयोगिपन की दशा में शैलेशीकरण के समय में समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नाम का चौथा शुक्लध्यान माना है। ये दोनों ध्यान उक्त दशाओं में चित्तव्यापार न होने से छद्मस्थ की तरह एकाग्रचिन्तानिरोध रूप तो हैं ही नहीं; अतः उक्त दशाओं में ध्यान को घटाने के लिये सूत्र में कथित प्रसिद्ध अर्थ के उपरान्त ध्यान शब्द का अर्थ विशेष विस्तृत किया गया है; और वह यह कि केवल कायिक स्थूल व्यापार को रोकने का प्रयत्न भी ध्यान है, और आत्मप्रदेशों की निष्प्रकम्पता भी ध्यान है।

फिर भी ध्यान के बारे में एक प्रश्न रहता है कि तेरहवें गुणस्थान के प्रारंभ से योगनिरोध का क्रम शुरू होता है, तब तक की अवस्था में अर्थात् सर्वज्ञ हो कर जीवन व्यतीत करने की स्थिति में क्या वास्तव में कोई ध्यान होता है? और यदि होता है तो कौनसा होता है? इसका उत्तर दो तरह से मिलता है। १. विहरमाण सर्वज्ञ की दशा में ध्यानान्तरिका कह कर उसमें अध्यानित्व ही मान करके कोई ध्यान स्वीकार नहीं किया गया है। २. सर्वज्ञ दशा में मन, वचन और शरीर के व्यापार संबन्धी सुदृढ़ प्रयत्न को ही ध्यान रूप में मान लिया गया है।

काल का परिमाण　उपर्युक्त एक ध्यान ज्यादा से ज्यादा अन्तर्मुहूर्त तक ही टिक सकता है, उसके बाद उसे टिकाना कठिन है; अतः उसका कालपरिमाण अन्तर्मुहूर्त माना गया है।

कितनेक श्वास-उच्छ्वास को बिल्कुल रोक रखना ही ध्यान मानते हैं, तथा अन्य कुछ मात्रा से[1] काल की गणना करने को ही ध्यान

---

१. 'अ, इ' आदि एक एक ह्रस्व स्वर के बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय को एक मात्रा कहते हैं। व्यञ्जन जब स्वरहीन बोला जाता है, तब उसमें अर्धमात्रा जितना समय लगता है। मात्रा या अर्धमात्रा परिमित समय को जान लेने का अभ्यास करके कोई उसी के अनुसार अन्य क्रियाओं के समय का भी माप करने लगे कि अमुक काम में इतनी मात्राएँ हुईं। यही मात्रा से काल की गणना कहलाती है।

मानते हैं। परन्तु जैन परंपरा में इस कथन को स्वीकार नहीं किया गया है; क्योंकि उसका कहना है कि यदि संपूर्णतया श्वास-उच्छ्वास बंद किया जाय, तब तो अन्त में शरीर ही नहीं टिक सकता। इसलिए मन्द या मन्दतम भी श्वास का संचार तो ध्यानावस्था में रहता ही है। इसी प्रकार जब कोई मात्रा से काल का माप करेगा तब तो उसका मन गिनती के काम में अनेक क्रियाओं के करने में लग जाने के कारण एकाग्रता के बदले व्यग्रता-युक्त ही मानना होगा। यही कारण है कि दिवस, मास और उससे अधिक समय तक ध्यान के टिकने की लोकमान्यता भी जैन परंपरा को ग्राह्य नहीं, इसका कारण उसमें यह बतलाया है कि अधिक लम्बे समय तक ध्यान साधने से इन्द्रियों के उपघात का संभव है, अतः ध्यान को अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा बढ़ाना कठिन है। एक दिवस, एक अहोरात्र अथवा समय तक ध्यान किया—इस कथन का अभिप्राय इतना ही है कि उतने समय तक ध्यान का प्रवाह चलता रहा अर्थात् किसी भी एक आलंबन का एकबार ध्यान करके, फिर उसी आलंबन का कुछ रूपान्तर से या दूसरे ही आलंबन का ध्यान किया जाता है, और पुनरपि इसी तरह आगे भी ध्यान किया जाय तो वह ध्यानप्रवाह बढ़ जाता है। यह अन्तर्मुहूर्त का कालपरिमाण छद्मस्थ के ध्यान का समझना चाहिए। सर्वज्ञ के ध्यान का कालपरिमाण तो अधिक भी हो सकता है; क्योंकि मन, वचन और शरीर के प्रवृत्तिविषयक सुदृढ़ प्रयत्न को अधिक समय तक भी सर्वज्ञ लंबा कर सकता है।

जिस आलंबन पर ध्यान चलता है, वह आलंबन संपूर्ण द्रव्य रूप न हो कर उसका एक देश—कोई एक पर्याय होता है; क्योंकि द्रव्य का चिन्तन उसके किसी न किसी पर्याय द्वारा ही शक्य बनता है। २७, २८।

ध्यान के भेद—

आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि। २९।

परे मोक्षहेतू । ३० ।

आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार प्रकार हैं।

उनमें से अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं।

उक्त चार ध्यानों में आर्त और रौद्र ये दो संसार के कारण होने से दुर्ध्यान हैं और हेय अर्थात् त्याज्य हैं। धर्म और शुक्ल ये दो मोक्ष के कारण होने से सुध्यान हैं और उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य माने गये हैं। २९, ३०।

आर्तध्यान का निरूपण—

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः । ३१ ।

वेदनायाश्च । ३२ ।

विपरीतं मनोज्ञानाम् । ३३ ।

निदानं च । ३४ ।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् । ३५ ।

अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए सतत चिन्ता करना प्रथम आर्तध्यान है।

दुःख के आ पड़ने पर उसके दूर करने की सतत चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है।

प्रिय वस्तु के वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना तीसरा आर्तध्यान है।

प्राप्त न हुई वस्तु की प्राप्ति के लिए संकल्प करना या सतत चिन्ता करना चौथा आर्तध्यान है।

वह आर्तध्यान अविरत, देशसंयत और प्रमत्त संयत इन चार गुणस्थानों में ही संभव है।

यहाँ आर्तध्यान के भेद और उसके स्वामी इन दो बातों का निरूपण है। आर्ति का अर्थ है पीड़ा या दुःख; उसमें से जो उत्पन्न हो– वह आर्त है। दुःख की उत्पत्ति के मुख्य चार कारण हैं– अनिष्ट वस्तु का संयोग, इष्ट वस्तु का वियोग, प्रतिकूल वेदना और भोग की लालसा। इन कारणों पर से ही आर्तध्यान के चार प्रकार किये गए हैं। १. जब अनिष्ट वस्तु का संयोग हो, तब तद्भव दुःख से व्याकुल हुआ आत्मा उसे दूर करने के लिए अर्थात् वह वस्तु अपने पास से कब तक दूर हो इसी के लिए जो सतत चिन्ता किया करता है यही अनिष्टसंयोग-आर्तध्यान है। २. उक्त रीत्या किसी इष्ट वस्तु के चले जाने पर उसकी प्राप्ति के निमित्त सतत चिन्ता करना इष्टवियोग-आर्तध्यान है। ३. वैसे ही शारीरिक या मानसिक पीड़ा होने पर उसे दूर करने की व्याकुलता में चिन्ता करना रोगचिन्ता-आर्तध्यान है, और ४. भोगों की लालसा की उत्कटता के कारण अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का तीव्र संकल्प निदान-आर्तध्यान है।

प्रथम के चार गुणस्थान, देशविरत और प्रमत्तसंयत इन कुल छः गुणस्थानों में उक्त ध्यान संभव है। इनमें भी इतनी विशेषता है कि प्रमत्तसंयत गुणस्थान में निदान के अलावा तीन ही आर्तध्यान हो सकते हैं। ३१–३५।

रौद्रध्यान का निरूपण–

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः। ३६।

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयरक्षण के लिए सतत चिन्ता– रौद्रध्यान है, वह अविरत और देशविरत में संभव है।

प्रस्तुत सूत्र में रौद्रध्यान के भेद और उसके स्वामियों का वर्णन है। रौद्रध्यान के चार भेद उसके कारणों पर से आर्तध्यान की तरह ही

विभाजित किये गए हैं। जिसका चित्त क्रूर व कठोर हो वह रुद्र, और ऐसे आत्मा का ध्यान– रौद्र है। हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने और प्राप्त विषयों को संभाल कर रखने की वृत्ति में से क्रूरता व कठोरता पैदा होती है, इन्हीं के कारण से जो सतत चिन्ता हुआ करती है वह अनुक्रम से हिंसानुबन्धी, अनृतानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है। इस ध्यान के स्वामी पहले पाँच गुणस्थान वाले होते हैं। ३६।

धर्मध्यान का निरूपण–

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य
उपशान्तक्षीणकषाययोश्च । ३८ ।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इन की विचारणा के निमित्त एकाग्र मनोवृत्ति का करना धर्मध्यान है; यह अप्रमत्त संयत के हो सकता है।

वह धर्मध्यान उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानों में भी संभव है।

धर्मध्यान के भेद और उसके स्वामियों का यहाँ निर्देश है।

१. वीतराग तथा सर्वज्ञ पुरुष की क्या आज्ञा है? और कैसी होनी चाहिए? इसकी परीक्षा करके वैसी आज्ञा का पता लगाने के लिए मनोयोग देना—वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। २. दोषों के स्वरूप योग और उनसे छुटकारा कैसे हो इसके विचारार्थ मनोयोग देना—अपायविचय धर्मध्यान है। ३. अनुभव में आने वाले विपाकों में से कौन-कौन सा विपाक किस किस कर्म का आभारी है, तथा अमुक कर्म

का अमुक विपाक संभव है इनके विचारार्थ मनोयोग लगाना—विपाक-विचय धर्मध्यान है। ४. लोक के स्वरूप का विचार करने में मनोयोग देना—संस्थानविचय धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के स्वामियों के बारे में श्वेताम्बर और दिगम्बर मतों की परंपरा एक सी नहीं है। श्वेतांबरीय मान्यता के अनुसार उक्त दो

स्वामी

सूत्रों में निर्दिष्ट सातवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में तथा इस कथन पर से सूचित आठवें आदि बीच के तीन गुणस्थानों में अर्थात् सातवें से लेकर बारहवें तक के छहों गुणस्थानों में धर्मध्यान संभव है। दिगंबर परंपरा चौथे से सातवें तक के चार गुणस्थानों में ही धर्मध्यान की संभावना स्वीकार करती है। उसकी यह दलील है कि सम्यग्दृष्टि को श्रेणी के आरम्भ के पूर्व तक ही धर्मध्यान संभव है और श्रेणी का आरंभ आठवें गुणस्थान से होने के कारण आठवें आदि में यह ध्यान किसी प्रकार भी संभव नहीं। ३७, ३८।

शुक्लध्यान का निरूपण—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। ३९।

परे केवलिनः। ४०।

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया-निवृत्तीनि। ४१।

---

१. 'पूर्वविदः' यह अंश प्रस्तुत सूत्र का ही है और इतना सूत्र अलग नहीं, ऐसा भाष्य के टीकाकार बतलाते हैं। दिगंबर परंपरा में भी इस अंश को सूत्र रूप में अलग स्थान नहीं दिया गया। अतः यहाँ भी वैसे ही रक्खा है। फिर भी भाष्य पर से स्पष्ट मालूम होता है कि 'पूर्वविदः' यह अलग ही सूत्र है।

तत्र्येककाययोगायोगानाम् । ४२ ।
एकाश्रये सवितर्के पूर्वे । ४३ ।
अविचारं द्वितीयम् । ४४ ।
वितर्कः श्रुतम् । ४५ ।
विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः । ४६ ।

उपशान्तमोह और क्षीणमोह में पहले के दो शुक्लध्यान संभव हैं। पहले दोनों शुक्लध्यान पूर्वधर के होते हैं।

बाद के दो केवली के होते हैं।

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये चार शुक्लध्यान हैं।

वह—शुक्लध्यान अनुक्रम से तीन योगवाले, किसी एक योग वाले, काययोग वाले और योगरहित को होता है।

पहले के दो, एक आश्रयवाले एवं सवितर्क होते हैं।

इनमें से पहला सविचार है, दूसरा अविचार है।

वितर्क अर्थात् श्रुत।

विचार अर्थात् अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति।

प्रस्तुत वर्णन में शुक्लध्यान से संबन्ध रखने वाली स्वामी, भेद और स्वरूप—ये तीन बातें हैं।

स्वामी स्वामी का कथन यहाँ दो प्रकार से किया गया है; एक तो गुणस्थान की दृष्टि से और दूसरा योग की दृष्टि से।

---

१. प्रस्तुत स्थल में 'अवीचार' ऐसा रूप ही अधिकतर देखा जाता है, तो भी यहाँ सूत्र और विवेचन में ह्रस्व 'वि' का प्रयोग करके एकता रक्खी गई है।

गुणस्थान की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार भेदों में से पहले के दो भेदों के स्वामी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवाले ही होते हैं जो कि पूर्वधर भी हों। 'पूर्वधर' इस विशेषण से सामान्यतया यह समझना चाहिए कि जो पूर्वधर न हो पर ग्यारह आदि अङ्गों का धारक हो उसके तो ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में शुक्ल न होकर धर्मध्यान ही होगा। इस सामान्य विधान का एक अपवाद भी है और वह यह कि पूर्वधर न हों ऐसी आत्माओं—जैसे माषतुष, मरुदेवी आदि के भी शुक्लध्यान संभव है। शुक्लध्यान के बाकी के दो भेदों के स्वामी सिर्फ केवली अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले ही होते हैं।

योग की दृष्टि से तीन योग वाला ही चार में से पहले शुक्लध्यान का स्वामी होता है। मन, वचन और काय में से किसी भी एक ही योग वाला शुक्लध्यान के दूसरे भेद का स्वामी होता है। इसी ध्यान के तीसरे भेद का स्वामी सिर्फ काययोग वाला और चौथे भेद का स्वामी एक मात्र अयोगी ही होता है।

शुक्लध्यान के भी अन्य ध्यानों की तरह चार भेद किये गए हैं, जो कि इसके चार पाये भी कहलाते हैं। उनके चार नाम इस तरह

भेद

हैं—१. पृथक्त्ववितर्क-सविचार, २. एकत्ववितर्क-निर्विचार, ३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, ४. व्युपरतक्रिया निवृत्ति—समुच्छिन्न-क्रियानिवृत्ति।

प्रथम के दो शुक्लध्यानों का आश्रय एक है अर्थात् उन दोनों का आरंभ पूर्वज्ञानधारी आत्मा द्वारा होता है। इसी से ये दोनों ध्यान वितर्क—श्रुतज्ञान सहित हैं। दोनों में वितर्क का साम्य होने पर भी दूसरा वैषम्य भी है, और वह यह कि पहले में पृथक्त्व—भेद है जब कि दूसरे में एकत्व—अभेद है; इसी तरह पहले में विचार—संक्रम है, जब कि दूसरे

में विचार नहीं है। इसी कारण से इन दोनों ध्यानों के नाम क्रमशः पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्क-अविचार ऐसे रक्खे गए हैं।

पृथक्त्ववितर्क-सविचार

जब कोई ध्यान करने वाला पूर्वधर हो, तब पूर्वगत श्रुत के आधार पर, और जब पूर्वधर न हो तब अपने में संभवित श्रुत के आधार पर किसी भी परमाणु आदि जड़ या आत्मरूप चेतन—ऐसे एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक आदि विविध नयों के द्वारा भेदप्रधान चिन्तन करता है और यथासंभव श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य रूप अर्थ पर से दूसरे द्रव्य रूप अर्थ पर या एक द्रव्य रूप अर्थ पर से पर्याय रूप अन्य अर्थ पर अथवा एक पर्याय रूप अर्थ पर से अन्य पर्याय रूप अर्थ पर या एक पर्याय रूप अर्थ पर से अन्य द्रव्य रूप अर्थ पर चिन्तन के लिए प्रवृत्त होता है; इसी तरह अर्थ पर से शब्द पर और शब्द पर से अर्थ पर चिन्तनार्थ प्रवृत्ति करता है; तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोड़कर अन्य योग का अवलंबन ग्रहण करता है तब यह ध्यान पृथक्त्व-वितर्कसविचार कहलाता है। कारण यह है कि इसमें वितर्क—श्रुतज्ञान का अवलंबन लेकर किसी भी एक द्रव्य में उसके पर्यायों का भेद—पृथक्त्व विविध दृष्टियों से चिन्तन किया जाता है और श्रुतज्ञान को अवलंबित करके एक अर्थ पर, एक शब्द पर से दूसरे शब्द पर, अर्थ पर से शब्द पर, शब्द पर से अर्थ पर तथा एक योग पर से दूसरे योग पर संक्रम—संचार करना पड़ता है।

उक्त कथन के विपरीत जब कोई ध्यान करने वाला अपने में संभावित श्रुत के आधार पर किसी भी एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर एकत्व—अभेदप्रधान चिन्तन करता है और मन आदि तीन

एकत्ववितर्क-अविचार

योगों में से किसी भी एक ही योग पर अटल रह कर शब्द और अर्थ के चिन्तन एवं भिन्न-भिन्न योगों में संचार का परिवर्तन नहीं करता है तब वह ध्यान एकत्व-वितर्क-अविचार कहलाता है। कारण यह कि इसमें वितर्क—श्रुतज्ञान का अवलंबन होने पर भी एकत्व—अभेद का प्रधानतया चिन्तन रहता है और अर्थ, शब्द अथवा योगों का परिवर्तन नहीं होता।

उक्त दोनों में से पहले भेदप्रधान का अभ्यास दृढ़ हो जाने के बाद ही दूसरे अभेदप्रधान ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। जैसे समग्र शरीर में व्याप्त सर्पादि के जहर को मन्त्र आदि उपायों से सिर्फ डंक की जगह में लाकर स्थापित किया जाता है; वैसे ही सारे जगत में भिन्न-भिन्न विषयों में अस्थिररूप से भटकते हुए मन को ध्यान के द्वारा किसी भी एक विषय पर लगाकर स्थिर किया जाता है। स्थिरता के दृढ़ हो जाने पर जैसे बहुत से ईंधन के निकाल लेने और बचे हुए थोड़े से ईंधन के सुलगा देने से अथवा सभी ईंधन के हटा देने से अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही उपर्युक्त क्रम से एक विषय पर स्थिरता प्राप्त होते ही अन्त में मन भी सर्वथा शान्त हो जाता है। अर्थात् उसकी चंचलता हटकर वह निष्प्रकंप बन जाता है, और परिणाम यह होता है कि ज्ञान के सकल आवरणों के विलय हो जाने पर सर्वज्ञता प्रकट होती है।

जब सर्वज्ञ भगवान योगनिरोध के क्रम में अन्ततः सूक्ष्मशरीर योग

---

१. यह क्रम ऐसे माना जाता है—स्थूलकाय योग के आश्रय से वचन और मन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, उसके बाद वचन और मन के सूक्ष्म योग को अवलंबित करके शरीर का स्थूल योग सूक्ष्म बनाया जाता है। फिर शरीर के सूक्ष्म योग को अवलंबित करके वचन और मन के सूक्ष्म योग का निरोध किया जाता है, और अन्त में सूक्ष्मशरीर योग का भी निरोध किया जाता है।

का आश्रय लेकर दूसरे बाकी के योगों को रोक देते हैं तब वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। कारण यह कि उसमें श्वास-उच्छ्वास के समान सूक्ष्मक्रिया ही बाकी रह जाती है, और उसमें से पतन होना भी संभव नहीं है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान

जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकंप हो जाते हैं तब वह समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान कहलाता है। कारण यह कि इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी किस्म की भी मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया ही नहीं होती और वह स्थिति बाद में जाती भी नहीं। इस चतुर्थ ध्यान के प्रभाव से सर्व आस्रव और बन्ध का निरोध होकर शेष सर्वकर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। तीसरे और चौथे शुक्ल ध्यान में किसी किस्म के भी श्रुतज्ञान का आलंबन नहीं होता, अतः वे दोनों अनालंबन भी कहलाते हैं। ३९–४६।

समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान

सम्यग्दृष्टियों की कर्मनिर्जरा का तरतमभाव—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। ४७।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये दस अनुक्रम से असंख्येयगुण निर्जरा वाले होते हैं।

सर्व कर्मबन्धनों का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है, और उनका अंशतः क्षय निर्जरा है। इस प्रकार दोनों के लक्षणों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि निर्जरा मोक्ष का पूर्वगामी अङ्ग है। प्रस्तुत शास्त्र

में मोक्षतत्त्व का प्रतिपादन मुख्य होने से उसकी बिलकुल अङ्गभूत निर्जरा का विचार करना भी यहाँ उपयुक्त है। इस लिए यद्यपि संसारी सकल आत्माओं में कर्मनिर्जरा का क्रम चालू रहता है, तो भी यहाँ सिर्फ विशिष्ट आत्माओं की ही कर्मनिर्जरा के क्रम का विचार किया गया है। वे विशिष्ट आत्माएँ अर्थात् मोक्षाभिमुख आत्माएँ हैं। असली मोक्षाभिमुखता सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से ही शुरू हो जाती है और वह जिन—सर्वज्ञ अवस्था में पूर्ण हो जाती है। स्थूलदृष्टि की प्राप्ति से लेकर सर्वज्ञदशा तक मोक्षाभिमुखता के दस विभाग किये गए हैं; इनमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर विभाग में परिणाम की विशुद्धि सविशेष होती है। परिणाम की विशुद्धि जितनी ही अधिक होगी उतनी ही कर्मनिर्जरा भी विशेष होगी। अतः प्रथम-प्रथम की अवस्था में जितनी कर्मनिर्जरा होती है, उसकी अपेक्षा ऊपर-ऊपर की अवस्था में परिणाम विशुद्धि की विशेषता के कारण कर्मनिर्जरा भी असंख्यातगुनी बढ़ती ही जाती है, इस प्रकार बढ़ते बढ़ते अन्त में सर्वज्ञ-अवस्था में निर्जरा का प्रमाण सबसे अधिक हो जाता है। कर्मनिर्जरा के प्रस्तुत तरतमभाव में सबसे कम निर्जरा सम्यग्दृष्टि की और सबसे अधिक सर्वज्ञ की होती है। इन दस अवस्थाओं का स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है—

१. जिस अवस्था में मिथ्यात्व हट कर सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है—वह सम्यग्दृष्टि। २. जिसमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से अल्पांश में विरति—त्याग प्रकट होता है—वह श्रावक। ३. जिसमें प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से सर्वांश में विरति प्रकट होती है—वह विरत। ४. जिसमें अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है—वह अनन्तवियोजक। ५. जिसमें दर्शनमोह को क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है—वह दर्शनमोहक्षपक।

६. जिस अवस्था में मोह की शेष प्रकृतियों का उपशम चालू हो वह उपशमक है। ७. जिसमें उपशम पूर्ण हो चुका हो वह उपशान्तमोह है। ८. जिसमें मोह की शेष प्रकृतियों का क्षय चालू हो वह क्षपक है। ९. जिसमें क्षय पूर्ण सिद्ध हो चुका हो वह क्षीणमोह है। १०. जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो चुकी हो वह जिन है।

निर्ग्रन्थ के भेद–

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः। ४८।

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ हैं।

निर्ग्रन्थ शब्द का तात्त्विक—निश्चयनय सिद्ध अर्थ अलग है, और व्यावहारिक—सांप्रदायिक अर्थ अलग है। इन दोनों अर्थों के एकीकरण को ही यहाँ निर्ग्रन्थ सामान्य मानकर उसी के पाँच वर्ग करके पाँच भेद दरसाये गए हैं। निर्ग्रन्थ वह जिसमें रागद्वेष की गाँठ बिलकुल ही न रहे। यही निर्ग्रन्थ शब्द का तात्त्विक अर्थ है। और जो अपूर्ण होने पर भी उक्त तात्त्विक निर्ग्रन्थता का उम्मीदवार हो अर्थात् भविष्य में वैसी स्थिति प्राप्त करना चाहता हो वह व्यावहारिक निर्ग्रन्थ है। पाँच भेदों में से प्रथम तीन व्यावहारिक और बाकी दो तात्त्विक हैं। इन पाँच भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

१. मूलगुण तथा उत्तरगुण में परिपूर्णता प्राप्त न करते भी वीतराग प्रणीत आगम से कभी अस्थिर न होनेवाला पुलाक निर्ग्रन्थ है। २. जो शरीर और उपकरण के संस्कारों का अनुसरण करता हो, सिद्धि तथा कीर्ति चाहता हो, सुखशील हो, अविविक्त—ससंग परिवार वाला और छेद—चारित्र पर्याय की हानि तथा शबल अतिचार दोषों से युक्त हो वह बकुश है। ३. कुशील के दो भेदों में से जो इन्द्रियों का वशवर्ती

होने से किसी तरह की उत्तरगुणों की विराधना करने के साथ प्रवृत्ति करता हो वह प्रतिसेवना कुशील है और जो, तीव्र कषाय के कभी वश न होकर सिर्फ मन्द कषाय के कदाचित् वशीभूत हो जाय वह कषाय कुशील है। ४. जिसमें सर्वज्ञता न होने पर भी रागद्वेष का अत्यन्त अभाव हो और अन्तर्मुहूर्त जितने समय के बाद ही सर्वज्ञता प्रकट होनेवाली हो वह निर्ग्रन्थ है। ५. जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो चुकी हो वह स्नातक है।४८।

आठ बातों द्वारा निर्ग्रन्थों की विशेष विचारणा–

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४९ ॥

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपात और स्थान के भेद से ये निर्ग्रन्थ विचारने योग्य हैं।

पहले जिन पांच निर्ग्रन्थों का वर्णन किया गया है, उनका विशेष स्वरूप जानने के लिए यहाँ आठ बातों को लेकर हरएक का पांच निर्ग्रन्थों के साथ कितना-कितना संबंध है, यही विचार किया गया है; जैसे—

सामायिक आदि पांच संयमों में से सामायिक और छेदोपस्थापनीय—इन दो संयमों में पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये तीन

१. संयम निर्ग्रन्थ होते हैं; कषायकुशील उक्त दो और परिहार विशुद्धि तथा सूक्ष्म संपराय—इन चार संयमों में वर्तमान होता है। निर्ग्रन्थ और स्नातक ये दोनों एक मात्र यथाख्यात संयमवाले होते हैं।

पुलाक, बकुश, और प्रतिसेवनाकुशील इन तीनों का उत्कृष्ट श्रुतपूर्ण

२. श्रुत दशपूर्व और कषायकुशील एवं निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट श्रुत चतुर्दश पूर्व होता है; जघन्य श्रुत पुलाक का आचार वस्तु[1] और बकुश,

१. इस नाम का एक नौवें पूर्व में तीसरा प्रकरण है, वही यहाँ लेना चाहिए।

कुशील एवं निर्ग्रन्थ का अष्ट प्रवचन माता (पाँच समिति और तीन गुप्ति) प्रमाण होता है; स्नातक सर्वज्ञ होने से श्रुत रहित ही होता है।

पुलाक पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण इन छहों में से किसी भी व्रत का दूसरे के दबाव या बलात्कार के कारण खंडन करने वाला होता है। कितने ही आचार्य पुलाक को चतुर्थ व्रत का ही विराधक मानते हैं। बकुश दो प्रकार के होते हैं— उपकरणबकुश और शरीरबकुश। जो उपकरण में आसक्त होने के कारण नाना तरह के कीमती और अनेक विशेषता युक्त उपकरण चाहता है तथा संग्रह करता है और नित्य ही उनका संस्कार— सजावट करता रहता है वह उपकरणबकुश है। जो शरीर में आसक्त होने के कारण उसकी शोभा के निमित्त उसका संस्कार करता रहता है वह शरीरबकुश है। प्रतिसेवनाकुशील मूलगुणों की विराधना न करके उत्तरगुणों की कुछ विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इनके तो विराधना होती ही नहीं।

३. प्रतिसेवना (विराधना)

पाँचों निर्ग्रन्थ सभी तीर्थंकरों के शासन में होते हैं। किन्हीं का मानना है कि पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये तीन तीर्थ में नित्य होते हैं और बाकी के कषायकुशील आदि तीर्थ में भी होते हैं और अतीर्थ में भी।

४. तीर्थ (शासन)

लिङ्ग (चिह्न) द्रव्य और भाव ऐसे दो प्रकार का होता है। चारित्रगुण भावलिङ्ग है और विशिष्ट वेश आदि बाह्यस्वरूप द्रव्यलिङ्ग है। पाँचों निर्ग्रन्थों में भावलिङ्ग अवश्य होता है; परन्तु द्रव्यलिङ्ग तो सब में हो भी सकता है और नहीं भी।

५. लिङ्ग

पुलाक में पिछली तेजः, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील में छहों लेश्याएँ होती हैं। कषायकुशील

६. लेश्या

यदि परिहारविशुद्धि चारित्र वाला हो, तब तो तेजः आदि उक्त[1] तीन लेश्याएँ होती हैं और यदि सूक्ष्म संपराय चारित्र वाला हो तब एक शुक्ल ही होती है। निर्ग्रन्थ और स्नातक में एक शुक्ल ही होती है। पर स्नातक में जो अयोगी होता है वह अलेश्य ही होता है।

७. उपपात (उत्पत्तिस्थान)

पुलाक आदि चार निर्ग्रन्थों का जघन्य उपपात सौधर्मकल्प में पल्योपमपृथक्त्व[2] स्थिति वाले देवों में होता है; पुलाक का उत्कृष्ट उपपात सहस्रारकल्प में बीस सागरोपम की स्थिति में होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट उपपात आरण और अच्युत कल्प में बाईस सागरोपम की स्थिति में होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उपपात सर्वार्थसिद्धि विमान में तेतीस सागरोपम की स्थिति में होता है। स्नातक का तो निर्वाण है।

८. स्थान (संयम के स्थान—प्रकार)

कषाय का निग्रह तथा योग का निग्रह ही संयम है। संयम सभी का सर्वदा एक समान नहीं हो सकता, कषाय और योग के निग्रह विषयक तारतम्य के अनुसार ही संयम में भी तरतम-भाव होता है। कम से कम जो निग्रह संयमकोटि में गिना जाता है, वहाँ से लेकर संपूर्ण निग्रहरूप संयम तक निग्रह की तीव्रता, मन्दता की विविधता के कारण संयम के असंख्यातप्रकार होते हैं। वे सभी प्रकार (भेद) संयमस्थान कहलाते हैं। इनमें जहाँतक कषाय का लेशमात्र भी संबन्ध हो, वहाँ तक के संयमस्थान कषायनिमित्तक और उसके बाद के सिर्फ योगनिमित्तक समझने चाहिएँ। योग के सर्वथा निरोध हो जाने पर जो स्थिति प्राप्त होती है उसे अन्तिम संयमस्थान समझना चाहिए। जैसे जैसे पूर्व-पूर्ववर्ती संयमस्थान होगा, वैसे-वैसे

---

१. दिगंबर ग्रन्थ चार लेश्याओं का कथन करते हैं।

२. दिगंबर ग्रन्थ दो सागरोपम की स्थिति का उल्लेख करते हैं।

काषायिक परिणति विशेष और जैसे जैसे ऊपर का संयमस्थान होगा, वैसे वैसे काषायिक भाव भी कम होगा; इसीलिए ऊपर-ऊपर के संयमस्थानों का मतलब अधिक से अधिक विशुद्धि वाले स्थान समझना चाहिए। और सिर्फ योग निमित्तक संयमस्थानों में निष्कषायत्व रूप विशुद्धि समान होने पर भी जैसे-जैसे योगनिरोध न्यूनाधिक होता है, वैसे-वैसे स्थिरता भी न्यूनाधिक होती है; योगनिरोध की विविधता के कारण स्थिरता भी विविध प्रकार की होती है अर्थात् केवल योगनिमित्तक संयमस्थान भी असंख्यात प्रकार के बनते हैं। अन्तिम संयमस्थान जिसमें परम प्रकृष्ट विशुद्धि और परम प्रकृष्ट स्थिरता होती है—ऐसा तो एक ही हो सकता है।

उक्त प्रकार के संयमस्थानों में से सबसे जघन्यस्थान पुलाक और कषायकुशील के होते हैं। ये दोनों असंख्यात संयमस्थानों तक साथ ही बढ़ते जाते हैं, उसके बाद पुलाक रुक जाता है, परन्तु कषायकुशील अकेला ही उसके बाद भी असंख्यात स्थानों तक चढ़ता जाता है। तत्पश्चात् असंख्यात संयमस्थानों तक कषायकुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश एक साथ बढ़ते जाते हैं; उसके बाद बकुश रुक जाता है, उसके बाद असंख्यात स्थानों तक चढ़ करके प्रतिसेवनाकुशील भी रुक जाता है और तत्पश्चात् असंख्यात स्थानों तक चढ़ कर कषायकुशील रुक जाता है। तदनन्तर अकषाय अर्थात् केवल योगनिमित्तक संयमस्थान आते हैं, जिन्हें निर्ग्रन्थ प्राप्त करता है, वह भी उसी प्रकार असंख्यात स्थानों का सेवन करके रुक जाता है। सबके बाद एक ही अन्तिम सर्वोपरि, विशुद्ध और स्थिर संयम आता है, जिसका सेवन करके स्नातक निर्वाण प्राप्त करता है। उक्त स्थान असंख्यात होने पर भी उनमें से प्रत्येक में पूर्व की अपेक्षा बाद के स्थान की शुद्धि अनन्तानन्त गुनी मानी गई है। ४९।

दसवाँ अध्याय

नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा का निरूपण हो चुका अब अन्तिम मोक्षतत्त्व का निरूपण ही इस अध्याय में किया गया है।

केवल्य की उत्पत्ति के हेतु–

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । १ ।

मोह के क्षय से और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के क्षय से केवल प्रकट होता है।

मोक्ष प्राप्त होने से पहले केवल-उपयोग (सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व) की उत्पत्ति जैनशासन में अनिवार्य मानी गई है। इसीलिए मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते समय केवल-उपयोग किन कारणों से उद्भूत होता है, यह बात यहाँ पहले ही बतला दी गई है। प्रतिबन्धक कर्म के नाश हो जाने से सहज चेतना के निरावरण हो जाने के कारण केवल-उपयोग का आविर्भाव होता है। वे प्रतिबन्धक कर्म चार हैं, जिनमें से प्रथम मोह ही क्षीण होता है और तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त बाद ही बाकी के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन कर्मों का क्षय होता है। मोह सबसे अधिक बलवान है, अतः उसके नाश के बाद ही अन्य कर्मों का नाश शक्य होता है। केवल-उपयोग का मतलब है सामान्य और विशेष–दोनों प्रकार का संपूर्ण बोध। यही स्थिति सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व की है। १।

कर्म के आत्यन्तिक क्षय के कारण और मोक्ष का स्वरूप–

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् । २ ।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः । ३ ।

बन्धहेतुओं के अभाव और निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है।

संपूर्ण कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है।

एक बार बँधा हुआ कर्म कभी न कभी तो क्षय को प्राप्त होता ही है; पर वैसे कर्म का बँधन फिर संभव हो अथवा उस किस्म का कोई कर्म अभी शेष हो तो ऐसी स्थिति में कर्म का आत्यन्तिक क्षय हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आत्यन्तिक क्षय का अर्थ है पूर्वबद्ध कर्म का और नवीन कर्म के बाँधने की योग्यता का अभाव। मोक्ष की स्थिति कर्म के आत्यन्तिक क्षय के बिना कदापि संभव नहीं, इसीलिए ऐसे आत्यन्तिक क्षय के कारण यहाँ बतलाए हैं। वे दो हैं: बन्धहेतुओं का अभाव और निर्जरा। बन्धहेतुओं का अभाव हो जाने से नवीनकर्म बँधने से रुक जाते हैं, और पहले बँधे हुए कर्मों का निर्जरा से अभाव होता है। बन्धहेतु मिथ्यादर्शन आदि पाँच हैं, जिनका कथन पहले किया जा चुका है। उनका यथायोग्य संवर द्वारा अभाव हो सकता है और तप, ध्यान आदि द्वारा निर्जरा भी सिद्ध होती है।

मोहनीय आदि पूर्वोक्त चार कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से वीतरागत्व और सर्वज्ञत्व प्रकट होते हैं, ऐसा होने पर भी उस समय वेदनीय आदि चार कर्म बहुत ही विरल रूप में शेष रहते हैं, जिससे मोक्ष नहीं होता। इसीलिए तो इन शेष रहे हुए विरल कर्मों का क्षय भी आवश्यक है। जब यह क्षय होता है, तभी संपूर्ण कर्मों का अभाव होकर जन्म-मरण का चक्र बन्द पड़ जाता है। यही मोक्ष है। २, ३।

अन्य कारणों का कथन—

औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः। ४।

क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और सिद्धत्व के सिवाय औपशमिक आदि भावों तथा भव्यत्व के अभाव से मोक्ष प्रकट होता है।

पौद्गलिक कर्म के आत्यन्तिक नाश की तरह उस कर्म के साथ सापेक्ष ऐसे कितने ही भावों का नाश भी मोक्षप्राप्ति के पहले आवश्यक होता है। इसीसे यहाँ वैसे भावों के नाश का मोक्ष के कारण रूप से कथन है। ऐसे भाव मुख्य चार हैं: औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। औपशमिक आदि पहले तीन प्रकार के तो हरएक भाव सर्वथा नष्ट होते ही हैं, पर पारिणामिकभाव के बारे में यह एकान्त नहीं है। पारिणामिक भावों में से सिर्फ भव्यत्व का ही नाश होता है, दूसरों का नहीं। क्योंकि जीवत्व, अस्तित्व आदि दूसरे सभी पारिणामिक भाव मोक्ष अवस्था में भी रहते हैं। क्षायिकभाव कर्मसापेक्ष है सही, फिर भी उसका अभाव मोक्ष में नहीं होता। यही बतलाने के लिए सूत्र में क्षायिक सम्यक्त्व आदि भावों के अतिरिक्त दूसरे भावों के नाश को मोक्ष का कारणभूत कहा है। यद्यपि सूत्र में क्षायिकवीर्य, क्षायिकचारित्र और क्षायिकसुख आदि भावों का वर्जन क्षायिकसम्यक्त्व आदि की तरह नहीं किया, तो भी सिद्धत्व के अर्थ में इन सभी भावों का समावेश कर लेने के कारण इन भावों का वर्जन भी समझ लेना चाहिए। ४।

मुक्तजीव का मोक्ष के बाद ही तुरन्त होने वाला कार्य—

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात्। ५।

संपूर्ण कर्मों के क्षय होने के बाद तुरन्त ही मुक्तजीव लोक के अन्त तक ऊँचा जाता है। ५।

संपूर्ण कर्म और तदाश्रित औपशमिक आदि भावों का नाश होते ही तुरन्त एक साथ एक समय में तीन कार्य होते हैं: शरीर का वियोग, सिध्यमान गति और लोकान्त-प्राप्ति। ५।

सिध्यमान गति के हेतु–

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः । ६ ।

पूर्व प्रयोग से, संग के अभाव से, बन्धन टूटने से और वैसी गति के परिणाम से मुक्तजीव ऊँचा जाता है।

जीव कर्मों से छूटते ही फौरन गति करता है, स्थिर नहीं रहता। गति भी ऊँची और वह भी लोक के अन्त तक ही होती है, उसके आगे नहीं–ऐसी शास्त्रीय मान्यता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि कर्म या शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों की मदद के बिना अमूर्त जीव गति कैसे कर सकता है? और करता है तो ऊर्ध्वगति ही क्यों, अधोगति या तिरछी गति क्यों नहीं? इन प्रश्नों के उत्तर यहाँ दिये गए हैं।

जीवद्रव्य स्वभाव से ही पुद्गलद्रव्य की तरह गतिशील है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि पुद्गल स्वभाव से अधोगतिशील और जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगतिशील है। जब जीव गति न करे अथवा नीची या तिरछी दिशा में गति करे, तब ऐसा समझना चाहिए कि वह अन्य प्रतिबन्धक द्रव्य के संग के कारण या के बन्धन के कारण ही ऐसा होता है। ऐसा द्रव्य कर्म है। जब कर्मसंग छूटा और उसके बन्धन टूटे तब कोई प्रतिबन्धक तो रहता ही नहीं, अतः मुक्तजीव को अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करने का प्रसंग मिलता है। इस प्रसंग में पूर्वप्रयोग निमित्त बनता है अर्थात् उसीके निमित्त से मुक्तजीव ऊर्ध्वगति करता है। पूर्वप्रयोग का मतलब है पूर्वबद्ध कर्म के छूट जाने के बाद भी उससे प्राप्त वेग–आवेश। जैसे कुम्हार से डंडे द्वारा घूमा हुआ चाक डंडे और हाथ के हटा लेने के बाद भी पहले मिले हुए वेग के बल से वेगानुसार घूमता रहता है, वैसे ही कर्ममुक्त जीव भी पूर्व कर्म से प्राप्त आवेश के कारण अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति ही

करता है। इसकी ऊर्ध्वगति लोक के अन्त से आगे नहीं होती, इसका कारण यह है कि वहाँ धर्मास्तिकाय का अभाव ही है। प्रतिबन्धक कर्म-द्रव्य के हट जाने से जीव की उर्ध्वगति कैसे सुकर हो जाती है, इस बात को समझाने के लिए तुम्बे का और एरंड के बीज का उदाहरण दिया गया है। अनेक लेपों से युक्त तुंबा पानी में पड़ा रहता है, परन्तु लेपों के हटते ही वह स्वभाव से पानी के ऊपर तैर आता है। कोश-फली में रहा हुआ एरंड बीज फली के टूटते ही छटक कर उपर ऊठता है इसी तरह कर्म बन्धन के दूर होते ही जीव भी ऊर्ध्वगामी बनता है। ६।

बारह बातों द्वारा सिद्धों की विशेष विचारणा–

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः। ७।

क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या, अल्प–बहुत्व इन बारह बातों द्वारा सिद्ध जीवों का विचार करना चाहिए।

सिद्ध जीवों का स्वरूप विशेष रूप से जानने के लिए यहाँ बारह बातों का निर्देश किया गया है। इनमें से प्रत्येक बात के आधार पर सिद्धों के स्वरूप का विचार करना है। यद्यपि सिद्ध हुए सभी जीवों में गति, लिङ्ग आदि सांसारिक भावों के न रहने से कोई खास प्रकार का भेद नहीं रहता; फिर भी भूतकाल की दृष्टि से उनमें भी भेद की कल्पना और विचार कर सकते हैं। यहाँ क्षेत्र आदि जिन बारह बातों को लेकर विचारणा करनी है, उनमें से प्रत्येक के बारे में यथासंभव भूत और वर्तमान दृष्टि को लागू करके ही विचारणा करनी चाहिए। जो निम्न अनुसार है—

वर्तमान भाव की दृष्टि से सभी के सिद्ध होने का स्थान एक ही सिद्धक्षेत्र अर्थात् आत्मप्रदेश या आकाशप्रदेश है। भूत भाव की दृष्टि से इनके सिद्ध होने का स्थान एक नहीं है; क्योंकि जन्म दृष्टि से पंद्रह में से भिन्न भिन्न कर्मभूमियों में से कितनेक सिद्ध होते हैं और संहरण दृष्टि से समग्र मानुषक्षेत्र में से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

१. क्षेत्र-स्थान व जगह

वर्तमान दृष्टि से सिद्ध होने का कोई लौकिक कालचक्र नहीं, क्योंकि एक ही समय में सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से जन्म की अपेक्षा से अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी तथा अनवसर्पिणी, अनुत्सर्पिणी में जन्मे हुए सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार संहरण की अपेक्षा से उक्त सभी काल में सिद्ध होते हैं।

२. काल—अवसर्पिणी आदि लौकिक काल

वर्तमान दृष्टि से सिद्ध गति में ही सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से यदि अन्तिम भाव को लेकर विचार करें तो मनुष्यगति में से और अन्तिम से पहले के भाव को लेकर विचार करें, तब तो चारों गतियों में से सिद्ध हो सकते हैं।

३. गति

लिङ्ग वेद और चिह्न को कहते हैं। पहले अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अवेद ही सिद्ध होते हैं। भूतदृष्टि से स्त्री, पुरुष, नपुंसक इन तीनों वेदों में से सिद्ध बन सकते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अलिङ्ग ही सिद्ध होते हैं, भूतदृष्टि से यदि भावलिङ्ग अर्थात् आन्तरिक योग्यता को लेकर विचार करें तो स्वलिङ्ग—वीतरागता से ही सिद्ध होते हैं; और द्रव्यलिङ्ग को लेकर विचार करें तो स्वलिङ्ग—जैनलिङ्ग, परलिङ्ग—जैनेतर पन्थ का लिङ्ग और गृहस्थलिङ्ग इन तीनों लिङ्गों में सिद्ध हो सकते हैं।

४ लिङ्ग

कोई तीर्थंकर रूप में और कोई अतीर्थंकर रूप में सिद्ध होते हैं।

५. तीर्थ अतीर्थंकर में कोई तीर्थ चालू हो तब, और कोई तीर्थ चालू न हो तब भी सिद्ध होते हैं।

वर्तमान दृष्टि से सिद्ध होने वाले न तो चारित्री ही होते हैं और न अचारित्री। भूतदृष्टि से यदि अन्तिम समय को लें तब तो यथाख्यातचारित्री

६. चारित्र ही सिद्ध होते हैं; और उसके पहले समय को लें तो तीन चार तथा पाँच चारित्रों से सिद्ध होते हैं। सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ये तीन अथवा छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ये तीन; सामायिक, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ये चार; एवं सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ये पाँच चारित्र समझने चाहिए।

प्रत्येकबोधित और बुद्धबोधित दोनों सिद्ध होते हैं। जो किसी के उपदेश बिना अपनी ज्ञान-शक्ति से ही बोध पाकर सिद्ध होते हैं, ऐसे

७. प्रत्येकबुद्धबोधित अर्थात् प्रत्येकबोधित और बुद्धबोधित स्वयंबुद्ध दो प्रकार के हैं—एक तो अरिहंत और दूसरे अरिहंत से भिन्न, जो कि किसी एकाध बाह्य निमित्त से वैराग्य और ज्ञान पाकर सिद्ध होते हैं। ये दोनों प्रत्येकबोधित कहलाते हैं। जो दूसरे ज्ञानी से उपदेश पाकर सिद्ध बनते हैं वे बुद्धबोधित हैं। इनमें भी कोई तो दूसरे को बोध प्राप्त करानेवाले होते हैं और कोई सिर्फ आत्म-कल्याण साधक होते हैं।

वर्तमान दृष्टि से सिर्फ केवलज्ञान वाले ही सिद्ध होते हैं। भूतदृष्टि से दो, तीन, चार ज्ञानवाले भी सिद्ध होते हैं। दो अर्थात् मति और

८. ज्ञान — श्रुत; तीन अर्थात् मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, और मनःपर्याय; चार अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय।

९. अवगाहना–ऊँचाई — जघन्य अंगुलपृथक्त्वहीन सात हाथ और उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष के ऊपर धनुषपृथक्त्व जितनी अवगाहना में से सिद्ध हो सकते हैं, यह तो भूतदृष्टि से कहा है। वर्तमान दृष्टि से कहना हो तो जिस अवगाहना में से सिद्ध हुआ हो उसीकी दो तृतीयांश अवगाहना कहनी चाहिए।

१०. अन्तर-व्यवधान — किसी एक के सिद्ध बनने के बाद तुरन्त ही जब दूसरा सिद्ध होता है तो उसे निरन्तर सिद्ध कहते हैं। जघन्य दो समय और उत्कृष्ट आठ समय तक निरन्तर सिद्धि चालू रहती है। जब किसी की सिद्धि के बाद अमुक समय बीत जाने पर सिद्ध होता है, तब वह सान्तर सिद्ध कहलाता है। दोनों के बीच की सिद्धि का अन्तर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः मास का होता है।

११. संख्या — एक समय में जघन्य एक और उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध होते हैं।

१२ अल्पबहुत्व-न्यूनाधिकता — क्षेत्र आदि जिन ग्यारह बातों को लेकर विचार किया गया है, उनमें से हरएक के बारे में संभाव्य भेदों की परस्पर में न्यूनाधिकता का विचार करना यही अल्पबहुत्व विचारणा है। जैसे—क्षेत्रसिद्ध में संहरण सिद्ध की अपेक्षा जन्मसिद्ध संख्यात गुणाधिक होते हैं। एवं ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे थोड़े होते हैं, अधोलोक सिद्ध उनसे संख्यातगुणाधिक और तिर्यग्लोक सिद्ध

उनसे भी संख्यात गुणाधिक होते हैं। समुद्रसिद्ध सबसे थोड़े होते हैं और द्वीपसिद्ध उनसे संख्यात गुणाधिक होते हैं। इसी तरह काल आदि प्रत्येक बात को लेकर भी अल्पबहुत्व का विचार किया गया है, जो कि विशेष जिज्ञासुओं को मूल ग्रन्थों में से जान लेना चाहिए। ७।

हिन्दी विवेचन सहित

तत्त्वार्थ सूत्र

समाप्त
